...रा समाज

विश्वेश्वरानन्द संस्थान-प्रकाशन—१४८

सर्वदानन्द-विश्व-ग्रन्थमाला

SARVADANAND UNIVERSAL SERIES

स्वर्गत
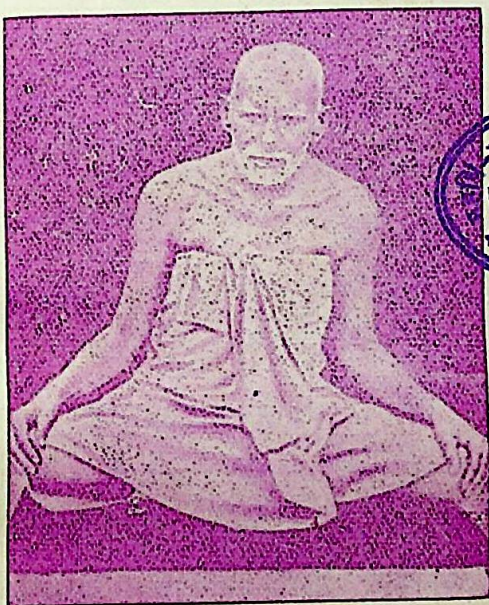
श्रीमान् स्वामी सर्वदानन्द

Shri Swami Sarvadanand

सं. १९१६–९९ (1859-1942)

ग्रन्थ—२२

Volume—XXII

ग्रन्थमाला-स्मारक-समर्पण-सङ्कल्पः

★ पञ्चापे लब्धजन्माऽऽसीद् होश्यारपुर-पार्श्वतः ।
महात्मा सर्वदानन्दस्तु सिद्ध-तपा यतीश्वरः ॥ १ ॥

★ वेद–वेदाङ्ग–सच्छ्रद्धो वेदान्त-शान्त-मानसः ।
सत्यधर्म–प्रचारात्म–लोकसेवा–दृढव्रतः ॥ २ ॥

★ सत्प्रेरणाभिराशीभिर् यः खलु मुनि-सत्तमः ।
अस्माकं सर्वदा मान्यः संस्थानस्याऽस्य पोषकः ॥ ३ ॥

★ तस्याऽस्तु सुचिर-स्मृत्यै पूजायै च मनस्विनः ।
सद्ग्रन्थ–विश्व–मालेयं श्रद्धया परयाऽर्पिता ।
इति निवेदयेते तत्–सम्पादक–प्रकाशकौ ॥ ४ ॥

सम्पादक :—

विश्वबन्धुः शास्त्री, ऍम ए., ऍम. ओ. ऍल.

प्रकाशक :—

विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान
होशियारपुर (भारत)
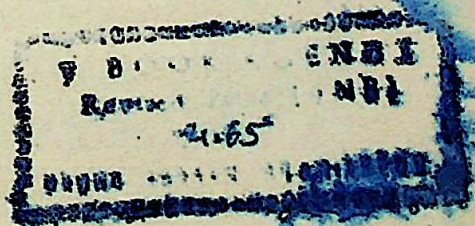
समर्पण

अपने युग के सब से पहले और सब से बड़े

जात-पाँत-तोड़क

महात्मा मुन्शीराम जी—स्वामी श्रद्धानंद जी—

की सेवा में

सन्तराम

म. मुंशीराम

(अमर हुतात्मा स्वा. श्रद्धानन्द)

स. वि. ग्रन्थमाला—२२ S. U. Series—22

हमारा समाज

लेखक

सन्त राम, बी. ए.

होशियारपुर

विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-संस्थान

१९५७

हमारा समाज

मैंने यह पुस्तक क्यों लिखी

किसी राष्ट्र की सच्ची शक्ति उतनी उसकी विपुल वाहिनियों, विध्वंस-कारिणी मशीनगनों, और बम्ब बरसाने वाले लड़ाकू हवाईजहाज़ों में नहीं जितनी कि उसके भीतरी सामाजिक संगठन में रहती है। जो राष्ट्र भीतर से थोथा और फटा हुआ है, जिस की जनता एकता के सूत्र में बँधी हुई नहीं है, उस की रक्षा टैंक और मशीनगनें तो क्या परमाणु बम्ब भी नहीं कर सकते। ऐसा राष्ट्र तब तक ही सुरक्षित रहता है जब तक कोई दूसरा प्रबल राष्ट्र उस पर आक्रमण नहीं करता। बाहर से प्रबल आक्रमण होते ही वह राष्ट्र अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है। हिन्दू-समाज में जन्म-मूलक ऊँच-नीच की दरारें पड़ी हुई थीं, इसकी एकता का सूत्र भङ्ग हो चुका था, इसलिए जब उत्तर-पश्चिम से मुट्ठी भर उजड्ड, असभ्य और अशिक्षित मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया तो न हमारे रण-बाँकुरे राजपूतों का शौर्य, न वेदज्ञ ब्राह्मणों का पाण्डित्य और न व्यापार-कुशल वैश्यों की अमित धनराशि ही भारत की रक्षा कर सकी। ग़ज़नी के महमूद ने एक बार नहीं, सत्रह बार इस देश पर आक्रमण किया; पर हिन्दू-राष्ट्र उस का मुँह मोड़ने में एक बार भी समर्थ न हो सका। उस समय हिन्दुओं के पास गोला-बारूद, तोप-तलवार और धन-जन की कोई कमी न थी। इसलिए मानना पड़ता है कि यदि किसी राष्ट्र में बंधुता एवं एकता का अभाव हो, तो उस की जन-संख्या बहुत अधिक होने पर भी वह दुर्बल ही रहता है।

पुराने और लम्बे रोगी को प्रकृति माता स्वस्थ एवं नीरोग होने के अवसर बार बार दिया करती है। उस अवसर से लाभ उठाकर यदि वह रोगी अपने अपथ्य को छोड़ दे तो वह चंगा हो जाता है। उसका वह रोग उसके शरीर की सफ़ाई का काम देता है। पर यदि वह लंबे रोग द्वारा शारीरिक सफ़ाई के बाद भी अपथ्य जारी रखता है तो वह बार बार रुग्ण हो कर अन्त में मृत्यु का ग्रास बन जाता है।

दीर्घकालीन दासता के पश्चात् जैसे अब भारत को स्वतंत्रता मिली है,

वैसे ही अवसर इसे पहले भी कई बार मिलते रहे हैं। सर विलियम हण्टर लिखते हैं कि अँगरेज़ों ने भारत का राज्य मुसलमानों से नहीं, वरन् दो हिन्दू संघों से लिया था। इन में से पंजाब सिखों के पास था और दिल्ली मरहठों के पास। नियति ने सिख-काल में, शिवा जी के समय में और सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-युद्ध में भारत को स्वतंत्र होने के अवसर दिए थे। पर अपनी सदोष समाज-रचना के कारण हम उन सुयोगों से लाभ उठाने में असमर्थ रहे। फलतः हाथ में आई हुई स्वतन्त्रता हाथ से निकल गई। आज की स्वतंत्रता भी उतनी हमारे अपने पुरुषार्थ एवं बलिदानों का फल नहीं, जितना कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का। यह स्वतंत्रता हमें ही नहीं, पाकिस्तान, लंका और ब्रह्मा आदि और भी कई देशों को मिली है। यदि हम ने अपनी समाज-व्यवस्था का सुधार न किया तो यह स्वतंत्रता हमारे निकट बैठी न रहेगी। हमें देखना चाहिए कि पहले भी हम कभी स्वतंत्र थे; हमारी वह स्वतंत्रता जिन कारणों से नष्ट हुई थी क्या वे कारण अब दूर हो चुके हैं? यदि वे कारण पूर्ववत् वर्तमान हैं तो चिरकाल तक हमारे स्वतंत्र बने रहने की आशा कैसे की जा सकती है? रोग का निदान जब तक ठीक न हो तब तक उसका ठीक उपचार भी नहीं हो सकता। जोश के साथ होश का होना भी आवश्यक है। महात्मा टालस्टाय ने ठीक ही कहा है कि हम कितना मार्ग चल चुके हैं, यह बात उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी कि यह बात कि हम किस दिशा में चल रहे हैं। कराची की ओर मुँह किए सौ मील प्रति दिन चल कर भी आप कलकत्ता नहीं पहुँच सकते। पर कलकत्ते के मार्ग पर दस मील प्रति दिन चल कर भी आप एक दिन अवश्य गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाएँगे।

अब तक भारत के रोग का ग़लत उपचार होता रहा है। भीतर के सामाजिक दोषों को दूर कर के सब देशवासियों को बंधुता और एकता के सूत्र में पिरोने पर ध्यान ही नहीं दिया गया। देश की रक्षा के लिए सारा बल शस्त्रास्त्र को बढ़ाने और क्षत्रियों को उकसाने पर ही लगता रहा है। इस ग़लत उपचार का परिणाम यह हुआ है कि गत १२०० वर्षों से, जब से सातवीं शताब्दी में मुहम्मद बिन क़ासिम ने सिंध पर आक्रमण किया आज

तक, हमारा पग पीछे और पीछे ही हटता आ रहा है। नवीं शताब्दी में काबुल में पाल वंश के हिन्दू राजे राज्य करते थे। पर आज अमृतसर के आगे भी हिन्दू का बच्चा देख नहीं पड़ता। यह पश्चाद्गति है या प्रगति ? इसका कारण क्या है ? कोई मनुष्य या तो नीरोग होता है या रुग्ण। यह नहीं हो सकता कि वह एक तिहाई नीरोग हो और दो तिहाई रोगी। इसी प्रकार राष्ट्र भी या तो सारे का सारा स्वतंत्र होगा या सारे का सारा परतन्त्र। यह नहीं हो सकता कि उसके कुछ लोग तो स्वतंत्र रहें और शेष सब परतंत्र। यदि शूद्र गुलाम और परतंत्र होगा तो द्विज भी स्वामी और स्वाधीन न रह सकेगा।

समाज-शास्त्र का एक नियम है कि जब दो मनुष्य आपस में खान-पान और ब्याह-शादी करने से इंकार करते हैं तो उनमें एक दूसरे को ऊँचा-नीचा समझने का भाव उत्पन्न हो जाता है। इस कुत्सित भाव के जाग्रत होते ही उनकी बंधुता और एकता नष्ट होकर फूट का प्रादुर्भाव हो जाता है। हिन्दुओं का जातिभेद हिन्दुओं और अहिन्दुओं के बीच ही नही, वरन् हिन्दुओं की अपनी असंख्य छोटी छोटी जातियों और उपजातियों के बीच भी रोटी-बेटी व्यवहार नहीं होने देता। इस से उन में बंधुभाव का अभाव है। बनिया, बनिए को और जाट जाट को ही अपना भाई समझता और चुनाव में वोट देता है। जातिभेद के कारण इन सब जातियों और उपजातियों के राज-नीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वार्थों का साझा नहीं रहा। जो बात ब्राह्मण के लिए हितकर है वही कहार के लिए अहितकर है। इससे सब भारतीय एक राष्ट्र न रहकर नाना राष्ट्र बन रहे हैं।

फूट और उपद्रव का कारण उतना धर्म या संप्रदाय नहीं जितना कि जातिभेद है। सिख ब्राह्मण, पौराणिक ब्राह्मण, आर्यसमाजी ब्राह्मण और देवसमाजी ब्राह्मण विविध धर्म-विश्वास रखते हुए भी एक दूसरे को आत्मीय समझते हैं, क्योंकि उनका परस्पर बेटी-व्यवहार होता है। इसके विपरीत एक नाई आर्यसमाजी और दूसरा बनिया आर्यसमाजी धर्म-विश्वास से एक होते हुए भी आपस में बन्धुभाव का अनुभव नहीं करते, क्योंकि जातिभेद के कारण उनका आपस में बेटी-व्यवहार नहीं। यदि जाति-भेद का पचड़ा न

हो तो घर में क़ुरान और मुहम्मद का मानने वाला भी उसी प्रकार मुहम्मदी हिन्दू रह सके जैसे मूर्तिपूजक, निराकारवादी, शैव और शाक्त आदि सब हिन्दू हैं। देखिए, अकबर से लेकर औरङ्गजेब वरन् बहादुरशाह तक किसी भी मुग़ल सम्राट् का ख़तना नहीं हुआ था। फिर भी वे मुसलमान कहलाते थे। मुग़ल वंश में यह अन्ध विश्वास फैल रहा था कि ख़तना कराने से उनका राज्य नष्ट हो जाएगा; हमायूं का खतना हुआ था, इसलिए उसे मारा-मारा फिरना पड़ा। मुग़ल-वंश में सब से पहले बहादुर शाह के बड़े बेटे फ़ख़रुद्दीन का खतना हुआ था। इसके झट ही बाद सन् १८५७ के विद्रोह में बहादुरशाह पकड़ा जाकर रंगून भेज दिया गया। इसी प्रकार शोलापुर की साली, लिङ्गायत और विष्णोई आदि अनेक जातियाँ अपने शव जलाती नहीं, गाड़ती हैं। फिर भी वे हिन्दू हैं। भारत की राष्ट्रीय एकता में उतनी हिन्दू सभा और मुसलिम लीग जैसी सम्प्रदायिक संस्थाएँ बाधक नहीं, जितनी कि ब्राह्मण सभा, जाट सभा, और अग्रवाल सभा जैसी जाति-बिरादरी की सभाएँ बाधक हैं।

राजनीतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता इसलिए होती है कि मनुष्य को सामाजिक स्वतन्त्रता हो; मनुष्य, दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक न हो कर, स्वेच्छानुसार खा-पी सके, पहन-ओढ़ सके, चल-फिर सके, मिल-जुल और ब्याह-शादी कर सके। यदि सामाजिक स्वतन्त्रता नहीं, तो राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। सामाजिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए ही सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं की आवश्यकता होती है। इस लिए सामाजिक समता और सामाजिक स्वतन्त्रता ही हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। राजनीतिक स्वतन्त्रता तो उनमें सहायक होने से ही वाञ्छनीय है।

हमारे नेता भारत को एक ऐसा देश देखना चाहते हैं जिस में सब धर्मों और मतों के लोग प्रेम-पूर्वक रह सकें; जहाँ धर्म एक व्यक्तिगत विश्वास हो, समाज और राष्ट्र के साथ इसका कोई संबंध न हो; जहाँ धर्मान्तर के साथ मनुष्य को समाजान्तर न करना पड़े। उन की यह कामना बड़ी शुभ है। इस के बिना सब भारतवासी एक सुदृढ़ राष्ट्र का रूप धारण नहीं कर सकते। पर जातिभेद की वर्तमानता में उनकी यह कामना कभी पूरी नहीं हो

सकती। ऊँच-नीच-मूलक जातिभेद जब हिन्दुओं की विभिन्न जातियों और उपजातियों को ही मिलकर एक सुदृढ़ राष्ट्र नहीं बनने देता, तो मुसलमानों, ईसाइयों, यहूदियों और पारसियों को सामाजिक रूप से पचाकर एक राष्ट्र बनाना कैसे संभव हो सकता है?

संसार में ऐसे देश हैं जहाँ विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं, ऐसे देश हैं जहाँ विभिन्न धर्मों के अनुयायी बसते हैं, ऐसे देश हैं जहाँ के अधिवासी अशिक्षित हैं और फिर भी वे देश स्वतन्त्र हैं। पर आपको समस्त भूमण्डल में एक भी देश ऐसा न मिलेगा जहाँ के अधिवासी एक दूसरे को जन्म के कारण ऊँच-नीच समझ कर आपस में खान-पान और व्याह-शादी करने से इंकार करते हों और फिर भी वह देश स्वतंन्त्र हो। प्रकृति भारत-वासियों के लिए अपने अटल नियम को बदल नहीं लेगी।

जैसा राजा वैसी प्रजा, यह एक पुरानी कहावत है। स्वेच्छाचारी राजाओं की अवस्था में यह बात ठीक भी थी। यदि संयोग से कोई राजा अच्छा निकला तो वह अपनी प्रजा को भी अच्छा बना देता था, और यदि दुर्भाग्य से किसी राजा के घर में किसी दुष्ट पुत्र का जन्म हो गया तो वह राज-सिंहासन पर बैठकर अपनी प्रजा को भी दुष्ट और लंपट बना देता था। पर अब प्रायः समस्त संसार में कहीं भी स्वेच्छाचारी राजा नहीं। पहले तो किसी को राजा बनाने की प्रथा ही उठ गई है, दूसरे यदि कहीं कोई राजा है भी तो वह केवल वैधानिक राजा है, स्वेच्छाचारी शासक नहीं। अब लोकतंत्र का युग है। भारत में भी लोकराज की स्थापना हुई है। लोकराज में "जैसा राजा वैसी प्रजा" की कहावत का उलटा होता है। इस में 'जैसी सरकार वैसी जनता' नहीं; वरन् 'जैसी जनता वैसी सरकार' होती है। यदि किसी देश की जनता सदाचारी, न्यायप्रिय, ईमानदार और समता एवं बंधुभाव-संपन्न है तो वहाँ की सरकार भी वैसी ही होगी। इस के विपरीत यदि वहाँ की जनता दुराचारी, अन्यायी जन्म से ऊँच-नीच मानने वाली, मूढ़ विश्वासी, शुभाशुभ शकुन माननेवाली है तो वहाँ की सरकार में भी ये दुर्गुण अवश्य रहेंगे। कारण यह कि प्रजातंत्र-शासन-पद्धति में

प्रजा ही अपने प्रतिनिधि चुनकर धारा-सभाओं और विधान-परिषदों में भेजती है। वह स्वभावतः उन्हीं व्यक्तियों को प्रतिनिधि चुनती है जो उनमें लोकप्रिय होते हैं। और कोई सदाचारी, न्यायप्रिय, घूँस न खाने वाला, और जन्ममूलक ऊँच-नीच को न मानने वाला मनुष्य घूँस खाने वालों और जात-पाँत को मानने वालों में लोकप्रिय नहीं हो सकता। गंदी और दुर्गुणी जनता के प्रतिनिधि भी गन्दे और दुर्गुणी होते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि प्रजा को वैसी ही सरकार मिलती है जैसी सरकार की वह प्रजा पात्र होती है। यदि प्रजा निकृष्ट कोटि की होगी तो बहुत निकृष्ट कोटि के लोग ही न्यायान्याय और सत्यासत्य का विचार छोड़कर उसे प्रसन्न कर सकेंगे और वही उनके वोट प्राप्त करके प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति बनेंगे। ऐसा मंत्रि-मण्डल जनता में अप्रिय होने और राजसत्ता खो बैठने के भय से जनता को सुधारने या उसके चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए कभी कोई कार्य नहीं कर सकेगा। इस लिए सरकार के द्वारा जनता के सुधार की आशा छोड़कर जनता का सुधार करके देश में अच्छी सरकार प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न होना चाहिए। जब जनता के विचार उत्तम होंगे तो उनकी सरकार भी उत्तम ही होगी।

संसार में विचार एक महती शक्ति है। इसके सामने परमाणु शक्ति कुछ चीज़ नहीं। आप एक विशेष प्रकार के विचारों का प्रचार कर दीजिए। लोग आपस में लड़ने-भिड़ने लगेंगे, रक्त की नदियाँ बह निकलेंगी, नगर उजड़ जाँयगे, व्यभिचार फैल जायगा, रणचण्डी अट्टहास करने लगेगी। इस के विपरीत दूसरे प्रकार की विचार-धारा प्रचलित कर दीजिए। संसार सुख-शान्ति की पुनीत सुरसरी में स्नान करने लगेगा, लोग देश और जाति को भूलकर भाई-भाई की तरह गले मिलने लगेंगे। इस समय संसार के दूसरे राष्ट्र जहाँ शस्त्रास्त्र की सहायता से विजय प्राप्त करने का यत्न करते हैं, वहाँ रूस विना युद्ध किए, केवल विशेष प्रकार के विचार फैलाकर विजय प्राप्त कर रहा है। उसने चीन में अपने विचार फैलाकर बहुत से चीनियों को कम्यूनिस्ट बना दिया है। वे कम्यूनिस्ट अब आप ही अपने दूसरे देश-बंधुओं के साथ लड़-भिड़ कर रूस के पक्ष में कार्य कर रहे हैं। यही दशा मलाया,

ब्रह्मा, यूनान और जर्मनी प्रभृति कई दूसरे देशों की है। भारत में भी रूसी विचारों द्वारा प्रभावित कम्यूनिस्ट यत्र तत्र उपद्रव मचाने से नहीं चूकते।

भारत में जितना बड़ा राज्य महाराजा अशोक का हुआ है, उतना बड़ा ब्रिटिश भारत भी नहीं था। वह अराकान से लेकर हिन्दूकुश पर्वत तक फैला हुआ था। अशोक ने इतना बड़ा प्रदेश शस्त्रास्त्र के बल से नहीं, वरन् धर्म के बल से जीता था। उस ने प्रचार द्वारा जनता के विचार बदल दिये थे। अपनी धर्मविजय के लिए उस ने अपने सारे साम्राज्य में पाषाण-स्तम्भ गड़वाकर उन पर सदाचार और नीति की बातें खुदवाई थीं। उसके प्रचार का प्रभाव यह था कि यद्यपि उस समय भी आज ही के सदृश भारत की सीमाएँ खुली पड़ी थीं, तो भी किसी विदेशी शत्रु को इस देश पर आक्रमण करने का साहस नहीं होता था। अशोक के धर्मोपदेश से जाति-भेद दब गया था और समूचे राष्ट्र में बंधुता और एकता का स्वर्गीय भाव जाग उठा था। इस से राष्ट्र इतना सुदृढ और सबल बन गया था कि किसी को उसकी ओर आँख उठा कर देखने का भी साहस न होता था। यह स्वर्णिम काल इस देश में कोई बारह सौ वर्ष तक रहा।

कहने का तात्पर्य यह कि विचार संसार को पलट सकता है। इसलिए यदि हम भारत को सुख-समृद्धिशाली देखना चाहते हैं तो हमें यहाँ की प्रजा के विचारों को बदल कर उनका सुधार करना आवश्यक है। कोई सरकार डण्डे के बल से यह कार्य नहीं कर सकती। यह काम प्रचार द्वारा ही संभव हो सकता है। और पुस्तकें प्रचार का एक बहुत उत्तम साधन हैं।

किसी देश में लोकतन्त्र शासन-पद्धति को सफल बनाने के लिए पहले वहाँ के अधिवासियों को लोकतन्त्री बनाना आवश्यक होता है। लोकतन्त्री समाज के लिए ही लोकतन्त्र राज्य उपयुक्त होता है। जाति-भेद लोकतन्त्र का बिलकुल उलट है। लोकतन्त्र जन्म से सब को बराबर मानता है। पर जातिभेद जन्म से ही किसी को ऊँचा और किसी को नीचा समझता है। ऐसी दशा में लोकतन्त्र और जाति-भेद दोनों इकट्ठे नहीं रह सकते। इसलिए भारत में सच्चा लोकराज प्रतिष्ठित करने के लिए शिक्षा द्वारा जनता के जाति-भेद

सम्बन्धी भ्रान्त विचारों को बदलना आवश्यक है। यदि जनता को पेट भरने के लिए अन्न और तन ढकने के लिए वस्त्र देकर ही उपकृत करने का यत्न किया जाएगा, तो इसका परिणाम कोई अच्छा नहीं होगा। इस से वह पालतू गाय के सदृश हो जाएगी। उसे जो भी शासक अच्छा खाने-पहनने को देगा वह उसी को दूध देने और उसी के अधीन होकर रहने लगेगी। उसमें अपना शासक आप होने का, प्रजा से राजा होने का पुनीत भाव जागृत न होगा। वह सदा परमुखापेक्षी और परान्नजीवी ही बनी रहेगी। ग़ज़नी के महमूद या अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर इस कारण विजय नहीं पाई थी कि हम उस समय भूखे-नंगे थे, वरन् हम इस लिए हारे थे कि हम में एक दूसरी बहुत बड़ी चीज़ का अभाव था, और वह चीज़ थी बंधुता और समता से उत्पन्न होने वाली एकता। इसी एकता का अभाव इस समय भी हमारे दुःखों का मूलकारण बन रहा है, और जातिभेद को बनाए रख कर हम यह राष्ट्रीय एकता कदापि उत्पन्न नहीं कर सकते।

जातिभेद से होनेवाली सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हानियों को अनुभव करके १० मार्गशीर्ष संवत् १९७९ विक्रमी अर्थात्—नवम्बर सन् १९२२ ई. को, कुछ मित्रों के सहयोग से, मैंने लाहौर में जातपाँत तोड़क मण्डल नाम की एक संस्था स्थापित की थी। तब से मैं मण्डल के मन्त्री, प्रधान और संस्था की मुख पत्रिकाओं 'क्रान्ति' और 'युगान्तर' के सम्पादक के रूप में देश में से जातिभेद को मिटा कर समता, बंधुता और स्वतन्त्रता का प्रचार करता रहा हूँ। मेरे जीवन का सर्वोत्तम भाग इसी कार्य में व्यतीत हुआ है। इस पुस्तक के लिखने में भी मेरा उद्देश्य भारत में एक ऐसी विचार-धारा प्रचलित करना है जो सब देश वासियों को एकता और बंधुता के सुदृढ़ सूत्र में संगठित करके एक शक्तिशाली एवं दुर्भेद्य राष्ट्र का रूप दे सके।

हिन्दुओं के धर्म में कोई दोष नहीं। इनका उच्च तत्वज्ञान, इनका उत्कृष्ट ब्रह्मवाद और इनकी शान्तिदायिनी संस्कृति आज भी संसार के बड़े से बड़े दार्शनिक को आकर्षित करती है। दोष है हमारी समाज-रचना में। हमारी जात-पाँत एक भारी दुर्गुण है, जो हम में अनेक दूसरे सद्गुणों के रहते भी हमें दिन पर दिन नीचे लिए जा रहा है। इस के विपरीत मुस्लिम प्रभृति दूसरे

समाजों में समता और बंधुता का एक ऐसा बहुमूल्य सद्गुण है जो उन में अगणित दुर्गुण रहते भी उनको बराबर उबार रहा है। हमारे इस दोष के दूर होते ही हम उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगेंगे, ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

जातिभेद को हिन्दुओं की एक सामाजिक बुराई समझकर सरकार का इस की उपेक्षा करना भारी भूल होगा। यह किसी एक जाति या संप्रदाय का रोग नहीं। यह तो समूचे राष्ट्र की भीषण व्याधि है। जिस बात का प्रभाव सारे राष्ट्र पर पड़े वह राष्ट्रीय कहलायगी, न कि किसी संप्रदाय की। बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, सती, स्त्री-शिक्षा का विरोध इत्यादि बुराइयाँ ऐसी हैं जिन का प्रभाव विशेष व्यक्तियों या जन-समूहों तक ही सीमित रहता है। इसलिए वे किसी समाज विशेष की बुराइयाँ समझी जा सकती हैं। पर जिस व्याधि ने समूचे राष्ट्र का विध्वंस कर डाला हो, जिसने उसे स्वतन्त्र से परतन्त्र बना दिया हो, जिसने भाई को भाई से अलग कर दिया हो, और अन्ततः जिस ने देश के बँटवारे तक की नौबत ला दी हो, यदि वह राष्ट्रीय व्याधि नहीं तो मालूम नहीं राष्ट्रीय किसे कहा जाएगा?

हमारे पवित्र धर्म ग्रन्थ वेद का उपदेश है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। ऋ० १०-१९१-२

समानी प्रपा सह वोन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि॥

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ अ० ३-३०-६

अर्थात्—हे मनुष्यो, मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम सब का मन एक हो, तुम्हारा खान-पान इकट्ठा हो, मैं तुम को एकता के सूत्र में बाँधता हूँ। जिस प्रकार रथ की नाभि में आरे जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार एक परमेश्वर की पूजा में तुम सब इकट्ठे मिले रहो।

पर बन्धुता और एकता तब तक संभव नहीं होती जबतक कि सामाजिक समता न हो। समता ही वह पुनीत सद्गुण है जो देशवासियों में बन्धुभाव उत्पन्न कर सकता है। जिस राष्ट्र में बन्धुभाव है वहाँ अक्षय सुख-समृद्धि निवास करती है। जिन लोगों का आपस में प्रेम है उन्हें कोई भी दूसरा राष्ट्र अपना दास नहीं बना सकता। वहाँ धन-जन-बल की सदा वृद्धि होती है।

उड़िया कवि मधुसूदन राव ने भारत माता के अतीत गौरव और वैभव का स्मरण कराते हुए कहा है—

एही की से पुण्य भूमि भुवन-विदिता,
सुविस्तीर्ण रंगभूमि आर्य गौरवर ?
एही की से भारत, यार महिमा-संगीत,
गम्भीर झंकारे पूर्ण दिग्दिगन्तर ?
एही की से सुमनोग्ग आशा-सरोवर,
यार ज्ञानामृत पाने कृतार्थ धरणी ?
यार तेजे विभूषित देश-देशान्तर ?
एही की से वसुधार समुज्ज्वल मणि ?
एही की से अमृतमयी मृत्युंजय सन्तान-जननी ?

भावार्थ—क्या यह वही भुवन-विदिता पुण्य भूमि है ? क्या यह वही आर्य-गौरव की सुविस्तीर्ण रंगभूमि है ? क्या यह वही भारत है जिस के महिमा-संगीत की गम्भीर झंकार से दिग्दिगन्त परिपूर्ण था ? क्या यह वही सुमनोज्ञ आशा-सरोवर है, जिसका ज्ञानामृत पीकर धरणी कृतार्थ हुई थी ? जिसके तेज से देश-देशान्तर विभूषित था ? क्या यह वही वसुधा की समुज्जवल मणि है ? क्या यह वही मृत्युंजय सन्तान की अमृतमयी जननी है ?

जगदीश्वर कृपा करें कि हम भारत-सन्तान एकबार फिर कवि के प्रश्न के उत्तर में निःसंकोच भाव से कह सकें—हाँ, यह वही महिमामयी भारत माता है।

अन्त में प्रभु से प्रार्थना है कि मेरा संदेश इस पुस्तक के द्वारा भारत के घर-घर में पहुँचकर देश-बन्धुओं के हृदय में स्थान पावे।

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु, पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः,
अधनाः सधनाः सन्तु, जीवन्तु शरदः शतम्।

जिनको पुत्र नहीं वे पुत्रवान् हों, जो पुत्रवान् हैं उनको पौत्र हों। जो निर्धन हैं उनको धन की प्राप्ति हो। सब लोग सौ वर्ष की पूर्ण आयु पाएँ। देश सुख-समृद्धिशाली हो। सर्वत्र प्रेम और शांति का ही राज्य हो!

होशियारपुर
संवत् २००५ विक्रमी
दीपावली

सन्त राम

दूसरा संस्करण

देश के चोटी के विद्वानों, विचारकों, लोक-सेवकों और नेताओं ने मेरी इस पुस्तक को पसन्द किया है और इसे समाज के लिए परम उपयोगी बताते हुए मुक्त-कण्ठ से इसकी सराहना की है। पुस्तक के आवरण पत्र पर छपी कुछ सम्मतियाँ इसका प्रमाण हैं। इससे मुझे प्रसन्नता होना स्वाभाविक है।

यह दूसरा संस्करण पहले संस्करण का संशोधित रूप है। पहले संस्करण में से कुछ फालतू चीजें निकाल कर उनके स्थान में अनेक नई बातें डाल दी गई हैं। इस बढ़ाई हुई नवीन जानकारी से पुस्तक अद्यतन हो गई है।

मद्रास विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री स० शंकर राजू नायडू ने तामिल भाषा में, आन्ध्र प्रदेश के एडलापल्ली नामक स्थान के अध्यापक स० ब० सुब्बाराव ने तेलगू में और केरल के अन्तर्गत हरिपाड के भारत हिन्दी विद्यालय के श्री के० जी० कुहन पिल्लै ने मलयालयम में इसका अनुवाद करने की सूचना मुझे दी है। आशा है इससे उन प्रदेशों में भी जात-पांत की शृङ्खलायें टूटने लगेंगी।

पहले संस्करण का मूल्य कुछ अधिक अर्थात् ६) रखना पड़ा था। इस से प्रचार में भी बाधा पड़ती थी। अतः सर्व-साधारण के लिए पुस्तक को सुलभ करने के उद्देश्य से इस संस्करण का मूल्य कम कर दिया गया है, जिस से इसका प्रचार अधिकाधिक हो। आशा है, देश-हितैषी और सामाजिक-सुधार-प्रेमी नर-नारी पुस्तक को घर घर में पहुँचा कर जात-पाँत रूपी क्षय रोग को दूर करने का पुण्योपार्जन करेंगे।

पुरानी बसी—होशियारपुर
दीपावली सन् १९५७

सन्तराम

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

जाति-भेद का लक्षण

जिन दिनों मैं लाहौर में रहता था, मेरे पड़ोस में श्री रविदत्त नाम के एक गौड़ ब्राह्मण गृहस्थ रहते थे। एक दिन की बात है, मैं उनके निकट बैठा था। संयोग से जात-पाँत पर बात चल पड़ी। मैंने पूछा, जात-पाँत के सम्बन्ध में आपका क्या मत है ? इस पर वे बोले, मेरे मत का एक मनोरंजक इतिहास है; आप सुनना पसन्द करें तो सुनाऊँ। मैंने उत्तर दिया—मेरा तो यह मनभाता विषय है। इसे सुनने में मुझ से बढ़कर प्रसन्नता किसको होगी ? इस पर वे बोले—

प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के समय मैं लड़ाई में गया था। मेरी पलटन इटली में थी। मुझे रोटी बनाने के लिए एक भारतीय नौकर मिला हुआ था। वह अपढ़ था। मैं ही उसकी चिट्ठी-पत्री लिखा और पढ़ा करता था। एक दिन उसके पिता की चिट्ठी आई। वह पढ़ाने के लिए मेरे पास लाया। चिट्ठी पर भेजने वाले का नाम "नत्थू भंगी" देखकर मैं चौंक पड़ा। मैंने उससे पूछा, तुम कौन जाति हो ? वह चुप रहा। मैंने बिगड़ कर कहा, तुम भंगी होकर मुझे खाना खिलाते रहे हो। तुमने मेरा धर्म भ्रष्ट कर दिया। मैं मेजर साहिब से तुम्हारी शिकायत करता हूँ।

जिस पलटन के साथ मैं लगा हुआ था, वह संयोग से इँग्लैंड के विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की थी। उसके सब सिपाही वहाँ के कालेजों के छात्र ही थे। उनके अफसर भी प्रोफेसर आदि ही थे। मैंने मेजर के पास शिकायत कर दी कि इस नौकर ने मेरा धर्म भ्रष्ट कर दिया है। उसने पूछा—कैसे ? मैंने कहा—इसने मुझसे अपनी जाति छिपाए रखी है और मुझे भोजन बना कर खिलाता रहा है।

मेजर ने आश्चर्य से कहा—भोजन खिलाने से आपका धर्म कैसे भ्रष्ट हो गया ?

मैं—जी, यह भंगी है और मैं ब्राह्मण। इसके हाथ का बना भोजन करने से मेरी जाति चली गई और धर्म डूब गया है।

मेजर—(आश्चर्य से) वह क्यों ?

मैं—जी, यह भंगी टट्टी उठाता है।

मेजर—तब क्या हुआ ? हम सब इस पलटन में बारी-बारी से सात-सात दिन टट्टी साफ करने का काम किया करते हैं। टट्टी साफ़ करने से धर्म कैसे डूब गया ? जाओ, तुम्हारी यह शिकायत व्यर्थ है।

इस पर मैं बहुत चकराया और मेजर साहिब को समझाने का बार-बार यत्न करने लगा। पर मेरे लाख सिर पटकने पर भी उनकी समझ में कुछ न आया कि भंगी के हाथ का बना भोजन करने से मेरा धर्म कैसे डूब गया है, और मेरी जाति कैसे चली गई है। तब वे तंग आकर मुझे एक दूसरे अफसर के पास ले गए। वह अफसर भारत में कुछ वर्ष पादरी रह चुका था। उसने मुझसे पूछा कि क्या आप भारतीय हिन्दू हैं ? मैंने कहा—जी हाँ। इस पर वह बोला—ठीक है, मैं समझ गया, आप लोग दूसरी जाति वालों का नहीं खाते।

इस पर मेजर ने मेरे उस भंगी रसोइए को कोई हलका-सा दण्ड दे दिया। इसके बाद वह भूतपूर्व पादरी मेरे पास आया और एकान्त में ले जाकर मुझसे कहने लगा—देखो, तुम उस रसोइए को दण्ड दिलाने में सफल तो अवश्य हो गए हो, पर याद रखो, तुमने मनुष्यता का अपमान किया है, तुम भगवान के दरबार में फटकारे जाओगे।

उस पादरी के उन शब्दों ने मेरे मर्मस्थल पर आघात किया। मुझे अपने उस दुष्कर्म पर भारी पश्चाताप हो आया। मैं सोचने लगा कि वह रसोइया भी मेरे समान ही मनुष्य है। उसके हाथ का खाना खाने से मेरे शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ। अब भी

वह वही मनुष्य है जो उस समय था जब कि उसकी जाति का मुझे ज्ञान न हुआ था। बस, जात-पाँत की कल्पना अलीक है। तब से मैं जात-पाँत का विचार बिलकुल मन से निकाल चुका हूँ। मुझे किसी भी स्वच्छ व्यक्ति के यहाँ खान-पान करने में अब कोई संकोच नहीं।

हिन्दुओं का जातिभेद सचमुच कल्पित, अस्वाभाविक और भ्रम-मूलक है। इसकी कोई ठीक ठीक परिभाषा करना, इसे किसी विदेशी को समझा सकना बड़ा कठिन है। यदि हम जाति-भेद को एक रोग मान लें तो इसके बड़े बड़े बाह्य लक्षण ये हैं—स्पर्श-बंदी, व्यवसाय-बंदी, रोटी-बंदी और बेटी-बंदी। अर्थात् जिस व्यक्ति या जन-समूह में जाति-भेद पाया जाता है वह कुछ लोगों को छूने से इनकार कर देता है, वह कुछ व्यवसाय अपने लिए निषिद्ध मान लेता है, वह थोड़े से लोगों के सिवा शेष सबके साथ रोटी-बेटी व्यवहार करने से इनकार करने लगता है। वह एक मैले से मैले मनुष्य को छू लेगा, उसके हाथ का बना खा लेगा, पर दूसरे साफ-सुथरे मनुष्य को न छुएगा और न उसका बना भोजन ग्रहण करेगा। वह एक अपनी जाति के कुरूप, अपढ़ और दुराचारी लड़के को तो अपनी सुन्दरी एवं सुशिक्षिता लड़की दे देगा, पर दूसरी जाति के सुशिक्षित, सदाचारी और सुन्दर युवक को देने से इनकार कर देगा। वह चोरी करेगा, जुआ खेलेगा, भीख माँग लेगा पर ईमानदारी और परिश्रम से किसी के जूठे बर्तन साफ कर, टोकरी ढो या जूते सी कर पेट पालने को तैयार न होगा। इस स्पर्श-बंदी, व्यवसाय-बंदी, रोटी-बंदी और बेटी-बंदी का कोई वैज्ञानिक या युक्तिसंगत कारण उसके पास नहीं रहता। उसे केवल भ्रम रहता है कि इन बंदियों को तोड़ने से मेरी जाति चली जाएगी और मेरा धर्म डूब जाएगा। जातिभेद को मानने वाला एक छोटे से मनुष्य-समूह को ही अपना सारा संसार मान बैठता है। उसी के भीतर उसका खान-पान, रहन-सहन, ब्याह-शादी और जीवन-मरण होता रहता है।

उसी छोटे से समूह के लोग उसके दुःख-सुख में भाग लेते हैं। मालवीय ब्राह्मण के शव को मालवीय के सिवा कोई दूसरा ब्राह्मण भी नहीं उठा सकता।

जाति-भेद हिन्दू-समाज की एक विशेष बात है। दूसरे देशों में धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित, स्वामी-सेवक, पूंजीपति-श्रमजीवी, किसान-अध्यापक, ग्रामीण और नागरिक के वर्ग हैं। पर वे भारत में पाये जाने वाले जाति-भेद से सर्वथा भिन्न हैं। जात-पाँत केवल सामाजिक बाँट का ही सिद्धान्त नहीं, वरन् जीवन की एक व्यापक पद्धति है। इसका हिन्दू के खान-पान और व्याह-शादी के साथ ही नहीं, उसकी शिक्षा-दीक्षा, मेल-जोल, यहाँ तक कि ईश्वराराधन की रीति के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक पद्धतियाँ परिवर्तनशील होती हैं, पर जात-पाँत कभी नहीं बदलती। आज जात-पाँत एक पद्धति नहीं, वरन् एक धर्म बन चुकी है। इसका पालन न करने से व्यक्ति को दण्ड मिलता है।

—

दूसरा परिच्छेद

जाति-भेद का आरम्भ

कहते हैं, किसी मनुष्य की छाती में बाण लग गया। उससे वह आहत होकर चिल्लाता हुआ धरती पर गिर पड़ा। कुछ लोग दौड़ कर उसके निकट पहुँचे। वे उस बाण को खींच कर घाव में से निकाल डालना चाहते थे। पर उस आहत व्यक्ति ने उनको ऐसा करने से रोक दिया। वह बोला, मैं यह बाण तब तक न निकालने दूँगा जब तक मुझे यह न बता दिया जाएगा कि यह किधर से आया, किसने चलाया, यह किस पेड़ की लकड़ी से और कब बना, किसने इसे बनाया और इसमें जो लोहा लगा है वह किस खान से निकाला गया था और उसे किस लोहार ने ढाल कर बाण की अनी तैयार की थी। उन लोगों ने उसे बहुतेरा समझाया कि तुम पीड़ा से व्याकुल हो रहे हो, इन बातों के जानने से तुम्हारा दुःख कैसे दूर होगा? बाण किसी ने भी और कभी भी बनाया हो, तुम्हारी पीड़ा तो उसे निकालने से ही शान्त होगी। पर उसने अपनी हठ न छोड़ी।

कुछ ऐसी ही बात उन हिन्दुओं की है जो जाति-भेद के कुप्रभावों को देखते हुए भी उसे तब तक छोड़ने को तैयार नहीं जब तक उनको यह न बता दिया जाय कि यह किस ऋषि ने बनाई थी, कब बनाई थी और क्यों बनाई थी। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो कहते हैं कि चाहे इस समय जाति-भेद हानिकारक हो गया हो पर प्राचीन काल में इसने हमें बहुत काम दिया है, इसलिए इसे बनाए रखना चाहिए। इन लोगों की बात भी वैसी ही है, जैसे कोई कहे कि क्योंकि किसी समय रायगढ़ का दुर्ग महाराष्ट्र की राज-शक्ति का एक आधार-स्तम्भ था, इसलिए आज चाहे वह टूट-फूट गया है और विमानों के आक्रमणों

से सेना की रक्षा नहीं कर सकता, तो भी उसे ही राजधानी बनाना चाहिए। यद्यपि उपर्युक्त दोनों बातें व्यर्थ और हास्यजनक हैं, तो भी ऐसे लोगों की संसार में कमी नहीं है। इसलिए उनके सन्तोष के लिए हम जाति-भेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ बातें संक्षेप में आगे लिखते हैं।

हिन्दुओं में इस समय कई सहस्र जातियाँ और उपजातियाँ हैं। पर ये सब चातुर्वर्ण्य का ही स्वाभाविक दुष्परिणाम हैं। आर्यों की सब से प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है। उस में कहीं भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को वर्ण नहीं कहा गया है। अर्थात् वेद में किसी जगह भी ब्राह्मण वर्ण, क्षत्रिय वर्ण या वैश्य वर्ण लिखा नहीं मिलता। इन तीनों को बहुत बाद में स्मृतियों ने ही "वर्ण" का नाम दिया है। वेद में वर्ण शब्द मिलता अवश्य है। पर इस का प्रयोग केवल "आर्य" और "दास" के साथ हुआ है।* जैसे—

यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः। ऋ. २, १२, ४.

अर्थात्—जो दास वर्ण को नीचे गुफा में डालता है।

हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्। ऋ. ३, ३४, ६.

अर्थात—दस्युओं को मार कर आर्य वर्ण की पूरी-पूरी रक्षा करता है।

इतना ही नहीं, वेद में वर्णों की संख्या भी चार कहीं नहीं बताई। उस में "चातुर्वर्ण्य" भी लिखा नहीं मिलता। हाँ "दो वर्ण" अवश्य कहा गया है। जैसे—

उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष। ऋ. १, १७९, ६.

---

*बौद्धों के ग्रंथ मज्झिम निकाय ९३ में भी लिखा है—"हे आश्वलायन, क्या तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमांत देशों में दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास ? आर्य दास हो सकता है और दास भी आर्य हो सकता है।"

अर्थात्—उग्र ऋषि ने "दोनों वर्णों" को पुष्ट किया।

कुछ लोग ऋग्वेद के दसवें मण्डल का निम्न लिखित मन्त्र—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोअजायत ॥ १०, ९०. १२. ॥

पेश करके कहते हैं कि वेद में चार वर्ण हैं। पर इस मन्त्र का अथ तो केवल इतना ही है कि उस (प्रजापति) के मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, ऊरू वैश्य थे और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। इस मन्त्र में वर्ण शब्द कहीं है ही नहीं। ऐतिहासिक पण्डितों का मत है कि ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसके अतिरिक्त उवट और महीधर आदि भाष्यकारों ने इसमें समाज का नहीं, यज्ञ का वर्णन माना है।

इस में सन्देह नहीं कि वेद में मनुष्य-समाज कहीं कहीं दो भागों में बँटा मिलता है (जैसे कि आर्य और शूद्र[१] या आर्य और दास[२] या दस्यु[३]), कहीं चार में, कहीं पाँच[४] में, कहीं छः[५] में और कहीं बीसियों[६] जातियों में। पर वेद केवल उपर्युक्त दो वर्ण ही कहता है। कुछ लोगों की धारणा है कि "पंचजनाः" का अर्थ, निरुक्त के अनुसार, चार वर्ण और पाँचवाँ निषाद है।

---

१. तयाऽहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः। (अथर्व ४, २०, ४.)

अर्थात्—मैं सब को देखता हूँ जो शूद्र हैं और जो आर्य हैं।

२. त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर। (ऋ. ६,३३,३)

अर्थात्—हे शूर, इन्द्र, रुकावट डालने वाले दोनों प्रकार के शत्रुओं को, दास और आर्य को, तू ने मारा।

३. न यो रर आर्यं नाम दस्यवे (ऋ. १०,४९,३)

अर्थात्—जिसने आ ं नाम दस्यु को नहीं दिया।

४. जैसा कि वेद के "पंचजनाः" "पंचकृष्टयः" और "पंचमानव" आदि शब्दों से प्रकट है।

५. यजु २६,२

६. यजु अध्याय ३० मंत्र ५,६।

इस सम्बन्ध में एक बात का स्मरण रखना चाहिए। निरुक्तकार यास्क वैदिक काल से बहुत समय पीछे हुआ है। उसे निश्चित रूप से पता न था कि यह शब्द वैदिक काल में किन अर्थों में प्रयुक्त होता था। इसलिए उस ने इस विषय में भिन्न भिन्न प्रचलित मत दे दिए हैं। निरुक्त का पाठ इस प्रकार है—

गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके
चत्वारो वर्णाः, निषादः पंचम इत्यौपमन्यवः। निरुक्त ३—८)

अर्थात्—पञ्चजन के संबंध में अनेक मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, ये पाँच पञ्चजन हैं, पर औपमन्यवाचार्य का मत है कि चार वर्ण और पाँचवाँ निषाद, ये पञ्चजन हैं।

आदिकाल में चार वर्णों की बाँट नहीं थी। यह विभाजन पीछे से किया गया, इस के प्रमाण महाभारत और पुराणों में भी मिलते हैं। उन में से कुछ आगे दिए जाते हैं:—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥४॥

श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध ९।१४

श्रीधर स्वामी इसका अर्थ करते हैं कि पहले सर्ववाङ्मय प्रणव (ओंकार) ही एकमात्र वेद था। एकमात्र देवता नारायण थे और कोई नहीं। एकमात्र लौकिक अग्नि ही अग्नि और एकमात्र हंस ही एक वर्ण था। पुराण में कहा है कि प्रारम्भ में मनुष्य की एकमात्र जाति हंस* थी। महाभारत कहता है—

एक वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥

*आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।

अर्थात्—हे युधिष्ठिर, इस जगत में पहले एक ही वर्ण था। गुण-कर्म के विभाग से पीछे से चार वर्ण स्थापित किए गए।

वही महाभारत फिर कहता है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

अर्थात्—वर्णों में कोई भी वर्ण किसी प्रकार की विशेषता नहीं रखता, क्योंकि यह संपूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। पहले सबको ब्रह्मा ने ही उत्पन्न किया है। पीछे कर्मों के भेद से वर्णों की उत्पत्ति हुई।

फिर वायुपुराण* कहता है—

"सत्ययुग में कर्मभेद, वर्णभेद और आश्रमभेद न था। त्रेतायुग में मनुष्यों की प्रकृतियाँ कुछ भिन्न भिन्न होने लगीं। कर्म-वर्ण-आश्रम-भेद आरम्भ हुए। तदनुसार शान्त, शुष्मी, कर्मी और दुःखी ऐसे नाम पड़े। द्वापर और कलि में प्रकृति-भेद और भी अभिव्यक्त हुआ। तदनुसार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र नाम पड़े।"

महाभारत के शांतिपर्व, मोक्षधर्म १८६,७–८. में इस प्रकार लिखा है—

प्रश्न—हे भृगु मुनि! काम, क्रोध, लोभ, भय, चिंता, क्षुधा और श्रम आदि बातें हम सब में एक जैसी हैं। तब वर्ण का भेद क्यों मानते हैं? पसीना, भूख, शौच, कफ, पित्त और रक्त सब के शरीर

---

*अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभपापयोः।
वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च तदाऽऽसन्न संकरः॥
त्रेतायुगे त्वविकलः कर्मारम्भः प्रसिध्यति
वर्णानां प्रविभागाश्च त्रेतायां तु प्रकीर्त्तिताः।
शांताश्च शुष्मिणश्चैव कर्मिणो दुखिनस्तथा॥
ततः प्रवर्त्तमानास्ते त्रेतायां जज्ञिरे पुनः।
वायुपुराण ८, ३३, ४९, ५७, आदि अध्याय।

में रहते हैं। तब एक वर्ण दूसरे वर्ण से अलग क्यों माना जाता है?

उत्तर—इस पर भृगु ऋषि बोले—(पहले) एक ब्राह्मण ही वर्ण था। इसलिए (इस समय दिखाई देनेवाले भिन्न भिन्न) वर्णों में कोई विशेष अंतर नहीं। पहले पहल ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न किए हुए एक ही वर्ण के लोग विभिन्न कर्मों के कारण भिन्न भिन्न वर्णों को प्राप्त हुए हैं।

फिर भविष्य महापुराण के ब्रह्मपर्व, अध्याय ४२ में लिखा है—

"यदि एक पिता के चार पुत्र हैं तो उन चारों की एक जाति होनी चाहिए। इसी प्रकार सब लोगों का पिता एक परमेश्वर ही है। इस लिए मनुष्य-समाज में जातिभेद है ही नहीं। जिस प्रकार गूलर के पेड़ में अगला भाग, मध्य का भाग, और जड़ का भाग, तीनों में एक ही वर्ण और आकार के फल लगते हैं, उसी प्रकार एक विराट् पुरुष परमेश्वर के मुख, बाहु, पेट और पैर से उत्पन्न हुए मनुष्यों में (स्वाभाविक) जातिभेद कैसे माना जा सकता है?"

भविष्य पुराण (अध्याय ४) कहता है—

तस्मान्न गोऽश्ववत् किंचिज्जातिभेदोस्ति देहिनाम्।
कार्यभेदनिमित्तेन संकेतः कृत्रिमः कृतः॥

अर्थात्—मनुष्यों में गाय और घोड़े जैसा कोई जाति-भेद नहीं। यह काम के भेद के लिए बनावटी संकेत किए गये हैं।

इतना ही नहीं, विष्णु पुराण (अंश ४, ८, १) कहता है—

गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्त्तयिताऽभूत्।

अर्थात्—गृत्समद के पुत्र शौनक ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रवर्त्तित की।

इसी पुराण में दूसरी जगह कहा गया है—

भार्गस्य भार्गभूमिः अतश्चातुर्वर्ण्यप्रवृत्तिः। (चतुर्थ अंश) ८, ६

अर्थात्—भार्ग से भार्गभूमि उत्पन्न हुए, उन से चातुर्वर्ण्य प्रवर्त्तित हुआ।

महर्षि जैमिनि का कहना है कि सृष्टि के आदि में पहले चतुर्मुख

(ब्रह्मा) ने ब्राह्मण ही बनाए। फिर दूसरे वर्ण उन्हीं ब्राह्मणों के वंश में अलग अलग उत्पन्न हुए—

ससर्ज ब्राह्मणानग्रे सृष्ट्यादौ स चतुर्मुखः।
सर्वे वर्णाः पृथक् पश्चात् तेषां वंशेषु जज्ञिरे॥
(पद्म पुराण, उत्कल खण्ड, ३८, ४४)

हरिवंश पुराण में भी कहा है—

पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥
(२६ अध्याय १५, १६, २०)

अर्थात्—गृत्समद के पुत्र शुनक हुए। शुनक से शौनक कहलाने-वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बहुत से पुत्र उत्पन्न हुए।

प्रारम्भ में वर्णभेद न होने का पता इस बात से भी लगता है कि उपनिषद्, रामायण और महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में किसी भी नाम के साथ शर्मा, वर्मा और गुप्त आदि वर्ण-सूचक शब्द लगे नहीं मिलते।

महाभारत में कृतवर्मा और महाभाष्य में इन्द्रवर्मा नाम मिलता है। पर वहाँ "वर्मा" वर्ण व्यवस्था का द्योतक नहीं, वरन् वह नाम है, जैसे—आजकल श्रीराम में, "श्री" रामजीदास में "जी" और भगवानदास में "भगवान" नाम का ही अंश है। वेद में "शर्म मे यच्छ" अनेक स्थानों पर मिलता है। पर वहाँ "शर्म" नपुंसकलिंगी है, पुँल्लिङ्वाची "शर्मा" वेद में कहीं भी नहीं। "सुशर्मा" शब्द में भी वही "सु-शर्म" है; पुँल्लिङ्वाची शर्मा कहीं नहीं। सुष्ठु शृणाति इति सुशर्मा राजविशेषः (दयानन्द) अर्थात् जो दुष्टों को दण्ड दे (मारे) वही सुशर्मा राजा है। यहाँ सुशर्मा ब्राह्मण नहीं है क्षत्रिय है। देव-शर्मा, विष्णुशर्मा और भद्रशर्मा आदि नामों में "शर्मा" शब्द नहीं, वरन् शर्म है। वही संस्कृत व्याकरण के नियम से दीर्घ होकर शर्मा बन गया है। "शर्मासि मे शर्म यच्छ" में भी शर्मा+असि नहीं, वरन्

शर्म+असि ही है। न ही यह बात है कि शर्मन्+असि था जिसमें न का लोप असिद्ध है। इसलिए दीर्घ न हो सकेगा। कारण कि यह सूत्र है—"न लोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति। अष्टा० ८, २, २।

ऐसा जान पड़ता है कि आदिकाल में मनुष्य-समाज गंगोत्री के निकट गंगा-जल के समान निर्मल था। लोग सात्विक, सरल, सदाचारी और शुद्ध-हृदय थे। पहले मनुष्यों की संख्या बहुत कम थी और खान-पान की सामग्री प्रचुर थी। लोग फल-फूल खाकर सहज में पेट भर लेते थे। कालान्तर में यह समाज वैसा शुद्ध, निर्व्याज और सरल न रह सका। तब अपनी अपनी प्रकृति, रुचि और योग्यता के अनुसार लोग विभिन्न कार्य करने लगे। जैसे आजकल नाना प्रकार के व्यवसाय देखने में आते हैं, वैसे उस समय न थे। उस समय कुछ लोग गाय आदि पशु चराते थे, कुछ शत्रुओं से समाज की रक्षा करते थे और कुछ बालकों को लिखाते-पढ़ाते थे। इस प्रकार ये सब लोग मिल कर एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। जो लोग खेती-बाड़ी करते और पशु चराते थे उनको उस समय की भाषा में वैश्य कहा जाता था। जो शत्रुओं से लड़ते-भिड़ते थे वे क्षत्रिय कहलाते थे और जो पठन-पाठन का काम करते थे उनका नाम ब्राह्मण था। कहने का तात्पर्य यह कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की यह बाँट जन्म पर नहीं, काम पर थी। वर्तमान हिन्दू-समाज में जो वर्ण-भेद है वह काम की बाँट नहीं, वरन् काम करने वालों की बाँट है। इसमें व्यक्ति की योग्यता का विचार न करके केवल जन्म से किसी को ब्राह्मण का काम और किसी को भंगी का काम करने पर बाध्य किया जाता है। इसलिए उस पुरातन काल से यह बिलकुल उलटा है। जैसे—यूरोप और अमेरिका में कोई अध्यापक, कोई सैनिक और कोई व्यापारी है और वह जन्म से नहीं, वैसे ही उस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि सांकेतिक नाम थे।

काम की बाँट होने पर भी उन लोगों में ऊँच-नीच का कोई भाव उत्पन्न न हुआ था। अतएव वेद कहता है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
ऋग्वेद ५, ६०, ७

अर्थात्—तुम में न कोई उच्च है और न ही कोई नीच। तुम सब भाई हो। इसलिए भाइयों की भाँति अपने अपने भाग में उन्नतिशील बनो।

विभिन्न काम करने वाले लोग एक ही घर में इकट्ठे रहते थे। वेद कहता है—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव।
(ऋग्वेद ९, ११२, ३)

अर्थात्—मैं एक कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता चक्की से अनाज पीसती है। विभिन्न व्यवसायों में लग कर हम लोग धन और आनन्द खोजते हैं, जिस प्रकार गौएँ मैदान में अपना अपना भोजन खोजती हैं।

आज के हिन्दू-समाज में विभिन्न वर्णों और जातियों के लोग परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार नहीं करते। इससे उनका धर्म डूब जाता है और उनकी जाति चली जाती है। पर उस पुरातन काल में ऐसी बात न थी। व्यवसाय के कारण विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी वे आपस में बेटी-व्यवहार करते थे। ऐसे विवाहों के कुछ उदाहरण आगे दिए जाते हैं। पहले अनुलोम अर्थात् कथित ऊँचे वर्ण के पुरुष का कथित नीच वर्ण की स्त्री के साथ विवाह लीजिए:—

१, शुक्राचार्य ब्राह्मण ने राजा प्रियव्रत क्षत्रिय की पुत्री उर्जस्वती से विवाह किया।

२. शृङ्गी ब्राह्मण ने राजा लोमपाद की पुत्री (और राजा दशरथ की गोद ली हुई पुत्री) शान्ता से विवाह किया।

३. जमदग्नि ब्राह्मण ने सूर्यवंशी राजा प्रसेनजित की कन्या रेणुका से विवाह किया। इन्हीं के पुत्र परशुराम थे।

४. ऋचीक ब्राह्मण ने राजा गाधि क्षत्रिय की कन्या सत्यवती से विवाह किया।

५. पिप्पलाद ब्राह्मण ने क्षत्रिया पद्मा से विवाह किया। (शिव-पुराण, उत्तरार्द्ध, अध्याय ३०)

६. अगस्त्य ब्राह्मण ने क्षत्रिया लोपामुद्रा से विवाह किया।

७. रैक्व ब्राह्मण ने राजा जानश्रुति क्षत्रिय की कन्या से।

८. सौभरि ब्राह्मण ने राजा मांधाता क्षत्रिय की कन्या से।

९. विश्वामित्र ने देवलोक की अप्सरा मेनका से शकुन्तला उत्पन्न की। शकुन्तला का विवाह राजा दुष्यन्त से हुआ। उनका पुत्र भरत हुआ। इसी भरत के नाम पर इस देश का नाम भरतखण्ड पड़ा। (देवीभागवत पुराण, स्कन्ध ४)

१०. भीमसेन ने हिडम्बा नाम की राक्षसी से विवाह किया। उनका पुत्र घटोत्कच हुआ।

अब प्रतिलोम अर्थात् कथित नीच वर्ण के पुरुष के उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह के उदाहरण सुनिए:—

१. राजा प्रियव्रत क्षत्रिय ने विश्वकर्मा ब्राह्मण की बेटी वर्हिष्मती से विवाह किया।

वायु पुराण अध्याय २८ में लिखा है कि कर्दम ऋषि की कन्या काम्या (विष्णु पुराण में इसका नाम कन्या लिखा है) राजा प्रियव्रत (क्षत्रिय) को ब्याही गई। काम्या से प्रियव्रत के दस पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। इन्होंने क्षत्रिय वंश का विस्तार किया।

२. राजा नीप क्षत्रिय ने शुक्राचार्य ब्राह्मण की पुत्री कृत्वी से विवाह करके ब्रह्मदत्त को जन्म दिया (भागवत पुराण स्कंध ९।२१)। इसी कुल

में मुद्गल उत्पन्न हुआ जिसके नाम पर ब्राह्मणों का मौद्गल्य गोत्र चला।

३. राजा ययाति क्षत्रिय ने शुक्राचार्य ब्राह्मण की पुत्री देवयानी से विवाह किया। इनके पाँच पुत्र हुए।

४. प्रमत्ता ब्राह्मणी का विवाह एक नाई के साथ हुआ। इन के पुत्र मतङ्ग महामुनि थे। (महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय २२)

५. कर्दम ऋषि की कन्या अरुन्धती और वेश्या* के पुत्र वसिष्ठ मुनि का विवाह हुआ। इनके पुत्र का नाम शक्तृ या शक्ति था। इसका विवाह चाण्डाल कन्या अदृश्यन्ती से हुआ। इन का पुत्र पराशर था। (देखो लिङ्गपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय ६३ और शिवपुराण पूर्वार्द्ध खण्ड १ अध्याय १३)। पराशर ने धीवर कन्या सत्यवती से वेदव्यास को उत्पन्न किया। वेदव्यास से कौरव और पांडव हुए।

यह सूची और भी लंबी की जा सकती है। श्रीयुत् परमेष्ठीदास जैन, 'न्यायतीर्थ' ने अपने "विजातीय विवाह मीमांसा" नामक ग्रंथ में जैन साहित्य से भी आन्तर्वर्णीय विवाहों के बहुत से उदाहरण दिए हैं। उन में से कुछ आगे उद्धृत किए जाते हैं:—

१. राजा श्रेणिक (क्षत्रिय) ने ब्राह्मण–कन्या नन्दश्री से विवाह किया था और उस से अभय कुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था

---

* उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः ।

(ऋ० ७।३३।११)

अर्थात्—मित्रावरुण के औरस और स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी के गर्भ से वसिष्ठ का जन्म हुआ।

गणिका-गर्भ-सम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम्।

भविष्यपुराण, १, ४२, ४६

—(भवतो विप्र कन्यायां सुतोऽभूदभयाह्वयः। (उत्तर पुराण, पर्व ७४. श्लोक ४२३–२६)

२. राजा श्रेणिक (क्षत्रिय) ने अपनी पुत्री धन्यकुमार वैश्य को दी थी। (पुण्याश्रव कथा कोष)।

३. राजा जयसेन (क्षत्रिय) ने अपनी पुत्री पृथ्वी सुन्दरी प्रीतिंकर (वैश्य) को दी थी। (उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लोक ३४६–४७,)

४. भविष्यदत्त (वैश्य) ने अरिंजय (क्षत्रिय) राजा की पुत्री भविष्यानुरूपा से विवाह किया था और हस्तिनापुर के राजा भूपाल की कन्या स्वरूपा (क्षत्रिय) को भी ब्याहा था। (पुण्याश्रव कथा कोष)

५. चारुदत्त (वैश्य) की पुत्री गन्धर्वसेना वसुदेव (क्षत्रिय) को ब्याही थी। (हरिवंश पुराण)

६. उपाध्याय (ब्राह्मण) सुग्रीव और यशोग्रीव ने भी अपनी दो कन्याएँ वसुदेव कुमार (क्षत्रिय) को ब्याही थीं। (हरिवंश पुराण)

७. महाराजा उपश्रेणिक (क्षत्रिय) ने भील-कन्या तिलकवती से विवाह किया और उस से उत्पन्न पुत्र चिलाती राज्याधिकारी हुआ। (श्रेणिक-चरित्र)

८. अग्निभूत स्वयं ब्राह्मण था। पर उसकी एक स्त्री ब्राह्मणी थी और एक वैश्य थी। यथाः—

विप्रस्तत्राग्निभूताख्यस्तस्यैका ब्राह्मणी प्रिया।
परा वैश्यसुता, सूनुर्ब्राह्मण्यां शिवभूतिभाक्॥
दुहिता चित्रसेनाऽऽख्या विट्सुतायामजायत।
(उत्तरपुराण पर्व ७५, श्लोक ७१-७२)

९. अग्निभूत की वैश्य पत्नी से चित्रसेना कन्या हुई और वह देवशर्मा ब्राह्मण से ब्याही गई। (उत्तर पुराण, पर्व ७५ श्लोक ७३)

१०. राजा धनपति (क्षत्रिय) की कन्या पद्मा को जीवंधर कुमार (वैश्य) ने व्याहा था। (क्षत्रचूड़ामणि, लम्ब ५, श्लोक ४२–४६)

११. नागकुमार ने तो वेश्या-पुत्रियों से भी विवाह किया था। फिर भी उन्होंने दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण की थी (नाग कुमार चरित्र)। इतना होने पर भी वे जैनियों के पूज्य रह सके।

१२. जीवंधर कुमार क्षत्रिय थे। उन्हों ने वैश्रवणदत्त वैश्य की पुत्री सुरमंजरी से विवाह किया था (उत्तर पुराण, पर्व ७५ श्लोक ३४८—३७२)। इसी प्रकार कुमारदत्त वैश्य की कन्या गुणमाला का भी विवाह जीवंधर स्वामी के साथ हुआ था। (उत्तर० पर्व ७५)। इसके अतिरिक्त जीवंधर ने धनपति (क्षत्रिय) राजा की कन्या पद्मोत्तमा को व्याहा था।

और लीजिए—चन्द्रगुप्त ने एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया। उससे अशोक के पिता का जन्म हुआ। अशोक ने भी जातिभेद तोड़ कर विवाह किया। उसका एक वैश्य-कन्या से विवाह हुआ। हर्ष ब्राह्मण था। पर उसने अपनी लड़की एक क्षत्रिय से व्याह दी। विक्रमादित्य का यज्ञाचार्य व्याधकर्मा एक व्याध की सन्तान था जिस का विवाह एक ब्राह्मणी से हुआ था। कृष्णभट्ट ब्राह्मण था। पर उस का प्रेम एक चाण्डाल-कन्या से हो गया। इसी ने "मातङ्ग पन्थ" चलाया।

यही नहीं कि पूर्वकाल में आन्तर्वर्णीय-विवाहों पर कोई रुकावट न थी, वरन् एक वर्ण का मनुष्य यदि दूसरे वर्ण का व्यवसाय करता था तो उसे बुरा नहीं समझा जाता था। अतएव हम देखते हैं कि द्रोणाचार्य और कृपाचार्य दोनों ब्राह्मण थे, पर वे महाभारत के युद्ध में लड़े थे, यद्यपि लड़ना ब्राह्मण का नहीं, वरन् क्षत्रिय का काम माना गया है। इसी प्रकार, कर्ण सूतपुत्र कहलाते थे। सूत का काम लड़ाई में लड़ना नहीं। पर दुर्योधन ने कर्ण को अपना सेनापति

बनाया था। विदुर दासी-पुत्र होकर भी राज-मंत्री का कार्य करते थे। स्वयं श्रीकृष्ण क्षत्रिय थे। पर उन्होंने गीता का धर्मोपदेश किया, जो कि क्षत्रिय का नहीं, वरन् ब्राह्मण का काम है। हम देखते हैं, इस व्यवसाय-बंदी को तोड़ने के लिए कभी किसी ने इन लोगों की निन्दा नहीं की।

जान पड़ता है कि महाभारत-काल में ही कई पोथियाँ और धर्मशास्त्र ऐसे बन गए थे जो आन्तर्वर्णीय विवाहों का निषेध करते थे। ऐसी दशा में जनता के लिए बड़ी कठिनाई हो गई होगी कि किस की व्यवस्था मानें और किस की न मानें। इस उलझन को सुलझाने के लिए ही महाभारत में कहा गया है—*"तर्क अनिश्चित है, श्रुतियों का आपस में मतभेद है, कोई भी एक ऐसा स्मृतिकार ऋषि नहीं जिस का मत प्रमाण माना जाता हो। धर्म का तत्त्व गहरी गुफ़ा में छिपा है;। इस लिए वही पंथ ठीक है, जिससे कोई एक महापुरुष चला है।"

हम ने ऊपर एक नहीं, अनेक ऐसे महाजनों के नाम दे दिए हैं जिन्होंने जाति-भेद को तोड़ा था।

---

*तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः॥
महाभारत वनपर्व अध्याय ३१३, श्लोक १७

तीसरा परिच्छेद

शूद्र कौन है ?

अब तक हम ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की ही चर्चा की है। हम ने बताया है कि विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करने से एक ही वंश के लोग अध्यापक (ब्राह्मण) सैनिक (क्षत्रिय) और वणिक् (वैश्य) कहलाने लगे थे। पर शूद्रों के सम्बन्ध में विद्वानों का मतभेद है।। कुछ लोगों का कहना है कि आर्य लोग बाहर से भारत में आए थे और उन्होंने यहाँ के जिन आदिवासियों को जीत कर अपना दास या सेवक बनाया उन्हीं का नाम शूद्र है। उनका यह भी कहना है कि आर्य लोग गोरे और शूद्र काले रंग के थे। पर यह मत अब खण्डित हो चुका है। अब अधिकांश विद्वान् आर्यों को बाहर से आया आक्रमणकारी नहीं मानते। वेद में किसी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता जो आर्यों के बाहर से भारत में आने को प्रमाणित करती हो।

श्री० पी० टी० श्रीनिवास आयंगर[1] लिखते हैं:—

"जिन मन्त्रों में आर्य, दास और दस्यु शब्द आए हैं उनकी सावधानी से परीक्षा करने पर पता लगता है कि ये शब्द वंश के नहीं वरन् धर्म-मत के द्योतक हैं। ये शब्द सब से अधिक ऋग्वेद-संहिता में मिलते हैं। वहाँ "आर्य" शब्द मन्त्रों में ३४ बार आया है। इन मन्त्रों में सब मिला कर १,५३, ९७२ शब्द हैं। इस शब्द का इतनी थोड़ी बार आना ही इस बात का प्रमाण है कि जो जातियाँ अपने को आर्य कहती थीं वे आक्रमणकारी नहीं थीं जिन्होंने देश को जीत कर लोगों का नाश कर दिया हो। कारण यह कि आक्रमण करने

---

१. माधवाचार्य के भाष्यसहित यजुर्वेद।

वाली जाति स्वभावतः ही अपनी सफलताओं की निरन्तर डींग हाँका करती है।"

इसी प्रकार प्रोफेसर डी० एस० त्रिवेद[1] कहते हैं कि "वेद में नदियों को 'मेरी गंगा, मेरी यमुना और मेरी सरस्वती' कहकर सम्बोधन किया गया है। कोई भी विदेशी किसी देश की नदी को ऐसे परिचित और प्रेम-भरे ढंग से सम्बोधन नहीं करेगा, जबतक कि बहुत दिन वहाँ रहने से उसमें उसके प्रति प्रेम न उत्पन्न हो गया हो।"

आर्य और शूद्र का भेद शरीर की रंगत के कारण भी नहीं माना जा सकता। कारण यह कि राम और कृष्ण जैसे आर्यों के अनेक-महापुरुष गोरे नहीं, श्याम वर्ण के थे।

वेद में अनेक स्थानों पर "आर्य" को दास, दस्यु और शूद्र का प्रतियोगी कहा है। ऋग्वेद[2] एक जगह कहता है—हे इन्द्र, आर्यों को पहचान और उनको जो दस्यु हैं। व्रतहीनों को शासन में रख कर यजमान के वश में ला। इसी प्रकार दूसरी[3] जगह कहा है–हे इन्द्र, जो हमें मारना या दास बनाना चाहता है, वह चाहे दास हो और चाहे आर्य, उसके शस्त्र को हम से दूर परे हटा दे। तीसरी[4] जगह

1. The Original Home of Aryans—by D. S. Triveda—Annual of the Bhandarkar Oriental Research Institute Vol. XX. P. 62.

२. वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
ऋग्वेद १, ५१, ८

३. अन्तर्यच्छ जिघांसतो, वज्रमिन्द्राभिदासतः।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा, सनुतर्यवया वधम्।
ऋग्वेद १०, १०२, ३.

४. हतो वृत्राण्यार्या, हतो दासानि सत्पती।
हतो विश्वा अप द्विषः। ऋ. ६, ६०, ६

कहा है—हे धर्मात्माओं के पति, रुकावट डालनेवाले आर्यों और रुकावट डालनेवाले दासों को मारो; हमारे शत्रुओं को परे हटाओ।

इसी प्रकार अथर्ववेद (४, २०, ४) में कहा है—उस ओषधि को सहस्रों नेत्रोंवाले देव ने मेरे दाहिने हाथ पर रखा है। उस से मैं सब को देखता हूँ, चाहे वह शूद्र है और चाहे आर्य।

फिर वही वेद दूसरी जगह कहता है—मुझे देवताओं में प्यारा बना, मुझे राजाओं में प्यारा बना। चाहे शूद्र हो या आर्य, उन सब का मुझे प्यारा बना।[1]

इस से स्पष्ट है कि आर्य और शूद्र आपस में प्रतियोगी हैं। अर्थात् जो आर्य है वह शूद्र नहीं।

ऋग्वेद में एक जगह कहा है—अपनी भुजा में वज्र लिए और अपने बल पर भरोसा किए वह दासों के दुर्गों को तोड़ता हुआ विचरता है। हे वज्रिन्, पहचानता हुआ तू दस्यु के लिए शस्त्र को फेंक। हे इन्द्र; आर्यों के विजय और यश को बढ़ा।[2]

पर इन से यह स्पष्ट नहीं कि शूद्र, दास या दस्यु और आर्य का यह भेद वंशगत या जातिगत था। इनका भेद सांस्कृतिक और आचारगत ही जान पड़ता है। अन्यथा "*कृण्वन्तो विश्वमार्यम्*" (ऋ, ६, ६३, ५.) अर्थात् सारे विश्व को आर्य बनाने का जो उपदेश

१. प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।
अथर्व० १६, ६२, १

पदपाठ में इस मन्त्र का "आर्यः आर्याय, आर्ये" पाठ स्पष्ट कर दिया है।

२. स जातूभर्मा श्रद्दधान ओजः पुरो विभिन्दन्नचरद् वि दासीः।
विद्वान् वज्रिन् दस्यवे हेतिमस्य, आर्यं सहो वर्धया द्युम्नमिन्द्र।
ऋ. १, १०३, ३

वेद देता है वह साध्य नहीं हो सकता। हीन-चरित्र मनुष्य को तो सच्चरित्र बनाया जा सकता है पर एक मंगोल जाति के मनुष्य को यहूदी या आर्य जाति का नहीं बनाया जा सकता। आर्य उन लोगों को कहते थे जो सामाजिक नियमों का पालन करते और वैदिक धर्म के अनुयायी थे। इन के विपरीत दास, दस्यु और शूद्र वे लोग जान पड़ते हैं जो सामाजिक नियमों का पालन नहीं करते थे, जो अव्रती या वेद-विरोधी थे। महाभारत प्रभृति परवर्ती ग्रन्थ भी इसी बात का समर्थन करते हैं।

महाभारत के शांति पर्व में भरद्वाज के प्रश्न का उत्तर देते हुए भृगु ने कहा था कि ब्राह्मणों का वर्ण (रंग) सफेद है, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला और शूद्रों का काला। इसपर भरद्वाज ने कहा कि यदि रंगत में ही वर्ण है तब तो सभी वर्णों में वर्ण-संकर पाये जाते हैं। अर्थात् बहुतेरे ब्राह्मण काले हैं, बहुतेरे शूद्र गोरे हैं, अनेक क्षत्रियों का रंग पीला है और बहुतेरे वैश्य लाल रंग के हैं। इस पर भृगु ने उत्तर दिया[1]—

महाभारत शांति पर्व १८६ अध्याय—

1. नविशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥१०॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रिय-साहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्तांगास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥११॥
गोषु वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः ॥१२॥
हिंसानृतप्रियाः लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥१३॥
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ताः द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥१४॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥१५॥

"एक वर्ण की दूसरे वर्ण से कोई विशेषता नहीं। जगत में ब्रह्मा ने पहले सब ब्राह्मण ही बनाए थे। बाद को वे ब्राह्मण विभिन्न कर्म करने के कारण विभिन्न वर्ण के कहलाने लगे। जो ब्राह्मण काम और भोग में लिप्त, तेज़ तबियत, क्रोधी, साहसी, और अपना ब्राह्मण का कर्म त्याग करके राजसी लाल रंग के बन गए, वे क्षत्रिय कहलाने लगे। इसी प्रकार जो ब्राह्मण गो आदि का पालन और खेती-बाड़ी करने लगे वे अपने ब्राह्मण धर्म का त्याग करके पीले रंगवाले ब्राह्मण वैश्य कहलाने लगे। इसी प्रकार जो ब्राह्मण हिंसक, झूठे और लोभी बन गए और सब प्रकार के काम करके रोटी कमाने लगे, वे शौच या स्वच्छता को छोड़नेवाले काले रंग के ब्राह्मण शूद्र कहलाने लगे। इन कर्मों से ब्राह्मण ही अलग अलग वर्ण के बन गये। इस लिए उनके लिए यज्ञ-क्रिया और धर्म का निषेध नहीं। इन चारों वर्णों का वेद में अधिकार है। ब्रह्मा का यही पूर्व विधान है। लोभ के कारण ही लोगों में अज्ञान छा गया है।"

महाभारत (शांतिपर्व, अध्याय १८७) में भरद्वाज भृगु से पूछते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कैसे होते हैं ? इस पर भृगु ने उत्तर दिया है—

जो व्यक्ति विधिपूर्वक सुसंस्कृत, पवित्र-साफ़, वेद के अध्ययन में लगा हुआ, षट्कर्मवाला, सदाचारी, विद्याशाली, गुरुप्रिय, नित्यव्रती, और सत्यपरायण है वही ब्राह्मण है। जिस में सत्य, दान, मैत्री, आनृशंस्य, लज्जा, क्षमा और तप है वही ब्राह्मण है।

इसी सिलसिले में भृगु आगे कहते हैं कि जो नित्य सब तरह की वस्तुएँ खाता है, जो अशुचि (मैला) है, जो सब प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म करता है और जो वेद को छोड़ कर आचार-हीन हो गया है, वही शूद्र है।*

* सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः । शांति पर्व ।

इतना ही नहीं, भृगु यह भी कहते हैं कि यदि ऊपर कहे ब्राह्मण के लक्षण शूद्र के यहाँ उत्पन्न हुए बालक में पाए जायँ तो वह बालक शूद्र नहीं कहला सकता और यदि ये लक्षण जन्म के ब्राह्मण में न हों तो वह ब्राह्मण नहीं।[1]

इसी प्रकार वनपर्व में कहा है कि जिन्हों ने क्रोध और मोह छोड़ दिया है उन्हें देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। जो जितेन्द्रिय हैं, धर्म-परायण हैं, पवित्र हैं, स्वाध्याय में लगे हैं, जिन्होंने काम और क्रोध को जीत लिया है उन्हें देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं।

(अध्याय २०५।३३—३६)

इसी वनपर्व में युधिष्ठिर कहते हैं कि चरित्र से ही मनुष्य ब्राह्मण बनता है। अच्छे चरित्र से सभी लोग ब्राह्मण हो सकते हैं। शूद्र के घर जन्म लेने वाले व्यक्ति का भी चरित्र यदि अच्छा है तो वह ब्राह्मणत्व प्राप्त करता है। सदाचार और कर्म से ही शूद्र[3] ब्राह्मण होता है और वैश्य क्षत्रिय होता है। सत्कर्म के फल से आगम-संपन्न शूद्र संस्कृत होकर द्विजत्व प्राप्त करता है।[4] ब्राह्मण भी बुरे चरित्र और सर्व-

---

१. शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे चैतन्न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥ शां. प. १८७, ८.

२. सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति। अध्या० १४३, ५१

३. एभिस्तुकर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा।
शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत्॥ अध्या० १४४, २६

४. एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसंपन्नो द्विजो भवति संस्कृतः॥ अध्या० ४६

संकर भोजन करने से ब्राह्मणत्व से गिर कर शूद्र[1] हो जाता है। धर्म[2] की सहायता से शूद्र भी ब्राह्मण होता है और धर्म से गिर कर ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है। कुल या वीर्य से कोई ब्राह्मण नहीं होता। चाण्डाल में भी यदि वृत्त हो तो हे युधिष्ठिर, वह ब्राह्मण है।[3] मनु भी एक जगह कहता है कि शूद्र ब्राह्मण बन सकता है और ब्राह्मण शूद्र।[4] अत्रि स्मृति कहती है—शराब और मांस बेचनेवाला ब्राह्मण शूद्र कहलाता है[5]।

ऐसे ही और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। जो पाठक इस विषय में अधिक प्रमाण देखना चाहें वे श्रीमत् स्वामी समाधिप्रकाश आरण्य (वहरपुर, जिला फ़रीदपुर) की बंगला पुस्तक "जातिकथा" देखें। इन से पता लगता है कि शूद्र कोई जाति या वंशगत नाम न था। वरन् विशेष कर्म करनेवाले या विशेष गुण और स्वभाव के मनुष्य को ही शूद्र कहा जाता था। विद्वद्वर डा. भीमराव अम्बेडकर अपनी अँगरेजी पुस्तक "शूद्र कौन थे" में निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचे हैं—

(१) शूद्र सूर्यवंशी आर्य थे।

(२) एक समय था जब आर्यों में केवल तीन ही वर्ण थे, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य।

---

१. ब्राह्मणोवाऽप्यसद्वृत्तः सर्वसंकरभोजनः।
ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः। ४४

२. ब्राह्मणो वा च्युतो धर्माद्यथा शूद्रत्वमश्नुते। अनु० ५१

३. न कुलेन न जात्या च क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत।
चाण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर॥ महाभारत

४. शूद्रोब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ मनु. १०, ६५

५ विक्रेता मधुमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते। श्लोक ३७७

(३) शूद्र कोई अलग वर्ण न था। वे भारतीय आर्य समाज में क्षत्रिय वर्ण के ही एक भाग माने जाते थे।

(४) शूद्र राजाओं और ब्राह्मणों में निरन्तर झगड़ा रहता था। इसमें ब्राह्मणों को अत्याचार और अपमान सहन करने पड़ते थे।

(५) इन अत्याचारों और कष्टों के कारण ब्राह्मणों में शूद्रों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। इससे ब्राह्मणों ने शूद्रों का उपनयन कराने से इंकार कर दिया।

(६) उपनयन न होने से शूद्र, जो मूलतः क्षत्रिय थे, सामाजिक रूप से पतित हो गए और उनका पद वैश्यों से भी नीचे चला गया। इस प्रकार उनका चौथा वर्ण हो गया।

शूद्र के गुण-कर्म के सम्बन्ध में भी सब विद्वानों का एक मत नहीं। आर्य समाज के कुछ विद्वान् उसे शूद्र समझते हैं जो लिखाने-पढ़ाने पर भी कुछ न सीख सके; जो मूर्ख और भोंदू हो, जो केवल शारीरिक श्रम कर सके; जो बौद्धिक कार्य के अयोग्य हो। काँगड़ी गुरुकुल के स्वर्गीय आचार्य रामदेव जी का यही मत था। इसके विपरीत कुछ विद्वान् लोहार, बढ़ई, कुम्भकार आदि शिल्पियों को भी शूद्र कहते हैं।[१] इतना ही नहीं, कुछ लोग—"*शु क्षिप्रं उन्दति*" और "*तपसे शूद्रं*" के प्रमाण से उसे शूद्र कहते हैं जो शीघ्र पसीने से गीला होता है, अर्थात् जो कठिन श्रम करता है।

मनुस्मृति आदि में ब्राह्मण के लिए शूद्र राजा[२] के राज्य में रहने का जो निषेध है, उससे यह प्रमाणित होता है कि "शूद्र" लोग राजा भी होते थे। मनु के समय में शूद्रों के यहाँ दास[३] या गुलाम होते थे।

---

१. यजुर्वेद का स्वाध्याय, अध्याय ३०, पुरुषमेध-प्रकरण, पृष्ठ १६७, लेखक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर।

और मनु. ४, २१५ और मनु ३, ६३

२. न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते॥ मनु. ४, ६१

३. दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत्। मनु. ६, १७६

शूद्रों में कुछ लोग अच्छे धनवान भी थे। क्योंकि मनु कहता है कि क्षत्रिय अपनी आपत्ति को भुजा के पराक्रम से, वैश्य तथा शूद्र धन देकर और ब्राह्मण होम करके दूर करें।[1]

ऊपर दिए प्रमाणों से यद्यपि पता लगता है कि "शूद्र" किसी अलग जाति का नाम नहीं था, वरन् गुण, कर्म, स्वभाव के कारण कोई व्यक्ति ब्राह्मण और कोई शूद्र कहलाता था, तो भी अनेक स्थलों पर ऐसे भी वचन मिलते हैं जिनसे झलकता है कि शूद्र कोई पृथक् जाति थी। उदाहरणार्थ, अष्टाध्यायी के अध्याय ४, पाद १, सूत्र ४ में "शूद्रा" का अर्थ—एक शूद्र स्त्री और "शूद्री" का अर्थ 'शूद्र की स्त्री' मिलता है। महाभाष्यकार[2] के समय में भी ब्राह्मण को बनाने वाला तप, वेद और योनि (जन्म) तीनों को माना जाता था। आचार्य क्षितिमोहन सेन[3] लिखते हैं कि "कलकत्ते के छपे हुए महाभारत के नवें अध्याय में बहुत-सी नदियों और जनपदों के नाम हैं। उस जगह आभीरादि के पश्चात् भीर-दरद, काश्मीरादि के साथ 'शूद्र' का भी

---

१. क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ॥
धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ मनु ११।३४

२, सर्वे एते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्तन्ते, ब्राह्मणः क्षत्रियो, वैश्यः शूद्रः इति। आतश्च गुणसमुदाये एवं ह्याह—
तपः श्रुतं च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारणम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥
तथा गौरः शुच्याचारः, पिङ्गलः कपिलकेशः इत्येतान् अपि अभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्तीति। पातञ्जल महाभाष्य, ५, १, ११५
(तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः)

३. "भारतवर्ष में जातिभेद," पृष्ठ २०, २१। प्रकाशक, अभिनव भारती ग्रन्थमाला, १७१—ए, हरिसन रोड, कलकत्ता।

उल्लेख है—*शूद्राभीराश्च दरदाः काश्मीराः पशुभिः सह* (भीष्मपर्व ६।६७)। द्रोणपर्व में शिवियों और शूरसेनों के साथ शूद्रों का भी उल्लेख है—*शिवयः शूरसेनाश्च मलयैः सह* (६, ६)। इसी प्रकार पुराणों में अनेक स्थानों पर आभीर आदि के साथ 'शूद्र' का भी उल्लेख पाया जाता है।"

इस से टपकता है कि भीर, दरद, आदि की भाँति शूद्र भी कोई अलग मानव-श्रेणी रही होगी। बाद को ये सब आर्यों में अन्तर्भूत हो गईं।

इस गड़बड़ का कारण यह जान पड़ता है कि स्मृतियाँ और शास्त्र, जिस रूप में ये इस समय मिलते हैं, उस रूप में वे एक समय में नहीं लिखे गए थे। मूल लेखक ने अपने ग्रन्थ में जो कुछ लिखा, बाद को उसमें दूसरे लोग मिलावट करते गये। कहते हैं, महाभारत मूल केवल चार सहस्र श्लोकों का था। पर आज उसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक हैं। प्राचीनकाल में प्रिंटिंग प्रेस नहीं था। पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं। इसलिए उनमें मिलावट करना बहुत सरल था। कहने का तात्पर्य यह कि हमारी स्मृतियाँ और धर्म-शास्त्र किसी एक समय की सामाजिक व्यवस्था का चित्र नहीं, वरन् इनमें विभिन्न कालों के रीति-रिवाजों और सामाजिक नियमों का वर्णन है। यदि मनुस्मृति को ही देखा जाय तो उसमें भी अनेक परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं। एक जगह मांस-मदिरा[1] के सेवन को पाप बताया

---

[1] वर्जयेन्मधु मांसं च। मनु. २।१७७ और

न कृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ मनु. ५-४८

अर्थात्—प्राणियों की हिंसा किए बिना मांस नहीं मिल सकता और प्राणियों को मारने से कभी स्वर्ग नहीं मिलता। इसलिए मांस न खाए।

है तो दूसरी जगह उसमें कोई दोष[1] नहीं माना। एक जगह ब्राह्मण गुण-कर्म से माना है तो दूसरी जगह जन्म[2] से। एक ही लेखक दो परस्पर विरोधी बातें नहीं कर सकता। इसलिए मानना पड़ेगा कि मनुस्मृति किसी एक समय में, किसी एक व्यक्ति ने नहीं लिखी, वरन् विभिन्न कालों के लोग अपने अपने समय में उस में श्लोक डालते रहे हैं। मनु स्वयं भी कहता है कि युगों के निकृष्ट होने के अनुसार मनुष्यों के धर्म सत्ययुग में और हैं, त्रेता में और, द्वापर में दूसरे और कलियुग के और। इतना ही नहीं, वरन् यहाँ तक भी कहा गया है कि मनु-स्मृति कलियुग[3] के लिए नहीं, वह सत्य युग के लिए है। त्रेता युग के लिए गौतम स्मृति, द्वापर के लिए शङ्ख लिखित और कलियुग के लिए पराशर स्मृति[4] है।

---

१. न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ मनु० ५, ५६

२. उत्तमांगोद्भवाद् ज्यैष्ठ्याद्ब्राह्मणश्चैवधारणात्
सर्वस्यैवास्यसर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ मनु० १, ९३ और ९९

३. अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः। मनु. १-८५

४. कृते तु मानवः धर्मास्त्रेतायां गौतम :स्मृताः।
द्वापरे शाङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥
(लघु पाराशर, अध्याय १, श्लोक २३-२४)

चौथा परिच्छेद

शास्त्र-मर्यादा

एक गुरु जी विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। एक दिन यह सोच कर कि विद्याधर सब शास्त्र पढ़ चुका है, सुन्दर है, बलिष्ठ है, गुरु जी ने अपनी सुशिक्षिता इकलौती बेटी इन्दिरा उसे ब्याह दी। गुरु जी धनवान थे, इसलिए विद्याधर को घर पर ही रख लिया।

एक दिन उन्होंने प्रेम से कहा—"बेटा, कुछ काम किया करो, निकम्मे बैठे रहना अच्छा नहीं; शास्त्राज्ञा है—*उद्योगः खलु कर्त्तव्यः।*"

दूसरे दिन सवेरे गुरु जी देव-दर्शन कर घर लौटे तो क्या देखा कि विद्याधर कुदाल लेकर घर की नींव खोद रहा है।

पूछा—"क्या कर रहे हो?"

उत्तर मिला—"उद्योग।"

"ऐसे उद्योग से तो तुम्हारा कुछ न करना ही अच्छा है।" गुरु जी ने अपना माथा ठोंका।

सुहागरात आई। इन्दिरा शृङ्गार करके सोने के कमरे में पहुँची। विद्याधर ठाट से पलंग पर बैठा था। इन्दिरा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सोचने लगा कि शास्त्र-वचनानुसार रूपवती भार्या शत्रु होती है—*भार्या रूपवती शत्रुः।* इसलिए पहले इसे कुरूपा बनाकर शत्रु के बजाय मित्र बना लेना चाहिए। नाक से ही मुख-मण्डल की सुन्दरता होती है—*नासिका मुखमण्डनम्।* इसी को साफ कर देना ठीक होगा।

परन्तु नाक को काटने के लिए शस्त्र कहाँ से आए? पान की तशतरी में सरौंता था। वही लेकर वह इन्दिरा की नाक काटने दौड़ा। इन्दिरा चिल्ला उठी। घर के लोग दौड़े आए। गुरु जी के क्रोध की सीमा न रही। उन्होंने तुरन्त धक्के मारकर विद्याधर को घर से निकाल दिया।

विद्याधर घण्टों द्वार पर खड़ा रहा। सोचता था कि शास्त्रों में लिखा है—पाँच के साथ यात्रा करनी चाहिये—*पञ्चभिः सह गन्तव्यम्।* अकेले दुकेले पथिक तो कई आए-गए, पर एक साथ पाँच कोई न मिले। थोड़ी देर में एक शव लिए चार मनुष्य जा रहे थे। उन्हीं के साथ विद्याधर हो लिया।

श्मशान में पहुँचा तो भूख लग आई। चलते समय गुरु जी ने दया करके कुछ पाथेय दे रखा था। पर उसे अकेले कैसे खाता? शास्त्र में लिखा है कि इष्टमित्रों के साथ भोजन करना चाहिए—*इष्टैश्च सह भुज्यताम्।*

वह शव को उठानेवालों से खाने के लिए आग्रह करने लगा। वे बिगड़ कर मारने के लिए दौड़ पड़े। लाचार होकर मसान के कुत्तों को ही मित्र बनाने की उसने ठानी। शास्त्र में लिखा है कि किसी के साथ सात पग चलने से ही मित्रता हो जाती है—*पदेन सप्तपदे मैत्री।* उसने कुत्तों को अपने साथ सात पग चला लिया और उनके साथ कलेवा किया।

श्मशान की नदी छिछली थी। उस पार से ऊँट पर सरकारी डाक लादे हरकारे आ रहे थे। विद्याधर ने ऊँट कभी देखा न था। सोचने लगा—यह कौन जीव है? शास्त्र में लिखा है, धर्म की चाल तेज होती है—*धर्मस्य त्वरिता गतिः।* अवश्य ये धर्मराज हैं। तब इन्हें इष्ट वस्तु अर्पण करनी चाहिए। शास्त्र में लिखा है—*इष्टं धर्मेण योजयेत्।* पर यहाँ अपने इष्ट मित्र तो केवल कुत्ते हैं।

विद्याधर ने एक कुत्ते की टाँग पकड़ कर उसे ऊँट पर उछाल दिया। कुत्ता ऊँट की गर्दन में लटक गया। ऊँट भड़का। डाक बिखर गई। हरकारे विद्याधर को पकड़ कर राजा के पास ले चले। उसने पूछा—"कहाँ लिए जा रहे हो?" हरकारों ने उत्तर दिया—"राजा के पास।"

विद्याधर को शास्त्र का वचन स्मरण हो आया कि खाली हाथ

राजा के पास नहीं जाना चाहिए—*रिक्तपाणिर्न पश्येत् राजानम्*। मार्ग में एक बकरी का बच्चा फुदक रहा था। लपक कर उसे बगल में दबा लिया। मेमने को लिए हुए राजा के निकट पहुँचने पर विद्याधर ने राजा को सब बीती घटना सुनाई और शास्त्र की दुहाई दी।

विद्याधर का भोला-भाला मुखमण्डल देखकर राजा और राज-सभासद् सब हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। राजा ने विद्याधर को भोंदू समझ कर छोड़ दिया और घर पहुँचाने की आज्ञा देते हुए कहा—"यह पढ़ा है, पर गुना नहीं*।"

जाति-भेद के विषय में भी जो लोग अपनी बुद्धि से काम न लेकर केवल शास्त्र-वचन के सहारे रहते हैं उनकी दशा भी ठीक विद्याधर की जैसी ही होती है। शास्त्र के किसी एक वचन को लेकर पल्ले बाँध लेना और देश-काल का विचार न करके उसका पालन करना कभी हितकर नहीं हो सकता।

महाभारत कहता है—

"कोई धर्म, क्या छोटा क्या मोटा, बिना हेतु के, बिना कारण के नहीं बनता। इसलिये हेतु को समझ कर धर्म करना चाहिए। हेतु से रहित, रस से रहित, लोक यात्रा नहीं करनी चाहिए। कोई धर्म आत्यन्तिक सब देश काल और अवस्था के लिए उपयोगी नहीं है। प्रत्येक धर्म अवस्था पर आश्रित है। अवस्था-भेद से धर्म-भेद होता है।" देखो महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय ३१४ श्लो. १६

फिर मनु कहता है—

"जो मनुष्य धर्म की शुद्धि चाहता है, और चाहता है कि मेरे धर्माचरण में, कर्तव्य-पालन में, भूल न हो, उसको तीन चीजों (तीन प्रमाणों), अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध प्रकार के शास्त्रों को भली भाँति जानना चाहिए।"

---

*"गृहस्थ"—काशी में, श्री गोविन्द शास्त्री दुगवेकर।

मनु का टीकाकार कुल्लूक भट्ट अपनी टीका (१२।११३) में कहता है—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥

अर्थात्—केवल किसी एक शास्त्र की पोथी पर भरोसा कर के जो धर्म का निर्णय करेगा वह भूल में पड़ेगा, धर्म की हानि करेगा।

हमने पिछले परिच्छेद में बताया था कि मनु आदि स्मृतियाँ और महाभारत प्रभृति ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति और किसी एक काल के लिखे हुए नहीं। मनु-स्मृति को आदि युग की कृति माना नहीं जा सकता। इस में बहुत-सी ऐसी जातियों के नाम मिलते हैं जिनका वेदों में पता नहीं चलता। फिर मनु की ये जातियाँ भी केवल मध्य भारत में पाई जाती हैं। इसलिए ऐतिहासिक पण्डितों का मत है कि यह पुस्तक राजा पुष्यमित्र के समय में मध्य-भारत में बनी थी।

पुष्यमित्र सुङ्ग १८४ ई० पू० में राजा बृहद्रथ मौर्य का ब्राह्मण सेनापति था। उसने विश्वासघात-पूर्वक बृहद्रथ की हत्या करके मौर्य सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। यह पहला ब्राह्मण था जो कभी किसी राजसिंहासन पर बैठा। इसके बाद से ब्राह्मणों की गिनती भी शासक वर्ग में होने लगी। मंजुश्री मूलकल्प का बौद्ध लेखक लिखता है कि सिंहासन पर बैठने के उपरान्त पुष्यमित्र ने बौद्ध मठों को गिरवा दिया, बौद्ध स्मृति-चिह्नों को नष्ट कर दिया और बड़े बड़े सच्चरित्र बौद्ध भिक्षुओं का वध करा दिया*। इस से ब्राह्मणी सत्ता एक बार फिर देश में प्रबल हो गई। सुङ्ग-सेनापति के नेतृत्व में ब्राह्मणों की इस प्रतिक्रिया को स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने

* *Jayaswal—'An Imperial History of India." pp.18.*

रूढ़िवादी अतिक्रान्ति के नाम से पुकारा है†। इस अतिक्रान्ति का पूरा चित्र हमें मानव धर्मशास्त्र में मिलता है। इसी धर्मशास्त्र को मनु-स्मृति भी कहा जाता है।

नारद-स्मृति के अनुसार मनु-स्मृति का रचियता सुमति भार्गव नामक व्यक्ति था‡। या कम से कम उसने पुरानी मनु-स्मृति में रूढ़िवादी नई व्यवस्थाएँ मिला दीं। इसी कारण मनु-स्मृति में परस्पर-विरोधी व्यवस्थाएँ मिलती हैं। जो भी व्यक्ति ध्यानपूर्वक इस मानव धर्मशास्त्र का अध्ययन करेगा उसे स्पष्ट देख पड़ेगा कि इस मनु-स्मृति ने कौटिल्य के 'अर्थ शास्त्र' और मौर्यों के शासन नियमों का सर्वथा अन्त कर दिया। इसके पन्नों में नीचे के तीन वर्णों के प्रति घृणा भरी पड़ी है। इस धर्मशास्त्र को इतना मान और इतनी प्रतिष्ठा मिलने का कारण[1] यह हो सकता है कि राजा ने इसे अपनी स्वीकृति दी थी और यह सुंग राज्य का माना हुआ व्यवस्था-शास्त्र हो गया।

मानव धर्मशास्त्र के आरम्भिक श्लोकों में ब्राह्मणों को शूद्र स्त्रियों से विवाह की अनुमति थी (३, १२, १३) परन्तु बाद के श्लोकों में यह अनुमति वापस ले ली गई (३, १४—१६)। इस में लिखा है—"इतिहास और कथाओं में कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने आपत्काल में भी शूद्र स्त्रियों से विवाह किया हो (३—१४)"। यह कितनी अनैतिहासिक बात है! पुराने इतिहास में और "अर्थशास्त्र" में असवर्ण विवाह के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। (अर्थशास्त्र, भाग ३, अध्याय ७—१६४)।

मानव धर्म शास्त्र में एक जगह लिखा है—"दासी के पुत्र उसके स्वामी की सम्पत्ति हैं" (६, ५५)। अर्थात् यह धर्मशास्त्र पशुओं और

† *Jayaswal—"Manu and Yajnavalkya." pp.40—41*

‡ *Ibid also Jolly—pp.21*

1. *Jayaswal, of cit. pp. 40—41*

दासों की सन्तान में कोई अन्तर नहीं करता। इसके विपरीत अर्थ-शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि दासीपुत्र भी "आर्य" हैं। सम्राट अशोक ने घोषणा की थी कि कानून की दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र सब बराबर हैं। परन्तु मनु-स्मृति ने सम्राट अशोक की इस व्यवस्था को रद्द कर के एक ही अपराध में ब्राह्मण और शूद्र के लिए पृथक् पृथक् दण्डों का विधान कर दिया (८, २६७, २७७; ३६६, ३७६)। "अर्थशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार शूद्रों को वेद पढ़ने और यज्ञ करने—दोनों का अधिकार था (अर्थशास्त्र, भाग, १ अध्याय १०, १६)। परन्तु मनु-स्मृति ने इस अधिकार को छीन लिया।

महाभारत में अनेक ऐसी प्रथाओं का उल्लेख है जो किसी समय अच्छी समझी जाती होंगी, पर आज उन पर चलने का साहस कट्टर से कट्टर सनातनी हिन्दू भी नहीं कर सकता। ऐसी प्रथाओं के कुछ उदाहरण आगे दिए जाते हैं।

जैसे आजकल स्त्री-पुरुष का नियमपूर्वक सभा-मण्डप में विवाह होता है और किसी दूसरे पुरुष का उस विवाहिता स्त्री से संबंध रखना निषिद्ध एवं पाप समझा जाता है, वैसी बात आदि काल में न थी। इस से अनेक बार, साँडों की भाति, पुरुषों की आपस में लड़ाइयाँ हो जाती थीं। इससे सामाजिक जीवन अशांत रहता था। इसी बुराई को दूर करने के लिए विवाह की प्रथा बनाई गई। इसके बनाने वाले उद्दालक मुनि के पुत्र श्वेतकेतु थे।

श्वेतकेतु के संबंध में कथा है कि एक दिन श्वेतकेतु ऋषि अपनी माता के पास बैठे थे। उनके पिता भी वहीं पर थे। इसी बीच एक ब्राह्मण आकर उनकी माता का हाथ पकड़ कहने लगा—"युवती, तुम मेरे साथ चलो"। अब वह ब्राह्मण, मानो, बलपूर्वक श्वेतकेतु की माता को लेकर चल दिया। इस से श्वेतकेतु को बहुत क्रोध हो आया।

श्वेतकेतु को कुपित देख उनके पिता उद्दालक ने कहा—[१]"बेटा, क्रोध न करो। अत्यन्त प्राचीन काल से यह धर्म चला आ रहा है। संसार में सभी वर्णों की स्त्रियाँ इस विषय में स्वाधीन हैं। सब मनुष्य अपने वर्ण की स्त्रियों से गाय-बैल के समान आचरण करते हैं। जो जिससे चाहे विहार कर सकता है।"

उद्दालक ने इस प्रकार पुत्र को समझाया। परन्तु श्वेतकेतु ने उस धर्म का अनुमोदन न किया। कुपित श्वेतकेतु ने स्त्री और पुरुष के लिए यह सामाजिक नियम बना दिया कि एक स्त्री एक ही पुरुष की होकर रहे।

अब सोचने की बात यह है कि यदि किसी पुरानी प्रथा को हानिकारक पाकर श्वेतकेतु बन्द कर सकते हैं और इसमें कोई सनातन धर्म नहीं डूबा, तो इस युग के हम लोग जाति-भेद को अनिष्टकर पाकर क्यों बन्द नहीं कर सकते।

दूसरा उदाहरण, एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा है। द्रौपदी[२] के पति पाँच पाण्डव थे। इसी प्रकार जटिला गौतमी[३] के सात

---

१. मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्मः सनातनः।
अनावृता हि सर्वेषां वर्णानामंगना भुवि।
यथा गावः स्थितास्तात् स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः।
महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १२३ श्लोक १४—१५

युधिष्ठिर उवाच—
२. सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति। १६७, २३।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करान्॥ १६७, २६।
महाभारत—आदिपर्व, अध्याय १६४

३. श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतांवरा॥
महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १६६, १४

पति थे और वार्क्षी* नाम की एक मुनि-कन्या ने प्रचेतस नामवाले दस भाइयों से विवाह किया था। शिमला प्रांत के कनौर प्रदेश में अब तक भी यह प्रथा है कि सब भाइयों की एक ही पत्नी होती है।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि नेत्र मूँद कर किसी धर्म-शास्त्र और स्मृति की बात पर चलने का आग्रह करना मूर्खता है। प्राचीन काल के रीति-रिवाजों में से जो जो हमें इस युग में हितकर जान पड़ें उनसे लाभ उठाना चाहिए और जो अनुपयुक्त हों उनका परित्याग करने में कुछ भी संकोच न होना चाहिए। विवाहादि के रीति-रिवाज और अनुष्ठान सनातन धर्म नहीं।

और देखिए—

"समुद्र-यात्रा, विद्यार्थी का कमण्डलु धारण करना, लम्बे सफ़र पर जाना, जहाँ से लौट कर आने की सम्भावना कम हो; गोमेध, सुरापान, अग्निहोत्र में हवि को चाटना, विवाहिता स्त्री को ग्रहण करना, द्विज होते हुए अपने से भिन्न वर्ण की लड़की से विवाह करना, देवर से सन्तान उत्पन्न करना, वानप्रस्थ हो जाना, अक्षतयोनि विवाहिता लड़की फिर किसी दूसरे को दे देना, आचार और स्वाध्याय की अपेक्षा रखते हुए पतितों से संकोच करना, हड्डियों को इकट्ठा करने के बाद अंगों को छूना, थोड़ा-सा भी अपराध होने पर ब्राह्मण को मार डालना, पापियों से संसर्ग, मधुपर्क में पशुवध, दत्तक और औरस पुत्र के अतिरिक्त दूसरे लड़कों के साथ पुत्र का सा व्यवहार करना, ब्राह्मणों का मदिरा वेचना और हिंसा करना, देर तक ब्रह्मचर्य धारण

---

*तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः।
संगताभूद्दश भ्रातृनेकनाम्नः प्रचेतसः॥
महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९८, १५

करना, नरमेध और पशुमेध यज्ञ करना, ये सब धर्म कलियुग में वर्जित हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।" †

क्या इससे प्रकट नहीं होता कि ये सब बातें पहले युगों में प्रचलित थीं ?

---

†समुद्र-यात्रा स्वीकारः कमण्डलुविधारणम् ।
महाप्रस्थान-गमने गो-पशुश्च सुराग्रहः ॥
अग्निहोत्रहविषश्च लेहो लीढा परिग्रहः ।
असवर्णासु कन्यासु विवाहश्च द्विजातिषु ॥
देवरेण सुतोत्पत्तिर्वानप्रस्थाश्रमग्रहः ।
दत्ताक्षतायाःकन्यायाः पुनर्दानं परस्य च ॥
वृत्तस्वाध्यायसापेक्षमघः संकोचं तथा ।
अस्थिसंचयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शनमेव च ॥
प्रायश्चित्ताभिधानञ्च विप्राणां मारणं तथा ।
संसर्ग-दोष पापेषु मधुपर्के पशोर्वधः ॥
दत्तौरसेतरेषान्तु पुत्रत्वेन परिग्रहः ।
शामित्रं चैव विप्राणां सोम-विक्रयणं तथा ॥
दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ ।
कलौयुगे त्विमान्धर्मान्वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥

बृहत् नारदीय पुराण

पाँचवाँ परिच्छेद

ब्राह्मणी सत्ता का इतिहास

हम पीछे लिख आए हैं कि सत्ययुग में कोई वर्ण-भेद और आश्रम-भेद न था और इसलिए वर्णसंकरता का प्रश्न ही उत्पन्न न होता था। कालांतर में ब्राह्मण और क्षत्रिय दो भिन्न भिन्न वर्ण प्रकट हुए। पर तब भी वे आजकल की भाँति जन्म से नहीं, वरन् गुण-कर्म से या चरित्रगत थे। ब्राह्मण कहलानेवाला व्यक्ति क्षत्रिय बन सकता था और क्षत्रिय कहलाने वाला ब्राह्मण। इस प्रकार वर्ण-परिवर्तन करने वाले अनेक लोगों के नाम पुराणों में मिलते हैं। उन में से कुछ नाम आगे दिए जाते हैं। भविष्य महापुराण, ब्राह्मपर्व अध्याय ४२ में लिखा है—

"व्यास आदि मुनि आचार से अच्छे थे। इसलिए गर्भाधान आदि संस्कार न होने पर भी सब लोग उन्हें पूज्य समझते थे और वे अच्छे ब्राह्मण बन गये। इस प्रकार नीच कुल में उत्पन्न होकर भी उच्चवर्ण में पहुँचने वाले बहुत हैं। उन में से कुछ इस प्रकार हैं। कैवर्त (कहार) स्त्री से व्यासजी का जन्म है। श्वपाक (चाण्डाल) स्त्री से पराशर मुनि का। शुकी से शुक, उलूकी से कणाद और हिरणी से शृङ्ग ऋषि हुए। गणिका (वेश्या) से वसिष्ठ हुए। मुनियों में श्रेष्ठ मन्दपाल मुनि लाविका से हुए। मण्डुकी से माण्डव्य हुए। पर तप के प्रताप से वे सब ब्राह्मण बन गये।"

वायुपुराण (६१।११५–११७) में भी ऐसे महात्माओं की एक सूची मिलती है जिन का जन्म यद्यपि क्षत्रिय वंश में हुआ पर तपोबल से वे ब्राह्मण बन गये—विश्वामित्र, मांधाता, संकृति, कपि, पुरुकुत्स, सत्य, अनूहवान्, ऋथू, आर्ष्टिषेण, अजमीढ़, कक्षीव, शिंजय, रथीतर,

विष्णुवृद्ध, इत्यादि। इसी प्रकार राजा गृत्समद के पुत्र शौनक थे। शौनक के वंश में चारों ही वर्णों के लोग उत्पन्न हुए (वायुपुराण ६२।४-५)। वहाँ स्पष्ट कहा है कि शौनक और आर्ष्टिषेण क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए ब्राह्मण हैं (वही ६)। दिव्य भरद्वाज ब्राह्मण से क्षत्रिय हो गए (वायु पुराण ६६। १५७)। गार्ग्य का जन्म क्षत्रिय वंश में हुआ था पर वे ब्राह्मण हो गए थे (६६-१६१)। क्षत्रिय कंठ का पुत्र मेधातिथि था। इन से कण्ठायन ब्राह्मण हुए (६६–१७०)। राजा दिवोदास का पुत्र ब्रह्मिष्ठ मित्रयु राजा था। इसकी सन्तान जन्म से क्षत्रिय होकर भी तपोबल से ब्राह्मण हो गई (वही २०७)।

बलि के पाँच पुत्र थे। उन के नाम थे अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र, और कलिङ्ग "बालेय" अर्थात् वे बलि के वंश के क्षत्रिय कहलाते थे। बालेय ब्राह्मण इन्हीं की सन्तान हैं (हरिवंश पुराण ३१–१६८४, १६८५)।

विष्णु पुराण से पता लगता है कि वसिष्ठ के परामर्श से राजा सगर ने यवनों और पह्लवों आदि को हराने के बाद यवनों का सारा सिर, शकों का आधा सिर मुँडाकर, पह्लवों को दाढ़ी रखवाकर, पारदों के लम्बे बाल बढ़वाकर इन्हें और दूसरे क्षत्रियों को स्वाध्याय और वषट्कार से वंचित करके दण्ड[1] दिया था। इस तरह जब ब्राह्मणों का मेल-जोल उनसे बन्द हो गया तो वे म्लेच्छ हो गए[2]। इस प्रकार संस्कृति से शून्य हो जाने से वे लोग जीवन्मृत से हो गए। फिर महाभारत, शान्ति-पर्व, अध्याय, २९६ में लिखा है—"पराशर मुनि ने जनक राजा से कहा—हे राजन्, नीच कुल में जन्म होने पर भी तपस्या के बल से

१. यवनान् मुंडितशिरसः अर्द्धमुंडान् शकान् प्रलंबकेशान् पारदान् पह्लवांश्चश्मश्रुधरान् निःस्वाध्यायवषट्कारान् एतानन्यांश्च क्षत्रियांश्चकार।

(विष्णुपुराण ४, ३, २१)

२. ते च निज धर्म-परित्यागाद् ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः।

उच्च पद मिल सकता है। उनके मुनियों ने जहाँ जी चाहा वहीं पुत्र उत्पन्न किए और उन्हें तप के बल से ऋषि बनाया। मेरे नाना शृङ्ग ऋषि, कश्यप, वेद, ताण्ड्य, कृप, कक्षीवान, कमठादि ऋषि, यवक्रीत, द्रोण, आयु, मतङ्ग, दत्त, द्रुमद, मात्स्य आदि सब ऋषि नीच कुलमें उत्पन्न हुए थे। इन पर भी तप के आश्रय और वेदों के अध्ययन से वे श्रेष्ठता को प्राप्त कर सके।"

ब्राह्मण रजस ऋषि की ब्राह्मणी पत्नी मार्कण्डेयी से केतुमान् पुत्र हुए जो राजन्य (क्षत्रिय) हो गए। (वायु पुराण अध्याय २७), चित्रमुख नामक वैश्य वसिष्ठ की सहायता से ब्राह्मण हो गया और उस की बेटी वसिष्ठ के पौत्र पराशर को ब्याह दी गई (अनुशासन पर्व, अध्याय ३५)। वीतहव्य (क्षत्रिय) भृगु की सहायता से ब्राह्मण हो गया (अध्याय ७)।

भागवत पुराण स्कंध ६ में लिखा है—

"क्षत्रिय राजा पृषध्र शूद्र हो गया। क्षत्रिय राजा धृष्ट के वंशज ब्राह्मण हो गए। राजा दिष्ट का एक लड़का नाभाग वैश्य हो गया। शर्याति राजा उत्तम ब्राह्मण हो गए। दुरितक्षय क्षत्रिय के पुत्र ब्राह्मण हो गए। राजा ऋषभदेव के पुत्र राजा भरत के इक्यासी सगे भाई ब्राह्मण हो गये।"

हरिवंश पुराण, अध्याय ३२ में कहा है—"एक ही भार्गव वंश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (विभिन्न वर्णों के) पुत्र उत्पन्न हुए। ऐतरेय महिदास शूद्री का पुत्र था। आगे चलकर वह वेद जानने वाला ब्राह्मण हुआ। उसने वेद के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण नामक ग्रन्थ लिखा। वह इतर अर्थात् अब्राह्मण का पुत्र था। इसी लिए ऐतरेय कहलाया। मालूम नहीं उसका पिता कौन था।"

ब्रह्मपुराण कहता है कि ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है (२५३।५४) और पवित्र काम करने वाले शूद्र की भी ब्राह्मण॰ सेवा करेगा, स्वयं ब्रह्मा का यह मत है (५५)।

और भी कहा है—"जाति, संस्कार, श्रुति और स्मृति से कोई द्विज नहीं होता, न केवल चरित्र से ही होता है। इस लोक में चरित्र से ही सब के ब्राह्मणत्व का विधान है। सद्वृत में स्थित शूद्र भी ब्राह्मणता को प्राप्त होता है। ब्राह्मण वही है जिस में निर्मल, निर्गुण ब्रह्मज्ञान है।" (ब्रह्मपुराण, २२३–५६–५८)।

कृष्ण यजुर्वेद कहता है—ब्राह्मण के माता-पिता को क्यों पूछते हो। यदि उस में श्रुत है तो वही उसका पिता है, वही पितामह।" काठक संहिता ३०।१।

यही बात महाभारत में इस प्रकार कही गई है—"कुल या वीर्य से कोई ब्राह्मण नहीं होता। चाण्डाल में भी यदि वृत्त हो तो हे युधिष्ठिर, वह ब्राह्मण† है।" "वज्रसूची"[1] कहती है कि जन्म से मनुष्य शूद्र होता है, संस्कार से ही वह द्विज कहलाता है; वेदाभ्यास से विप्र और ब्रह्मज्ञान से ब्राह्मण बनता है।

मनु[2] अध्याय ११ श्लोक ९८ की टीका करता हुआ कुल्लूक भट्ट कहता है कि एक बार भी मदिरा पीने से ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार व्यास स्मृति कहती है—"काठ का बना हाथी, चमड़े

---

† न कुलेन न जात्या च क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्।
चाण्डालोऽपि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर॥

१. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते
वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।

२. सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः॥

मनु० ११–९१

का बना मृग और अपढ़ ब्राह्मण, ये तीनों नाम मात्र के होते हैं।" मनु[1] भी यही कहता है।

ऊपर दिए वचनों से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि आदि काल में वर्ण-व्यवस्था जन्म से नहीं, वरन् गुण-कर्म से थी और जैसा आजकल है वैसा वर्णान्तर तब असंभव न था। तब शूद्र पिता के घर जन्म लेने वाला बालक अपने उत्तम गुणों के प्रताप से ब्राह्मण हो सकता था और ब्राह्मण पिता के यहाँ जन्म लेनेवाला बालक, दुर्गुणी होने से, शूद्र हो जाता था। दूसरी बात यह कि महाभारत, पुराणों और स्मृतियों के समय में वर्णों का लचीलापन नष्ट होता जा रहा था और वर्ण जन्म से ही माने जाने लगे थे। तभी तो इन पुस्तकों में कहने की आवश्यकता हुई कि अपढ़ ब्राह्मण काठ के घोड़े के सदृश केवल नाम का होता है या कुल और वीर्य से कोई ब्राह्मण नहीं होता।

बात वास्तव में यह है कि आजकल के समाजवाद और साम्यवाद के सदृश वर्ण-व्यवस्था भी एक प्रयोग मात्र था। खेद है कि वह बहुत बुरी तरह विफल हुआ। इस विफलता का इतिहास[2] श्रीयुत रमेशनन्दन सहाय एम. ए. ने अपने एक लेख में बड़े सुन्दर ढंग से लिखा है। वही आगे दिया जा रहा है :—

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एक ही विराट् पुरुष के विभिन्न अवयवों से उत्पन्न हुए बताए गए हैं। वे सब एक ही समाज के विभिन्न अंग हैं। जैसे मनुष्य अपने विभिन्न अवयवों द्वारा अपना सब काम कर लेता है, वैसे ही समाज ने भी विभिन्न जातियों को विभिन्न कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा।

---

१. यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥
मनु० २--१५७

२. "क्रान्ति"—लाहौर, नवम्बर १६३०

किन्तु फिर भी सभी एक ही समाज के अंग बने रहे। भेद नाम मात्र था। मनुष्य का मुख उसके शरीर से अलग नहीं कहा जा सकता। एक परिवार में कोई स्त्री रसोई बनाती है, कोई घर की सफ़ाई का ध्यान रखती है, कोई खाद्य पदार्थों को सँभालती है। परन्तु इस से यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उनके पद या प्रतिष्ठा में कोई भेद है। इसलिए प्राचीन काल में वर्णों की उत्पत्ति के उपरान्त भी आपस में ईर्ष्या-द्वेष और फूट का बीज नहीं बोया गया था।

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता

परन्तु भारतवर्ष में प्राचीन काल से धर्म का पद ऊँचा रहा है। सब धार्मिक बातों को यहाँ के लोग दूसरी सब बातों से श्रेष्ठ समझते आए हैं। इसलिए बाद को ब्राह्मण लोग, जिन्हें देवताओं की स्तुति का काम सौंपा गया था, पूजनीय समझे जाने लगे। धीरे धीरे वे भी अपनी उच्च स्थिति का अनुभव करने लगे। ये लोग अब समझने लगे कि समाज में शिरोमणि हो जाना हमारे लिए कोई बड़ी बात नहीं है। अनायास मिलते हुए पद और प्रतिष्ठा का परित्याग करना भी कोई बुद्धिमत्ता नहीं। अतएव अब वे लोग अपने प्रभुत्व की धाक जमाने का प्रयत्न करने लगे। किन्तु क्षत्रिय लोग भी उनसे किसी प्रकार कम नहीं थे। उन्हें यह बात क्यों गवारा होती? वे अपने आप को तुच्छ मानने को कब तैयार थे? इसलिए इसी बात को लेकर आपस का एक झगड़ा उठ खड़ा हुआ।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों में परस्पर विरोध

जब तक समाज में जीवन और उत्साह बना रहा, वह पुरोहित-शाही की जड़ों पर कुल्हाड़ा चलाने और अपने छिने हुए अधिकारों को फिर से प्राप्त करने का बार बार उद्योग करता रहा। रामायण और महाभारत के कालों में भी ऐसे प्रयत्नों की बात पाई जाती है। फिर आगे चलकर बौद्ध धर्म का प्रवर्तन और प्रचार करके क्षत्रियों ने

ब्राह्मणी प्रभुत्व को बिलकुल जड़ से उखाड़ फेंकने का पुनः प्रबल प्रयत्न किया। पर ब्राह्मणों के चातुर्य और बुद्धिमत्ता के सामने उनकी एक न चली। अन्त में सिर झुकाना ही पड़ा। ब्राह्मणों ने स्वयं बुद्ध को विष्णु का अवतार मान और उनके सिद्धांतों को अपने धर्म में सम्मिलित करके बौद्ध मत को भारत से सदा के लिए बाहर ही निकाल दिया। बुद्ध-धर्म के पतन के उपरांत ऐसे प्रयत्न समाप्त हो गए और अन्ततः ब्राह्मणी सत्ता ने पूर्ण रूप से सारे भारत पर अपना अधिकार जमा लिया।

"महाभारत-मीमांसा" ने भी इसी बात का समर्थन किया है। उसके छठे परिच्छेद में लिखा है, "......परन्तु आरम्भ में क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की यह बात चलने न दी। वसिष्ठ और विश्वामित्र के विवाद से प्रकट होता है कि क्षत्रियों ने इस के बारे में खूब झगड़ा किया। ......किंतु मतलब इस का एक ही है। ब्राह्मणों की यह माँग थी कि ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण हो और क्षत्रिय का बेटा क्षत्रिय। पर विश्वामित्र की माँग यह थी कि क्षत्रिय के बेटे ने यदि अपनी बुद्धि एवं योग्यता को बढ़ा लिया हो तो उसके ब्राह्मण होने में क्यों रुकावट है?"

"महाभारत-मीमांसा" के मतानुसार यह प्रतिस्पर्धा बहुत प्राचीन काल से ही आरम्भ हो गई थी। विश्वामित्र की कथा सूर्यवंशी क्षत्रियों के समय और पंजाब प्रदेश की है। पर फिर भी महाभारत-काल तक ब्राह्मणों की कट्टरता पूर्ण उन्नति को प्राप्त नहीं हुई थी। यद्यपि भेद-भाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था, तो भी अभी तक आपस में भाई-चारे का सम्बन्ध भंग नहीं हुआ था। अभी तक ब्राह्मणों और क्षत्रियों को प्रायः समान अधिकार प्राप्त थे और सभी ज्ञान-प्राप्ति और वेद-शास्त्राध्ययन के एक समान अधिकारी समझे जाते थे।

वर्ण नहीं, वरन् ज्ञान एवं सत्य की मर्यादा

अभी तक दूसरी जातियों के लोग अपनी योग्यता, शालीनता और सदाचार के द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित इलूष-पुत्र कवष की कथा इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है। कवष को ऋषियों ने धूर्त, अब्राह्मण और दासी-पुत्र कहकर यज्ञ से निकाल दिया था। उन्होंने उसे दीक्षा देने से इंकार कर दिया था। किंतु कवष का देवताओं से परिचय था। देवगण कवष को जानते थे। अर्थात् कवष ज्ञानी, विद्वान् एवं धर्मात्मा था। इसलिये कवष महर्षि बना लिया गया। इसी बात के समर्थन में छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित सत्यकाम जाबाल की कथा से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि उन दिनों सत्य और भक्ति के द्वारा ही मनुष्य उन्नति एवं प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता था। जात-पाँत का भाव उसके मार्ग में बाधा नहीं डाल सकता था।

छान्दोग्योपनिषद् के चौथे प्रपाठक के चौथे खण्ड में वह कथा इस प्रकार दी गई है—

जाबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता से कहा—"माँ, मैं ब्रह्मचर्य आश्रम ग्रहण करना चाहता हूँ। मुझे मेरा गोत्र बता दो।"

माता ने कहा—"बेटा, मैं नहीं जानती, तुम किस कुल के हो। युवावस्था में जब मैं दासी के सदृश जीवन बिताती थी, मैंने तुम्हें गर्भ में धारण किया। मैं नहीं जानती तुम्हारा गोत्र क्या है। मेरा नाम जाबाला है; तुम सत्यकाम हो। इसलिये अपने को सत्यकाम जाबाल कहना।"

सत्यकाम गौतम नाम वाले हरिद्रमान के पुत्र हारिद्रमत के पास गया और उनसे बोला—"आर्य, मैं ब्रह्मचारी बनना चाहता हूँ; क्या आपकी शरण में आ सकता हूँ ?"

हारिद्रुमत ने पूछा—"बेटा, तुमने किस गोत्र में जन्म लिया है ?"

सत्यकाम ने उत्तर दिया—"आर्य, मैं किस कुल का हूँ, यह नहीं जानता। मैंने अपनी माता से पूछा तो उसने उत्तर दिया कि यौवनकाल में जब वह प्रायः दासी जैसी, अपने पिता के यहाँ आए हुए अतिथियों की परिचर्या किया करती थी, तब उसने मुझे गर्भ में पाया। वह नहीं कह सकती कि मैं किस कुल का हूँ। उस का नाम जाबाला है और मैं सत्यकाम हूँ। इसलिये आर्य, मैं सत्यकाम जाबाल हुआ।"

हारिद्रुमत ने कहा—"सच्चे ब्राह्मण के सिवा और कोई ऐसी सच्ची बात नहीं कह सकता। जाओ सौम्य, समिधा लाओ; मैं तुम्हें उपनीत करूँगा इसलिये कि तुम सत्य से भ्रष्ट* नहीं हुए।"

अतएव महर्षि द्वारा दीक्षित होकर, उस लड़के ने, जिस के कुल और चरित्र का कुछ पता न था, ब्राह्मण के ज्ञान को प्राप्त किया और अन्त में महाराज दशरथ के प्रधान ऋत्विजों में परिगणित हो, ब्राह्मण श्रेष्ठ की उपाधि से सुशोभित हुआ।

भेद-भाव आरम्भ हो जाने पर भी अभी तक जाति-भेद को तोड़ने में कट्टरता और संकीर्णता नहीं आई थी। पर दिन पर दिन यह भेदभाव बढ़ता ही गया और आपस का विरोध बल पकड़ता गया। यहाँ तक कि रामायण और महाभारत का काल समाप्त होते ही हम जाति-बन्धन को सुदृढ़ और अटूट पाते हैं। महाभारत के पहले और बाद की सामाजिक अवस्था में हम आकाश-पाताल का सा अन्तर पाते हैं।

धर्म की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ में थी। ये लोग सम्मान और पूजा के आसन पर बैठा दिए गए थे। धार्मिक विषयों से सम्बन्ध रखने के कारण समाज इनको सम्मान की दृष्टि से देखने लग गया था। यद्यपि क्षत्रिय लोग किसी प्रकार इनसे कम नहीं थे, वरन् कितनी

*तं होवाच नैतद् ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधं सौम्याहरोपत्वा नेष्ये न सत्यादगा इति। छान्दोग्य ४।४।५

ही बातों में इन से बढ़े-चढ़े ही थे, पर धर्म की ध्वजा इनके हाथ रहने के कारण वे पूरी तरह इनका सामना न कर सकते थे। इसी से झगड़ा आरम्भ होने पर भी क्षत्रियों को मुँह की खानी पड़ती थी।

ब्राह्मणों की युक्ति

ब्राह्मणों ने भी अपनी स्थिति को पूर्ण रूप से समझ लिया था। वे जानते थे कि उनके पास एक ऐसी शक्ति है, एक ऐसा अस्त्र है, जिस के सामने कोई भी खड़ा नहीं रह सकता। वे समझते थे कि एक बार धर्म की दोहाई देने पर धर्म-भीरू जनता जिह्वा नहीं हिला सकती। परन्तु फिर भी इस सदा के रगड़े-झगड़े को एकदम ही मिटा देना इन लोगों ने आवश्यक समझा। इसका उपाय भी इन लोगों ने बहुत अच्छा सोच निकाला। धर्म की बागडोर इनके हाथ में थी ही, उसे ही इन लोगों ने इस प्रकार हिलाना आरम्भ किया कि अन्त में सब से जुदा होकर अपना सब से ऊँचा वर्ण प्रतिष्ठित कर ही लिया। यह प्रयास महाभारत-काल के समाप्त होते होते किया गया था। इसी के फल-स्वरूप ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई।

ब्राह्मण-साहित्य का रूप

उस काल का साहित्य जटिल धार्मिक विधानों और अनुष्ठानों से परिपूर्ण है। वेदों से यज्ञों के आवश्यक स्तोत्र चुन लिए गए। वैदिक काल की सरल धार्मिक पद्धति कठिन और अनावश्यक रूप से लम्बी बना दी गई। सरल और स्वाभाविक देव-पूजा के स्थान में बड़ेबड़े आडम्बरयुक्त यज्ञ और अग्निहोत्र प्रचलित किए गए। यज्ञों में अनेक प्रकार की जटिलताएँ डाली गईं। उन्हें भारी व्यय की चीज़ बना दिया गया और एक प्रदर्शन से बढ़कर उन्हें समझा जाने लगा। प्रतीत ऐसा होता था मानों अनावश्यक और जटिल अनुष्ठानों के अतिरिक्त धर्म कोई दूसरी शिक्षा दे ही नहीं सकता। परिणाम यह हुआ कि धार्मिक बातें सर्व-साधारण की समझ से

बाहर की चीज़ हो गई, और जनता को धार्मिक बातों से हाथ खींच लेने पर विवश होना पड़ा। जब तक सारी आयु न लगा दी जाय उन धार्मिक विधानों और अनुष्ठानों में पारंगत होना असंभव था। ये यज्ञ वही करा सकते थे जो जन्म-काल से उन्हें देखते आए हों और इस विषय का मनन और अभ्यास करते रहे हों। इसलिए देखते देखते ब्राह्मणों का सिक्का जमने लगा। लोग अपनी धर्म-संबंधी स्वाधीनता खोने लगे।

क्षत्रियों का प्रयास

परन्तु सौभाग्य से उस समय विदेह आदि ज्ञानी और बुद्धिमान् राजर्षियों का भी अभाव न था। वे लोग इस प्रकार के व्यर्थ और अरुचिकर अनुष्ठानों और विधानों की उन्नति होते कहाँ तक देख सकते थे। साहित्य की रद्दी और हास्यजनक दशा को देख वे अशान्त हो उठे और गम्भीर चिन्ता में निमग्न हो गए। उन लोगों ने स्पष्ट रूप से देख लिया कि धर्म-ज्ञान के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं। अतएव वे उच्च एवं उत्कृष्ट चिन्तन में लीन हो गए। वास्तविक सत्य की खोज में उनकी आत्मा निरत हो गई। परब्रह्म परमात्मा का सच्चा स्वरूप और आत्म-तत्व को जानने के लिए वे अधीर हो उठे और सोच-विचार और मनन-निदिध्यासन में लग गए। विद्या के महार्णव में डुबकी लगाकर वे ज्ञान-रत्न को खोजने लगे।

उपनिषदों की रचना और महत्त्व

उनके नवीन सिद्धान्त और विचार इतने ठोस, सारगर्भित और आश्चर्यजनक निकले कि अपने आप में अभिमान से फूले न समाने वाले ब्राह्मणों को उनका महत्त्व स्वीकार करना ही पड़ा। और नव-प्राप्त ज्ञान के उपार्जन के लिए क्षत्रियों का शिष्यत्व ग्रहण करना पड़ा। महाभारत-काल का प्रायः अन्त होते होते राजर्षि के खोज किए हुए

नवीन ज्ञान ने संसार भर को चकित तथा स्तम्भित कर दिया। प्राचीन भारतीय साहित्य में उपनिषदों का ही स्थान प्रायः सब से ऊँचा है। संसार की शायद किसी भी भाषा के साहित्य में इतने ऊँचे दार्शनिक विचारों वाली सर्वगुण-संपन्न और विद्वत्तापूर्ण पुस्तक नहीं मिल सकतीं। बड़े विस्मय की बात है कि ऐसी अनुपम और बहु-मूल्य पुस्तकों को लिखने का श्रेय क्षत्रियों को, विशेषतः, राजा जनक को ही प्राप्त हुआ। ये क्षत्रिय वे थे जिन का प्रधान कर्म प्राचीन काल से केवल लड़ाई-भिड़ाई, कूटनीति, और रक्षा-रखवाली ही रहा था। ऐसे ज्ञान-भाण्डार का उद्घाटन तो अध्यात्म एवं बुद्धि के रक्षकों के ही हाथों होना उचित था। पर जिस महत्त्व और गुरुता को वे लोग सहस्रों ग्रन्थ बनाकर भी न प्राप्त कर सके उसे क्षत्रियों ने केवल इसी एक उपनिषद् की रचना करके प्राप्त कर लिया। यह पुस्तक भारत के प्राचीन साहित्य की शिरोमणि हो गई। इस ने संसार में भारतीय साहित्य का मस्तक ऊँचा किया।

ऊपर जो बातें लिखी गई हैं वे निराधार और कोरी कल्पना नहीं। तत्कालीन क्षत्रियों द्वारा आविष्कृत उच्च ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए सैनिक जाति की शरण में जाने वाले सैकड़ों ब्राह्मणों के उदाहरण उपनिषदों में मिलते हैं। उनमें से केवल दो चार का देना ही यहाँ पर्याप्त होगा।

क्षत्रियों के महत्त्व के कुछ प्रमाण

एक दिन नवागत तीन ब्राह्मणों से जनकराज की भेंट हुई। उनके नाम श्वेतकेतु आरुणेय, सोम-शुष्म सात्ययज्ञि और याज्ञवल्क्य थे। जनक ने उनसे अग्निहोत्र करने की विधि पूछी। सभी ने यथासंभव बतलाने का यत्न किया। पर कोई भी सफल न हुआ। याज्ञवल्क्य का उत्तर थोड़ा बहुत ठीक था—बहुत थोड़ी भूल रह गई थी। जनक उन लोगों को यह विधि बतलाकर रथ पर जा चढ़े और चले गए।

पुरोहितों ने सोचा कि इस उद्दण्ड राजा ने हमारा तिरस्कार किया है। इसलिए याज्ञवल्क्य भी अपने रथ पर चढ़ कर जनक के पीछे चल पड़े। परन्तु अन्त में जनक से अपनी भूल का पता लग जाने पर उन्हें लौट आना पड़ा।—शतपथ ब्राह्मण ११, ६, २.

फिर छान्दोग्योपनिषद् के पाँचवें प्रपाठक के तीसरे खण्ड में उपर्युक्त श्वेतकेतु आरुणेय की एक और कथा भी पाई जाती है।

जब श्वेतकेतु आरुणेय पाँचालों की सभा में गया तो प्रवाहण जैवलि ने उस से पूछा—"कुमार, क्या तुम्हारे पिता ने तुम को शिक्षा दी है?"

आरुणेय—"जी हाँ।"

जैवलि—"क्या तुम जानते हो यहाँ से मनुष्य कहाँ जाते हैं?"

आरुणेय—"जी नहीं।"

जैबलि—"क्या तुम बतला सकते हो फिर वे यहाँ किस प्रकार लौटते हैं?"

आरुणेय—"जी नहीं।"

ऐसे ही और दो एक प्रश्नों का उत्तर भी "नहीं" पाकर वह बोल उठा—"तब तुम अपने को सुशिक्षित क्यों कहते हो? जो व्यक्ति इन सब बातों को नहीं जानता वह सुशिक्षित कैसे कहला सकता है?"

अन्त में आरुणेय बहुत दुःखी हो अपने पिता के पास लौट गया और कहने लगा—"पिता, मुझे शिक्षा न देकर यों ही आपने मुझ से कह दिया कि मैं सुशिक्षित हो गया हूँ। अन्त में उस धृष्ट राजा ने मुझ से पाँच प्रश्न पूछे, किन्तु मैं एक का भी उत्तर न दे सका।"

पूछे हुए पाँच प्रश्नों को सुन कर पिता ने कहा—"बेटा, मैं आप ही इन प्रश्नों में से एक का भी उत्तर नहीं दे सकता। इन प्रश्नों ने तो मेरी बुद्धि चक्कर में डाल दी है। यदि मैं इन विषयों के संबन्ध में कुछ भी जानता होता तो फिर भला कहो, तुम्हें कैसे न बतलाता?"

अन्त में कुश हाथ में लेकर पिता-पुत्र दोनों दुबारा जैबलि के

पास गए। उन्होंने उपर्युक्त ज्ञान प्राप्त करने के लिए उससे प्रार्थना की। पहले तो जैबलि टाल-मटोल करता रहा और घबराया। परन्तु अन्त में बहुत आग्रह करने पर उसने गौतम (श्वेतकेतु के पिता) से कहा—

"महर्षि, आप कुछ दिन मेरे पास ठहरिए, मैं आप को उस विद्या की शिक्षा दूँगा। पर आज से पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास कभी नहीं गई थी। अभी तक यह विद्या केवल क्षत्रियों की ही संपत्ति समझी जाती है।"

इतना कह कर गौतम को उसने आत्मा के स्वरूप, परमात्मा के साथ उस के संबन्ध इत्यादि की सविस्तर व्याख्या हृदयंगम करा दी। ये सब बातें पाँचवें प्रपाठक में चौथे से दशवें खण्ड तक मिलती है।

फिर ग्याहरवें खण्ड में इसी प्रकार की एक दूसरी कथा पाई जाती है। उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवि का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का पुत्र जन, और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल नाम के पाँच वेदांती आत्मा के स्वरूप का परिचय और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिये उद्दालक आरुणेय के पास गये। परन्तु उद्दालक ऋषि उनका शङ्का-समाधान करने में असमर्थ था। इसलिए वह उन लोगों को कैकेय अश्वपति के पास ले गया। अश्वपति राजा ने बड़े सम्मान के साथ उनको अपने राज्य में रख कर ज्ञान की दीक्षा दी। यह कथा बड़े विस्तार के साथ छान्दोग्योपनिषद् में कही गई है और शतपथ ब्राह्मण में भी पाई जाती है।

श्वेतकेतु आरुणेय की एक और कथा कौषीतकी उपनिषद् के पहले अध्याय में मिलती है—

चित्रगार्ग्यायणि ने एक यज्ञ में उद्दालक आरुणेय (गौतम) को अपना आचार्य नियुक्त किया। आरुणेय ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को यह काम

सौंप दिया। पर बेचारा श्वेतकेतु तो चित्र के एक ही प्रश्न से घबरा गया। वह इसका उत्तर पूछने के लिए अपने पिता के पास गया। उद्दालक भी इसका उत्तर देने में असमर्थ था। इसलिये हाथ में कुशा ले, ज्ञान-भिखारी बन वे दोनों चित्र के पास आए। चित्र ने उन्हें मरने के पश्चात् आत्मा के स्वरूप, गति और अनुभव के विषय और पुनर्जन्म के सिद्धांत की सविस्तर व्याख्या सुनाई।

पाठकों को आश्चर्य होगा कि पुनर्जन्म का सिद्धांत भी क्षत्रियों ने ही मालूम किया था। श्वेतकेतु के पहले कोई भी ब्राह्मण इस सिद्धांत के संबंध में कुछ नहीं जानता था।

इसी प्रकार गार्ग्य बालाकि नाम के आत्मश्लाघा करनेवाले घमंडी ब्राह्मण के अजातशत्रु से हार खाने और कुशा लेकर उस राजा के शिष्य बनने की कथा कौषीतकी उपनिषद् के चौथे अध्याय में कही गई है।

क्षत्रियों का गौरव

ऐसी कितनी ही कथाएँ बृहदारण्यक और केन आदि उपनिषदों में भी पाई जाती है। उन सब का यहाँ उद्धृत करना व्यर्थ होगा। उपर्युक्त कथाओं से ही महाभारत-काल के क्षत्रियों की मानसिक योग्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। हम तो समझते हैं, इतनी ही बात, उस समय क्षत्रियों को समाज में जो गौरव प्राप्त था उसे प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त होगी।

इतना ही नहीं हमारा मस्तिष्क तो वेदों की व्यवस्था करनेवाले व्यास के वर्ण का निश्चय करने में भी चकरा जाता है। समझ में नहीं आता कि कृष्णद्वैपायन को ब्राह्मण माना जाय या क्षत्रिय। द्वैपायन का जन्म महाराज शन्तनु की पत्नी सत्यवती और पराशर ऋषि के समागम से हुआ था। और उसी से उत्पन्न विचित्रवीर्य की

पत्नी अम्बिका और अम्बालिका के पुत्र पाण्डु और धृतराष्ट्र क्षत्रिय समझे जाने लगे।

"हिन्दी शब्द सागर" के मतानुसार तो यही व्यासदेव उत्तर मीमांसा के भी रचयिता थे। फिर सांख्य के रचयिता कपिल के क्षत्रिय होने में तो कोई सन्देह ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदास ने तो रामायण में वंशावली ही दे दी है। इसलिए देखा जाता है कि दर्शन भी अधिकतर क्षत्रियों की ही रचना हैं। सारांश यह कि उस काल के क्षत्रिय विद्या-बुद्धि में सब से बढ़े हुए थे। सबका तेज उनके सामने फीका पड़ गया था। सभी को उनके सामने सिर झुकाना पड़ा था।

बौद्धकाल में ब्राह्मणों की दशा

यह तो महाभारत-काल का चित्र था। पर यहीं ब्राह्मणों और क्षत्रियों के पारस्परिक कलह का अन्त नहीं हुआ। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, बौद्ध मत फैला कर क्षत्रियों ने फिर से एक बार ब्राह्मणी सत्ता को छिन्न-भिन्न कर डालने का प्रबल प्रयत्न किया। बौद्ध काल में क्षत्रिय लोग अपने को अध्यात्म गुरु कहने और ब्राह्मणों से अधिक प्रतिष्ठित समझने लगे। उस समय का साहित्य ब्राह्मणों की निंदा से भरा हुआ है। सब कहीं क्षत्रियों की बड़ाई की गई है और ब्राह्मणों का उल्लेख अपमानजनक शब्दों में किया गया है। "जातक कथाओं" में क्षत्रिय लोग सब वर्णों से ऊँचे समझे गए हैं और ब्राह्मणों के लिए "नीच ब्राह्मण" "तुच्छ ब्राह्मण" आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।—देखो "बौद्ध कालीन भारत" अध्याय ग्यारह।

"तित्तर जातक" में एक कथा है। एक बार बुद्धदेव ने भिक्षुओं की सभा में पूछा, "सब से अधिक और सबसे पहले किस का सम्मान होना चाहिए?" इस के उत्तर में कुछ भिक्षुओं ने कहा—"खत्तिय कुलापब्बजिते" अर्थात्—"क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए भिक्षुओं का।"

बुद्ध के समय में और उसके बाद भी बहुत दिनों तक सब जातियों के लोग साधु बनते थे और समाज में उन का बहुत आदर था, क्योंकि बुद्ध का उपदेश था कि मनुष्य की श्रेष्ठता का कारण उस का धर्माचरण है, न कि उस का जाति-भेद। भगवान् बुद्ध ने मातङ्ग चाण्डाल को गले लगा कर भिक्षु बनाया था। बड़े बड़े ब्राह्मण उस की सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। परंतु अब्राह्मण भिक्षुओं का सम्मान समाज में बहुत दिन तक टिक न पाया। ऊँच-नीच के भेद-भाव ने, जो बुद्ध के समय जड़ जमाने जा रहा था, बाद को अपनी जड़ें जमा लीं। धर्माचरण करने वाले साधुओं का मान कम होने लगा। 'दिव्य अवदान' में अशोक और उसके मंत्री यश की कथा है। अशोक भिक्षुओं की वन्दना किया करता था। उसके मंत्री यश को यह बात अच्छी न लगी। उसने अशोक से कहा—"महाराज, इन बुद्ध मत के साधुओं में सब जाति के लोग होते हैं; अपने राज-मुकुटधारी सिर को उनके सामने झुकाना ठीक नहीं है।" अशोक ने यश को उस समय कोई उत्तर न दिया और थोड़े दिन बाद भेड़-बकरी आदि खाए जाने वाले जन्तुओं को मँगा कर उन को बेचने के लिये अपने लोगों को भेजा। यश को मरे हुये मनुष्य का सिर देकर बेच आने को कहा। बकरे आदि के सिर बिक गये। कुछ पैसा भी मिला। पर मनुष्य का सिर किसी ने न लिया। तब अशोक ने यश से कहा—"इस नर-मुण्ड को विना दाम लिये ही किसी को दे दो।" पर इसे मुफ्त में भी किसी ने न लिया। लेने की बात तो दूर, जहाँ यश सिर को ले जाता, लोग घृणा करते। उसे कोई निकट भी खड़ा न होने देता। बाद में यश ने अशोक से कहा कि "मुफ्त में भी इस सिर का लेने वाला कोई नहीं है।" अशोक ने पूछा—"इसे लोग मुफ्त भी क्यों नहीं लेते?" यश ने कहा—"महाराज, इस सिर से लोग घृणा करते हैं?" अशोक ने पूछा—"क्या इसी सिर से लोग

घृणा करते हैं या सब लोगों के सिरों से लोग घृणा करते हैं ?" यश ने कहा—"महाराज, किसी भी मनुष्य का सिर काट कर ले जाया जाय, लोग उस से घृणा करेंगे।" अशोक ने पूछा—"क्या मेरे सिर की भी यही दशा होगी ?" यश उत्तर न दे सका। उसे डर लगा कि कहीं सच्चा उत्तर देने से राजा को बुरा न लगे। पर बाद को जब अशोक ने उसे अभयदान दिया तो उसने कहा—"महाराज, आप के सिर से भी लोग इसी प्रकार घृणा करेंगे।" तब अशोक ने कहा—"जो सिर इस तरह की घृणा का पात्र है, वह यदि भिक्षुओं के सामने झुका, तो तुम को बुरा क्यों लगा ?"

अशोक जैसे लोग जब तक रहे, धर्माचरण में सब का समान अधिकार रहा। पर बाद से ब्राह्मणों को छोड़ कर दूसरी जाति के लोग यदि साधु भी हो जाते तो उन का न समाज में उतना आदर होता और न वे धर्म-गुरु ही हो सकते थे। अवस्था यहाँ तक पहुँची कि लोग बुद्ध को भी गालियाँ देने लगे। लोग कहने लगे कि बुद्ध क्षत्रिय था—उसे धर्मोपदेश देने का कोई अधिकार न था। कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट कहा है—"जिस बुद्ध ने क्षत्रिय हो कर भी धर्मोपदेश और भिक्षावृत्ति को अपना कर स्वधर्म-त्याग किया वह ठीक ठीक धर्मोपदेश देगा, इस पर कैसे विश्वास करलें ? और रही अहिंसादि, जो वेदादि सच्छास्त्रों में भी है, वह भी (बुद्ध या बुद्ध के शिष्य के उपदेश से ग्रहण की जाय तो) उसी प्रकार निकम्मी और अविश्वास्य है जैसे कुत्ते की खाल में पड़ा दूध (अपवित्र) निकम्मा होता है।"

(मी. तंत्रवार्तिक १, ३, २, ३)

जैन साहित्य की भी यही दशा है। "जैन कल्प-सूत्र" में महावीर के जन्म की एक विचित्र कथा कही गई है। उस में लिखा है कि महावीर जब पुष्पोत्तर नाम के स्वर्ग से जन्म लेने के लिए उतरे तो ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा के गर्भ में आए। परंतु इसके पहले

यह कभी नहीं हुआ था कि किसी महापुरुष ने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया हो। इस लिए शुक्र ने इस महापुरुष को देवानन्दा के गर्भ से हटा कर रानी तृपला के गर्भ में रख दिया।—"बौद्धकालीन भारत" तीसरा अध्याय।

अवतारों का वर्ण

बड़े आश्चर्य की बात है कि दस अवतारों की कथा में एक भी महापुरुष का ब्राह्मण घराने में उत्पन्न होना नहीं पाया जाता। दस अवतारों में केवल चार ही—राम, कृष्ण, बुद्ध और परशुराम--गर्भ से उत्पन्न हुए माने गये हैं। इन में तीन के क्षत्रिय होने में कोई संदेह ही नहीं। पर चौथे भी ब्राह्मणाभास क्षत्रिय ही समझे जाते हैं। इस से उन का स्वभाव और आचार-व्यवहार भी क्षत्रियों का सा पाया जाता है। उनके क्षत्रिय होने की बात महाभारत के अनुशासन पर्व के सातवें अध्याय में वर्णित उनकी जन्म-कथा सुनने से स्पष्ट हो जाती है।

क्षत्रियों की पराजय

जैसा कि ऊपर कहा गया, ब्राह्मणों ने अपने चातुर्य से बौद्ध धर्म को भारत से विदा कर दिया और क्षत्रियों के प्रबल प्रयास को विफल कर दिया। क्षत्रिय लोग अपने इस निरन्तर प्रयास को विफल होते देख हतोत्साह हो गये और ब्राह्मणी सत्ता की प्रचण्डता दस गुना अधिक हो गई।

इसके बाद किसी ने उनका विरोध नहीं किया। दिन पर दिन उनका बल बढ़ता गया। पौराणिक काल में चालाक ब्राह्मणों को "भूसुर" अर्थात् पृथ्वी के देवता की उपाधि दी गई। पर अब तक भी ब्राह्मणों को पूजनीय होने के लिए विद्वान् होना आवश्यक था। गरुड़ पुराण में तो अशिक्षित ब्राह्मण का श्राद्ध आदि कर्मों में सम्मिलित होना भी निषिद्ध है।

परन्तु आगे चलकर यह अड़चन भी हटा दी गई। ऐसे ऐसे श्लोक रचकर पुराने और नये ग्रन्थों में डाल दिए गये, जिनमें ब्राह्मण होने के लिए एक विशेष घराने में जन्म लेना ही पर्याप्त बताया गया, उसके आचार-व्यवहार और योग्यता की बिलकुल परवाह नहीं की गई। अतएव महाभारत[1] में लिखा मिलता है कि भले या बुरे किसी भी कर्म को करते हुए ब्राह्मण का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। [2]मनुस्मृति कहती है कि ब्राह्मण यदि पूर्णतया पापों में लिप्त हो तब भी उसे न मारे।

ब्राह्मण जन्म लेते ही पृथवी के समस्त जीवों में श्रेष्ठ होता है, सब प्राणियों का ईश्वर होता है और धर्म के खजाने का पोषक होता है (मनु. १-९९)। जैसे अग्नि, चाहे संस्कार-युक्त हो और चाहे संस्कार-रहित, महान् देवता है, वैसे ही ब्राह्मण, चाहे विद्वान् हो और चाहे मूर्ख, बहुत बड़ा देवता है। जैसे महा तेजवाला अग्नि मरघट में शव को जलाने से भी दूषित नहीं होता, किन्तु यज्ञ में हवन किए जाने पर फिर वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे ही सब अनिष्ट और पाप-कर्म करते रहने पर भी ब्राह्मण सदा पूज्य ही है, क्योंकि वह परम महान् देवता है (मनु ९।३१७-३१९)। पाराशर-स्मृति[3] कहती है कि ब्राह्मण चाहे बुरे चरित्रवाला भी हो, पूज्य है; पर शूद्र चाहे जितेन्द्रिय हो, पूज्य नहीं। इसी प्रकार "नारायण[4] सार-संग्रह" में लिखा मिलता है कि ब्राह्मण चाहे मैला हो चाहे पवित्र, वह मेरी पूजा कर सकता है। पर स्त्री और शूद्र

---

१. ब्राह्मणो नावमंतव्यः सदसद्वा समाचरन्। आदिपर्व, १९०, १३

२. न जातु ब्राह्मणम् हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्। मनु. ८-३८०

३. दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीम् खरीम्॥ पाराशरस्मृति। ८-३२

४. ब्राह्मणैः सर्वपूज्योऽहं शुचैरप्यशुचैरपि।
स्त्रीशूद्रयोः करस्पर्शे वज्रादपि सुदुष्करम्॥

का कर-स्पर्श मुझे वज्र से भी अधिक कठोर लगता है।" गोस्वामी तुलसीदास ने तो स्पष्ट ही कह दिया है—

पूजिए विप्र शील-गुण-हीना। शूद्र न गुन-गन-ज्ञान-प्रवीना ॥

श्रीधराचार्य[1] कहता है—"ब्राह्मणत्व का योनि-संबंध-ज्ञान बताने के लिए विशुद्ध ब्राह्मण की सन्तान से उत्पन हुए (मनुष्य) की उत्पत्ति मात्र कारण है, यही ब्राह्मणत्व है।"

कुमारिल भट्ट कहता है—"सन्तान की जाति वही होती है जो उसके माता–पिता की है। इसमें उत्पादक जाति का स्मरण (अपेक्षित) होता है। यह उत्पाद्य और उत्पादक का संबंध माता को ही विदित होता है, दूसरों को तो अनुमान से अथवा आप्तोपदेश से इसका ज्ञान होता है। स्त्रियों में कहीं-कहीं व्यभिचार होने के कारण उस संबंध का ज्ञान इतर व्यक्तियों को भी हो सकता है। परन्तु सब कहीं ऐसी कल्पना करना उचित नहीं। कारण यह कि महाकुलीन स्त्रियाँ बड़े प्रयत्न से अपने पातिव्रत्य की रक्षा करती हैं। इसी (कुल-धर्म रक्षा के) कारण क्षत्रिय एवं ब्राह्मण अपने पिता-पितामह की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए शिलालेख आदि स्मारक स्थापित करते हैं। सवर्णों से (ब्राह्मण आदि से ब्राह्मणी आदि में) उत्पन्न हुए (सन्तान) का दूसरा वर्ण-धर्म नहीं हो सकता[2]।

---

१. ब्राह्मणत्वस्य योनिसंबंधज्ञाने प्रतीतिकारणं विशुद्धब्राह्मणसन्ततिजस्य उत्पतिमात्रानुबंधं ब्राह्मणत्वम्—कन्दली।

२. अत्रोदत्पादकजातिस्मरणम्। अ चोत्पाद्योत्पादकसंबंधो मातुरेव प्रत्यक्षः, अन्येषान्तु अनुमानाप्तोपदेशादवगतः कारणं भवति।...नन्च स्त्रीणां क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रैव कल्पना युक्ता।...विशिष्टेन हि प्रयत्नेन महाकुलीनाः परिरक्षन्त्यात्मानम्। अनेनैव हेतुना राजभिः ब्राह्मणैश्च स्वपितृपितामहादि-पारम्पर्याविस्मरणार्थं समूहलेख्यानि प्रवर्तितानि।...सवर्णेन चोत्पादितस्य नैक वर्णान्तरत्वापत्तिः।—कुमारिलभट्ट कृत तन्त्रवार्त्तिक, १,२,१।

कुछ ऐतिहासिक प्रमाण

ऊपर दिए वर्णन से यह बात स्पष्ट हुए बिना नहीं रहती कि वर्णभेद, जो आरम्भ में विभिन्न रुचियों और योग्यताओं के अनुसार लोगों की मनोगत बाँट पर आधारित था और जिसका उद्देश्य समाज के जीवन को सुखमय बनाना था, किस प्रकार धीरे धीरे जन्ममूलक हो कर परस्पर ईर्ष्या-द्वेष और कलह का कारण बन गया। फिर भी यह नहीं कह सकते कि जात-पाँत-तोड़क विवाह एकदम बंद हो गये थे।

स्मृतियों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रमाणों के अतिरिक्त ऐतिहासिक प्रमाण भी हैं, जो सिद्ध करते हैं कि उस काल में जात-पाँत-तोड़क विवाह प्रचलित थे। ईसा के दो शताब्दी पूर्व ब्राह्मण राजा अग्निमित्र ने क्षत्रिय राजकुमारी मालविका से विवाह किया। इसी शताब्दी के एक लेख से प्रकट होता है कि श्रुतियों और स्मृतियों के मानने वाले एक कट्टर ब्राह्मण ने एक क्षत्रिय कन्या से विवाह किया। चौथी शताब्दी में एक ब्राह्मण परिवार की कन्या वैश्य के घर में ब्याही गई। प्रतिहार राजपरिवार के प्रवर्तक की दो पत्नियाँ थीं—एक ब्राह्मण और दूसरी शूद्र। दोनों पत्नियों की सन्तान एक ही घर में रहती थी। नवीं शताब्दी के राजा शेखर (ब्राह्मण) ने एक सुशिक्षित क्षत्रिय स्त्री से विवाह किया था। "क्षत्रिय सागर" की कथाओं में हम पाते हैं कि आरम्भ में माता-पिता अपनी कन्या के लिए चारों वर्णों के वरों का चुनाव करते थे। फिर अपनी कन्या से पूछते थे कि वह किसको पसंद करती है। एक कहानी में अशोकदत्त नामक एक ब्राह्मण का एक राजकुमारी से विवाह होता है। इस विवाह का वर्णन करते हुए कथाकार कहता है, मानो विद्या और शील का संबंध हुआ हो। नवीं शताब्दी के आरम्भ तक जात-पाँत-तोड़क विवाहों की आज्ञा थी। श्रुतियों और स्मृतियों में दृढ़ विश्वास रखने वाले ब्राह्मण तक जात-पाँत

तोड़कर विवाह करते थे। यह न समझना चाहिए कि अन्तर्जातीय विवाह उस समय की साधारण प्रथा थी। साधारणतः विवाह अपनी ही जाति में होता था। पर यदि किसी विषय में समझा जाता था कि अन्तर्जातीय विवाह अधिक उपयुक्त है तो स्मृतिकार कोई आपत्ति न करते थे। वे ऐसे विवाह के लिए अनुमति दे देते थे और सन्तानों को वही धार्मिक और सामाजिक अधिकार मिलते थे जिनका पिता अधिकारी था।

दसवीं शताब्दी से समाज का दृष्टिकोण बदलने लगा। स्मृतियों ने घोषणा करना आरम्भ कर दिया कि यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह एक समय में प्रचलित था पर कलियुग में उसके लिए आज्ञा नहीं होनी चाहिए। अलबेरूनी के लेखों से विदित होता है कि प्राचीन लेखक जैसे ब्राह्मण को किसी भी जाति की कन्या से विवाह करने की अनुमति देते थे, वैसे ग्यारहवीं शताब्दी के ब्राह्मण अपनी जाति के लोगों को अनुमति नहीं देते थे। बारहवीं शताब्दी में राजतरङ्गिणी के ब्राह्मण। लेखक कल्हण ने एक दुःखद घटना का उल्लेख किया है कि काश्मीर के राजा संग्रामराज ने अपनी बहन का विवाह एक ब्राह्मण युवक से किया। इस विवाह पर कल्हण ने रोष प्रकट करते हुए कहा है—"इस राजा की मूर्खता देखो। इसने यह नहीं देखा कि अन्तर्जातीय विवाह कर के वह अपने कुल को कलङ्कित कर रहा है। वर और वधू में कितना अन्तर है! वधू का विवाह किसी जगद्विजेता से होना चाहिए था। उसका विवाह एक ब्राह्मण पुजारी से हुआ जो भिक्षा पर जीता है।" इस ब्राह्मण कल्हण के इन शब्दों से प्रकट होता है कि बारहवीं शताब्दी में अन्तर्जातीय विवाह लोकप्रिय न थे।

लोकप्रिय न रहने का कारण

विभिन्न जातियों में उस समय सांस्कृतिक भेद-भाव इतना बढ़ चुका था कि विवाह-संबंध सुखदायक नहीं हो सकता था। पहले

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी संस्कृत और वेद पढ़ते और दूसरे संस्कारों का पालन करते थे। बहुत दिन तक सभी मांसाहारी रहे। स्मृतियों ने बालक के "अन्न-प्राशन" और श्राद्ध के अवसर पर मांसाहार की व्यवस्था दी है। काल की गति से यह सांस्कृतिक एकता मिटने लगी। ब्राह्मणों ने मांस खाना छोड़ दिया। वे बड़ी तत्परता से सभी संस्कारों का पालन करने लगे। ब्राह्मणेतरों ने उन्हें छोड़ दिया। वेदाध्ययन ब्राह्मणों तक सीमित हो गया। मध्ययुग में ब्राह्मण अधिक कट्टर और संस्कारवादी बन गये। उन्होंने संध्या और स्नान में वृद्धि कर दी और कई प्रकार के व्रत रखने लगे। अब्राह्मणों ने द्विकाल संध्या का भी परित्याग कर दिया। जब ब्राह्मणों और अब्राह्मणों में इतना भेद हो गया तब अन्तर्जातीय विवाह असंभव हो गया। निरामिषभोजी ब्राह्मण लड़के और मांसाहारी क्षत्रिय लड़की का विवाह कैसे साध्य हो सकता था? ब्राह्मणों ने अब धर्मशास्त्र के दिए हुए सब जातियों की कन्या के साथ विवाह करने के अधिकार को छोड़ दिया। वे एक ही जाति में विवाह किए जाने पर बल देने लगे। दूसरी जातियों ने भी इनका अनुकरण किया। बस, बारहवीं शताब्दी के आरम्भ से हम पाते हैं कि हिन्दू-समाज से जात-पाँत-तोड़क विवाह का लोप हो गया।

राजपूत इतिहास के प्रकाण्ड पण्डित श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखते हैं कि राजपूत शब्द जाति के अर्थ में १६वीं शताब्दी तक हमारे इतिहास या वाङ्मय में कहीं नहीं मिलता। (देखो, राजपूताने का इतिहास, गौ. ही. ओझा, पृष्ठ ३६-३७)। 'प्रतिहार', जिसका अर्थ द्वारपाल और 'राष्ट्रकूट' (राठौर) जिसका अर्थ प्रदेश-शासक है, केवल वंशों के उपनाम थे। १२वीं से १६वीं शताब्दी तक में ये नाम पलट कर ऐसी ज्ञातें बन गईं, जिनमें, अवैध सम्बन्धों के सिवा बाहर से किसी का घुसना कठिन था! चौथी राजतरङ्गिणी अकबर के

प्रशासन में लिखी गई थी। एक जाति के अर्थ में 'राजपूत' शब्द का प्रयोग पहले उसी में मिलता है।

पर जिस सांस्कृतिक भेद के कारण स्मृतिकारों ने जात-पाँत-तोड़क विवाहों पर रुकावट लगाई थी वह अब तेज़ी से दूर हो रहा है। विभिन्न जातियों के बहुत से युवक और युवतियाँ शिक्षा-व्यवसाय और राजनीतिक सिद्धान्तों की दृष्टि से एक ही सांस्कृतिक धरातल पर आ गए हैं। इसलिए इस युग में उनके विवाह पर इस कारण रोक नहीं लगानी चाहिए कि उनकी जाति अलग अलग है। जात-पाँत-तोड़क विवाह के लिए उनको अनुमति न देकर हम उन्हें विवश करते हैं कि वे हिन्दुत्व का परित्याग कर किसी दूसरे समाज का आश्रय ग्रहण करें।

—

छठा परिच्छेद

वर्णव्यवस्था में शूद्र की स्थिति

पिछले परिच्छेद से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि सत्ता को हथियाने के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय किस प्रकार एक दूसरे से दाव-पेच खेलते थे और अन्त में वर्ण को जन्म से ठहरा कर किस प्रकार ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के सब प्रयास विफल कर दिए। पहले ब्राह्मण बड़े माने जाते थे, पर कालान्तर में उनको ब्रह्मविद्या में पछाड़ कर क्षत्रिय सर्वोच्च बन बैठे। इधर ब्राह्मण इस हार को चुप चाप सहन करने को तैयार न थे। उन्होंने गुण-कर्म का बखेड़ा हटा कर जन्म से ही ब्राह्मण का होना प्रतिष्ठित कर दिया और आज भी हिन्दू समाज में गुण-कर्म की नहीं जन्म की ही प्रतिष्ठा है। इस जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था में शूद्र के साथ बहुत कठोरता और अन्याय किया गया है। उसके लिए उन्नति के सब मार्ग रोक दिए गए हैं। उसके जीवन को नरकमय बना दिया गया है। उसकी आत्मा में जोंक लगा कर उसे जीवन्मृत कर दिया गया है। आगे हम स्मृतियों, विशेषतः, मनुस्मृति, और सूत्रग्रन्थों के कुछ विधान उद्धृत करते हैं। मनु[1] कहता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति हैं, चौथी एक जाति शूद्र की है; पाँचवाँ कोई वर्ण नहीं। पतञ्जलि[2] अपने अष्टाध्यायी महाभाष्य में लिखता है कि शूद्र दो प्रकार के होते हैं—एक अवहिष्कृत और दूसरे वहिष्कृत। तक्षा और अयस्कार आदि

1. ब्राह्मण; क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
   चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो, नास्ति तु पंचमः। मनु० १०, ४
2. शूद्राणामनिरवसितानाम्। (२।४, १०)
   अवहिष्कृतानां शूद्राणां प्राग्वत्। तक्षास्यकारम्।
   पात्राद्वहिष्कृतानान्तु चाण्डाल-मृतपाः।

जो द्विजों के बर्तन छू सकते हैं, अवहिष्कृत या अनिरवसित हैं और जो द्विजों के पात्रादि नहीं छू सकते वे चाण्डाल और मृतप आदि निरवसित या बहिष्कृत शूद्र हैं।

"शूद्र से सेवा ही कराए, चाहे वह मोल लिया हुआ हो और चाहे न मोल लिया हुआ, क्योंकि ब्रह्मा ने शूद्र को ब्राह्मण की दासता के लिए ही उत्पन्न किया है।" (मनु० अध्याय ८, श्लोक ४१३, और अध्याय १०, १२३)।"

"शूद्र को झूठा अन्न, पुराने कपड़े, अन्न की पछोड़न और पुराना बर्तन-भाँडा देना चाहिए।" (मनु० अध्याय १०, १२५)

"धन कमाने की शक्ति रखते हुए भी शूद्र को धन का संचय नहीं करना चाहिए, क्योंकि शूद्र धनवान् हो जाने पर ब्राह्मण को बाधा देता है।" (मनु० अध्याय १०, १२९)।

"यदि अधम जाति शूद्र ऊँची जाति के कर्मों को करके धन कमाने लगे, तो राजा उसका सब धन छीन कर उसे देश से निकाल दे।"
(मनु. १०, ९६)

"शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट और न होम से बचा हुआ भाग (हविष्), न धर्म का उपदेश देना चाहिए। यदि कोई शूद्र को धर्मोपदेश और व्रत का आदेश करता है तो वह उस शूद्र के साथ असंवृत नामक अंधकारमय नरक में पड़ता है।" (मनु. अध्याय ४ श्लोक ८०, ८१)।

"शूद्र यदि वेद को सुन ले तो उसके कानों में पिघला हुआ सीसा और लाख भरा देनी चाहिए। यदि शूद्र वेद-मन्त्र का उच्चारण करे तो उसकी जीभ कटवा देनी चाहिए। यदि वेद को याद करे तो उसका शरीर चीर डालना चाहिए*।"—गौतम धर्म-सूत्र १२, ४ और

* अथास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ॥

—गौतम धर्म-सूत्र, १२, ४

ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य अध्याय १. पाद ३, अधिकरण ६, सूत्र ३८।

"ब्राह्मण निःसंकोच होकर शूद्र का धन ले ले, क्योंकि शूद्र का अपना कुछ भी नहीं। उसका सब धन उसके स्वामी (ब्राह्मण) का ही है।"—मनु अध्याय ८, ४१७।

"बिल्ली, नेवला, चाष, (चिड़िया), मेंढक, कुत्ता, गोधा, उल्लू और कौए की हत्या में जितना पाप होता है उतना ही शूद्र की हत्या में होता है।" मनु० ११, १३२। "यदि शूद्र द्विजातियों को कड़ी अर्थात् चुभनेवाली बात कहे तो उस की जीभ काट डालनी चाहिए, क्योंकि वह निकृष्ट अंग से उत्पन्न हुआ है। यदि शूद्र द्रोह से द्विजातियों के नाम और जाति का नाम[1] ले तो उसके मुँह में जलती हुई दस उँगली की कील ठोंकनी चाहिए। यदि शूद्र अहंकार से ब्राह्मण को धर्मोपदेश[2] करे तो राजा उसके मुँह और कान में गरम तेल डलवा दे। यदि शूद्र उच्च जातियों के साथ एक आसन पर बैठने की इच्छा करे तो राजा उसकी कमर दाग़ कर उसे देश से निकाल दे अथवा उसके चूतड़[3] कटवा दे।"—मनु० अध्याय ८ श्लोक २७०, २७१, २७२, २८१।

"यदि शूद्र जप और होम आदि शुभ कार्यों में लगा है तो वह राजा से कठोर दण्ड पाने के योग्य है, क्योंकि जप-होम में तत्पर होने के कारण वह राजा के देश का नाश करनेवाला है, जैसे अग्नि का नाशक जल है।" अत्रिस्मृति, १९।

---

१. नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः। ८, २७१

२. धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः॥ ८, २७२

३. सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यावकृष्टजः।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत्॥ ८, २८१

"जप-तप, तीर्थ-यात्रा, संन्यास-ग्रहण, मंत्र-साधन और देवता की आराधना, इन छः कर्मों के करने से स्त्री और शूद्र पतित हो जाते हैं।" अत्रिस्मृति, १३३-१३४।

"जो अज्ञानी ब्राह्मण शूद्र के शव के साथ जाता है वह तीन दिन और तीन रात अशुद्ध रहता है। इसलिए द्विज न तो शूद्र के शव का स्पर्श करे और न दाह कराए। यदि वह मृत शूद्र को देख ले तो सूर्य के दर्शन से शुद्धि होती है। यह पुरातन मर्यादा है।" पाराशर स्मृति अध्याय ३, ४७, ५०।

"ब्राह्मण दुश्चरित्र भी हो, तब भी पूजने योग्य है, शूद्र चाहे जितेन्द्रिय हो तब भी पूज्य नहीं, क्योंकि ऐसा कौन है जो दुष्ट गौ को छोड़ कर सुशील गधी को दुहेगा।" पाराशर स्मृति ८, ३३।

"जो शूद्र द्विजों की सेवा छोड़ कर दूसरा काम करता है, उसकी आयु कम हो जाती है और निःसंदेह वह नरक में पड़ता है।" पाराशर अध्याय २, श्लो. १६-२०।

"यदि शूद्र आर्य अर्थात् द्विज स्त्री से समागम करे तो दण्ड के रूप में राजा उसकी लिङ्गेद्रिय को कटवा दे और उसका धन छीन लेवे। यदि वह अपनी रक्षा करता हो तो उसका वध करा दे।"—गौतम स्मृति अध्याय १२ और मनु० ८, ३५६।

"जिस गाय का दूध अग्निहोत्र में काम आता है उसे शूद्र को न दोहने देना चाहिए।"—काठक संहिता ३१, २।

"यज्ञ करते समय शूद्र से बोलना नहीं चाहिए और न ही यज्ञ के समय शूद्र को वहाँ वर्तमान होना चाहिए।"— शतपथ ब्राह्मण ३, १, १, १०।

"चिकित्सक, शिकारी, कुलटा स्त्री, चोर, हिजड़ा, अवर्ण, बढ़ई, धोबी, कलवार, गुप्तचर, मोची और शूद्र का दिया अन्न न खाए।" वसिष्ठ धर्मसूत्र १४, २-४।

"यदि ब्राह्मण शूद्र का दिया अन्न खाकर मर जाए, तो वह ग्राम-शूकर बनकर या उसी शूद्र के परिवार में पुनः जन्म लेता है। शूद्र का दिया भोजन करने के उपरान्त यदि ब्राह्मण अपनी ब्राह्मणी स्त्री से भी समागम करता है, तो उस स्त्री के गर्भ से जन्म लेनेवाले पुत्र उस भोजन देनेवाले (शूद्र) के पुत्र होंगे, और वह स्वर्ग को जाएगा"—वसिष्ठ धर्मसूत्र ६, २७; २६।

"ब्राह्मणी के साथ गमन करने वाले शूद्र को आग में फेंक देना चाहिए।"—संवर्त-संहिता (१५२–१५४; १६६–१६८)

"शूद्र जिस भी अंग से ब्राह्मण का अपमान या हानि करे, राजा शूद्र का वही अंग कटवा दे। यदि वह उसी आसन पर बैठे जिस पर ब्राह्मण बैठा है, तो उसके चूतड़ों को दाग़ कर उसे देश से निकाल दे। यदि वह ब्राह्मण पर थूके तो उसके दोनों होंठ कटा दे। यदि उस पर पादे, तो उसकी गुदा और यदि वह गाली दे तो उसकी जीभ कटवा दे।" विष्णु स्मृति ५, १६–२५।

शूद्र के प्रति यह अन्याय उस समय अखरने लगता है जब हम स्मृतिकारों को एक ही प्रकार के अपराध के लिए शूद्र को बहुत कठोर और ब्राह्मण को बहुत हलका दण्ड देते पाते हैं। उदाहरणार्थ, देखिए—

"शूद्र स्त्री के साथ व्यभिचार करनेवाले द्विज पुरुष को देश-निकाला दिया जाए। पर जो शूद्र किसी द्विज स्त्री से व्यभिचार करे, उसे प्राण-दण्ड दिया जाए।" आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रश्न २, पटल १०, खंड २७, सूत्र ८–६.

"ब्राह्मण के साथ समागम करने वाली कन्या को कुछ भी दण्ड न दे; और नीच ज्ञाति के पुरुष से संबंध करनेवाली कन्या को ही सँभाल कर घर में रक्खे। ब्राह्मण जाति की कन्या से समागम करने वाला शूद्र वध के योग्य है।" मनु० ८, ३६५, ३६६.

सर्वत्र ब्राह्मण की बहुत बड़ाई की गई है। जैसे—

"मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण सब से बड़े हैं और सृष्टि के प्रभु या स्वामी हैं।" मनु. १६, ३.

"देवता लोग ब्राह्मणों के मुख द्वारा ही भोजन करते हैं। इसलिए संसार में ब्राह्मण से बढ़कर कोई प्राणी नहीं।" मनु. १, ६५.

"संसार में जो कुछ है सब ब्राह्मण का है, क्योंकि जन्म से ही वह सबसे श्रेष्ठ है।" मनु. १, १००।

"ब्राह्मण जो कुछ भी खाता, पहनता और देता है, वह सब उसका अपना ही है। संसार के सब लोग ब्राह्मण की कृपा से ही खाते-पीते और लेते-देते हैं। मनु. १, १०१.

"इस देश पर द्विजाति लोग प्रयत्न के साथ अपना अधिकार जमाए रक्खें और शूद्र किसी दूसरे देश में वृत्ति-पीड़ित हुआ निवास करे।" मनु. २, २४.

शूद्रों के विरुद्ध बनाए गए ये काले कानून सचमुच कभी प्रयोग में भी लाए गए थे, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। जिस इतिहास का हमें ज्ञान है, कम से कम उसमें इन कानूनों के प्रयोग की किसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता। वास्तव में ये स्मृतिकार ब्राह्मण उतने क्रूर और अमानुषिक नहीं हो सकते जितना क्रूर और अमानुषिक उन्होंने अपने को अपने इन ग्रन्थों में प्रकट किया है। इन लोगों ने सचमुच बहुत सी बातें ऐसी लिख दी हैं जिन से वे परले दरजे के स्वार्थी, अन्यायी और क्रूर प्रतीत होने लगते हैं।

शूद्रों पर अन्याय और अत्याचार की एक कथा रामायण के उत्तर काण्ड में दी गई है। उसमें बताया गया है कि श्रीरामचन्द्र के राज्यकाल में किसी ब्राह्मण का तरुण पुत्र मर गया। पिता के जीवन-काल में पुत्र का मरना एक ऐसी दुर्घटना है जो पापी और अन्यायी राजा के राज्य में ही हो सकती है। ब्राह्मण ने आ कर राम के पास

शिकायत की। उसने कहा कि आपके राज्य में कोई बड़ा भारी पाप हो रहा है जिसके कारण मेरा लड़का मर गया है। रामचन्द्र ने चारों ओर गुप्तचर दौड़ा दिये ताकि पता लगाएँ कि कौन क्या पाप कर रहा है? गुप्तचरों ने लौट कर सूचना दी कि गोदावरी के तट पर दण्डकारण्य में शम्बूक नाम का एक शूद्र अपना कर्म छोड़कर तपस्या कर रहा है। शास्त्राज्ञा के अनुसार शूद्र का एक मात्र काम द्विजों की सेवा है, जप-तप और होम-यज्ञ ब्राह्मण का काम है। वर्ण-व्यवस्था की इस मर्यादा को ठीक रखना राजा का धर्म है। बस, राम और लक्ष्मण दोनों तुरंत दण्डकारण्य में पहुँचे और उन्होंने उस निरपराध शूद्रराज शम्बूक का वध कर डाला।

मालूम नहीं शम्बूक की हत्या एक ऐतिहासिक घटना है या कोरी कल्पना। यदि राम ने सचमुच शूद्रराज शम्बूक को इसलिए मार डाला था कि वह शूद्र होकर भगवद्भजन कर रहा था, तो इससे बढ़कर किसी अन्याय और अत्याचार की कल्पना करना भी कठिन है। बंगाल के श्री द्विजेन्द्रलाल राय और श्री योगेशचन्द्र चौधुरी ने अपने "सीता" नामक नाटकों में इस घटना को बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से वर्णित किया है। उस नाटक का कुछ अंश पाठकों के मनोरंजन के लिए अगले परिच्छेद में दिया जाता है।

एक और बड़े अन्याय की बात यह है कि ब्राह्मण के लिए तो आपत्काल में अपने वर्ण के कामों को छोड़कर दूसरा काम कर लेने की अनुमति है (मनु ४, ४–६ और मनु १०, ८१; ८२) पर शूद्र आपत्काल में भी प्राणरक्षा के लिए कोई दूसरा काम नहीं कर सकता (मनु १०, ६६)।

—

सातवाँ परिच्छेद

निरपराध की हत्या

पहला दृश्य

स्थान—(सरयु के तट पर राजोद्यान ।)

राम—जीवन दूभर हो गया है । राजधानी नरक की भाँति मुँह खोले मुझे खाने को दौड़ती है । जानकी के साथ ही मानो मेरे जीवन के सभी सुख मुझसे सदा के लिए विदा हो गये हैं ।

(मंत्री का प्रवेश)

"क्यों मंत्री जी, क्या समाचार है ?"

मंत्री—महाराज, क्या बताऊँ । चारों ओर दुर्भिक्ष के मारे प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही है । लोग भूखों मर रहे हैं ।

राम—मंत्रीजी, न मालूम मैंने कौन पाप किया है जिससे मेरी प्यारी प्रजा को इन दिनों ऐसी विपदाएँ उठानी पड़ रही हैं । अच्छा, आप चारों ओर निपुण गुप्तचर भेज कर पीड़ितों को सहायता पहुँचाने का काम आरम्भ कर दीजिए; जितना भी व्यय हो सके हृदय खोल कर कीजिए, प्रजा को कष्ट न होने पावे ।

मंत्री—जो आज्ञा, महाराज ! मैं अभी इसका प्रबंध किए देता हूँ ।

(मंत्री चला जाता है)

राम—राज्य, राज्य का शासन-सूत्र सँभालना कोई हँसी-खेल नहीं । मालूम नहीं, क्यों लोग ललचाई आँखों से राजसिंहासन की ओर देखा करते हैं । यह नहीं सोचते कि यह फूलों से नहीं, काँटों से भरा है । इस राज्य को लेकर मैंने अपना सर्वस्व ही नष्ट कर डाला । प्रजा-रंजन के लिए ही मैंने प्यारी जानकी को वनवास दे दिया । पर हाय, प्रजा फिर भी सुखी नहीं । चारों ओर अकाल पड़ रहा है । लोग हाहाकार कर रहे हैं । अब मैं क्या करूँ ?

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—महाराज, एक ब्राह्मण आप से मिलने आए हैं। निपट पागल मालूम होते हैं। आज्ञा हो तो उन्हें ले आऊँ, नहीं तो वे बरजोरी करने को तैयार हैं। किसी के रोके रुकनेवाले मालूम नहीं पड़ते।

राम—जाओ, उन्हें बड़े आदर के साथ तुरन्त ले आओ।

(द्वारपाल का जाना)

न मालूम यह ब्राह्मण कौन हैं। इस समय न जाने क्या सूचना ले आए हैं।

(ब्राह्मण का प्रवेश)

ब्राह्मण—महाराज, मेरा तरुण पुत्र मर गया। मुझ वृद्ध के जीवन का सहारा छिन गया। महाराज, ऐसा क्यों हुआ; इसका उत्तरदायित्व आप पर ही है।

राम—ब्राह्मण देवता, आपको मालूम नहीं, मैंने प्रजा के लिए अपने हाथों अपना कलेजा काट कर फेंक दिया है। क्या उसी का यह फल है ?

ब्राह्मण—महाराज, शासन करना सरल कार्य नहीं। पता लगाइए, या तो आप ही ने कोई महापाप किया है या आपके राज्य में कहीं पाप हो रहा है। इसी से आज मेरा प्यारा पुत्ररत्न लुट गया।

(वसिष्ठ का प्रवेश)

वसिष्ठ—राम !

राम—गुरुदेव, मैं बड़ा पापी हूँ। मेरे ही पापों के कारण बेचारे ब्राह्मण का जवान बेटा मर गया। अब आप ही कहें, मैं इसका क्या प्रायश्चित करूँ ?

वसिष्ठ—प्रिय राम, तुम क्यों व्यर्थ में दुःखी होते हो ? मैं इन सब अनर्थों का कारण तुम्हें बतलाता हूँ। गोदावरी तट पर बसने

वाले कुछ महर्षियों ने मुझ से कहा है कि वहाँ शम्बूक नामक किसी शूद्र ने अपना कर्म छोड़ कर ब्राह्मणों का कर्म आरम्भ कर दिया है और वह यज्ञ कर रहा है। इसीलिए आज देश में ये सब उपद्रव हो रहे हैं। वह वर्णाश्रम-धर्म का विरोधी दण्डकारण्य में छिपा हुआ यज्ञ कर रहा है। उसने समाज की व्यवस्था भंग कर दी है। वह पूरा पूरा दण्ड पाने का पात्र है। तुम राजा हो; जाकर उसे दण्ड दो। बस, सब ठीक हो जाएगा।

राम—अच्छा, मैं भली-भाँति विवेचन करूँगा। यदि वह अपराधी हुआ तो अवश्य दण्ड दूँगा।

दूसरा दृश्य

स्थान—(दण्डकारण्य। राम और लक्ष्मण का प्रवेश)

राम—लक्ष्मण, यही वह पंचवटी है, जहाँ पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए हम लोगों ने अपने यौवनकाल के कितने ही दिन जंगल में मंगल मनाते हुए बिताए थे। इसके साथ सहस्रों-लाखों स्मृतियाँ जुड़ी हैं। उस समय हम वनवासी होते हुए भी सुखी थे। आज अयोध्या के सिंहासन पर बैठ कर भी मुझे वह सुख नहीं है। मेरी देह में मानो अग्नि धधक रही है। सुख गया, शान्ति गई—रह गई केवल चिन्ता और स्मृति—केवल बीते दिनों की स्मृति!

लक्ष्मण—आर्यपुत्र! जो सुख फिर कभी लौट कर नहीं आता, उसके लिए मन इस प्रकार अशान्त हुआ ही करता है।

राम—पवित्र गोदावरी के तीर पर यह पंचवटी है। जनक-नंदिनी के चरण-स्पर्श से यह पवित्र तीर्थ-स्थान बन गई है। इस भूप्रदेश की मिट्टी का एक एक कण मुझे प्यारा है, क्योंकि इसके साथ जानकी के चरण-रज का सम्बन्ध है। आओ भाई, आज इस धूलि को मस्तक पर लगा कर हृदय की ज्वाला को शान्त करें।

(मस्तक पर धूलि लगाते हैं)

लक्ष्मण—आर्य पुत्र ! वह देखिए वही प्रस्रवण पर्वत है। वहीं पहुँच कर आपको एक अरुचिकर कर्तव्य को पूरा करना है।

राम—ठीक है, मुझे तपस्वी शम्बूक मुनि को—शूद्र मुनि को—मृत्यु-दण्ड देना है। बड़ा ही दुष्कर कार्य करना है। पर प्रजा के कल्याण के लिए इस कर्तव्य को पूरा करना ही होगा। चलो, शूद्र मुनि के आश्रम को चलें।

तीसरा दृश्य

(स्थान—दण्डकारण्य का दूसरा भाग। शूद्र मुनि शम्बूक की यज्ञशाला)
(शम्बूक यज्ञ के लिए वेदी बना रहा है। उसी समय उसकी स्त्री तुङ्गभद्रा आती है।]

तुंगभद्रा—आर्यपुत्र !

शम्बूक—प्यारी, मैं आर्यपुत्र नहीं, घोर अनार्य-पुत्र हूँ। क्या तुम नहीं जानती हो, मेरे पिता एक ब्राह्मण के घर रह कर उस की गौएँ चराया करते थे ? वे बारह वर्ष तक उनके यहाँ रहे तो भी उन्हें उन के घर पानी का घड़ा छूने की आज्ञा नहीं थी।

तुंगभद्रा—आप यह क्या कहते हैं ? क्या पानी का घड़ा छूने से भी अपवित्र हो जाता है ?

शम्बूक—जिन्होंने शास्त्र बनाए हैं उन का यही कहना है। हाँ, मौलिक भेद से इसमें न्यूनता या अधिकता होती है। घड़े का जल छूने से अपवित्र हो जाता है, पर ताल का नहीं।

तुंगभद्रा—अच्छा, तो क्या आप ने इतनी विद्या पढ़ी, इतने यज्ञ किए, तो भी आप आर्य नहीं हो सकते ?

शम्बूक—नहीं, ब्राह्मण लोग इस बात को कदापि नहीं मान सकते। हाँ, मैं अपने बल से—जिस से जो चाहूँ कहला लूँ।

तुंगभद्रा—अस्तु, ब्राह्मण लोग आप को आर्य कहें या अनार्य, पर

मैं तो आर्यपुत्र ही कहूँगी। मैं तो यह बात कभी नहीं मान सकती कि मेरे स्वामी किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य से किसी अंश में कम हैं।

(शम्बूक के सेवक का प्रवेश)

शम्बूक—क्यों, क्या समाचार है ?

सेवक—महाराज, दण्डकारण्य के ऋषियों ने आप के नाम राज-सभा में नालिश की है कि आपने शास्त्र-मर्यादा भंग कर डाली है।

शम्बूक—अच्छा ! अयोध्या तक यह नालिश पहुँच गई ! अच्छा, इसके आगे का समाचार सुनाओ।

सेवक—आप को दण्ड देने के लिए स्वयं महाराज राम यहाँ आ पहुँचे हैं।

शम्बूक—बस यही बात है ? जाओ—हमारा सौभाग्य है जो घर बैठे महाराज के दर्शन होंगे।

(सेवक का जाना)

तुंगभद्रा—स्वामी ! आप ने यह यज्ञ क्यों रचा ? शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन क्यों किया ?

शम्बूक—प्यारी ! डरो मत। मैं ऐसे शास्त्र के सामने सिर झुकाना नहीं चाहता जो मनुष्य को उसके जन्मसिद्ध उचित अधिकारों से वंचित करे। महाराज आते हैं तो आने दो। डर क्या है ?

तुंगभद्रा—यदि महाराज अप्रसन्न हुए तो ?

शम्बूक—इसकी मुझे परवाह नहीं है। तुम्हारा स्वामी कायर और भीरु नहीं है। आज मेरे यज्ञ की पूर्ण आहुति है। तुम जा कर गोदावरी-तीर पर सीता तीर्थ में स्नान कर आओ। यज्ञ की खीर यहीं लेती आओ। तब तक मैं वेदी बनाता हूँ।

तुंगभद्रा—अच्छा जाती हूँ। भगवान् आपके मनोरथ पूर्ण करें !

शम्बूक—आज संसार भर से निराला यज्ञ होगा, जिसमें एक भी ब्राह्मण सम्मिलित न होगा। शूद्र ही पुरोहित, शूद्र ही होता, और शूद्र

ही ऋत्विज होंगे। क्या अतीत में और क्या पूर्व युगों में, कभी किसी ने ऐसा यज्ञ नहीं किया होगा।

[इसी समय बहुत से निमंत्रित स्त्री-पुरुष आते और वेदी के निर्माण में लग जाते हैं। शूद्र होता वेदी के गिर्द बैठ जाते हैं। वेद-गान होता है। वेद-मन्त्र पढ़ते हुए ज्यों ही शूद्र मुनि शम्बूक यज्ञाग्नि में पूर्ण आहुति देने लगते हैं उसी समय राम और लक्ष्मण आते हैं।]

शम्बूक—अहा! यह क्या? ये श्यामवर्ण कौन हैं? अहा! इसी मूर्ति के दर्शनों के लिए तो मैं आयु भर तपस्या करता रहा हूँ।

[कुछ लोग आगे बढ़ कर राम-लक्ष्मण का स्वागत करते हैं। लक्ष्मण एक जगह खड़े रहते हैं। राम शम्बूक के सामने आ जाते हैं।]

राम—तुम तो समझ ही गए होगे कि मैं किस लिए आया हूँ। मैं तुम्हारा काल हूँ। तुम्हें मृत्यु-दण्ड देने आया हूँ।

शम्बूक—मृत्यु-दण्ड! राजन्, मैंने ऐसा कौन अपराध किया है जिसके लिए आप मुझे प्राण-दण्ड देने आए हैं?

राम—तुमने वर्णाश्रम-मर्यादा को भंग किया है। समाज का नियम तोड़ा है। तुम्हारे ही यज्ञ करने से ब्राह्मण का तरुण पुत्र मर गया है—दक्षिण प्रदेश में दुर्भिक्ष फैल रहा है।

शम्बूक—प्रभु, क्या आपको ठीक मालूम है कि मेरे ही कारण दुर्भिक्ष फैला है, मेरे ही कारण ब्राह्मण का बेटा मरा है? महाराज, आपने यह भद्दी बात मुँह से कैसे निकाली? क्या भगवती सीता को निकाल देने के साथ आपने बुद्धिमत्ता, चतुराई और न्यायप्रियता को भी हृदय से निकाल कर बाहर कर दिया है?

राम—शूद्रराज, बात का बतंगड़ बनाने से कोई लाभ नहीं। विचार किया जा चुका है। मैं तुम्हें प्राणदण्ड देने के लिए ही आया हूँ।

शम्बूक—प्रभु, मुझे ज्ञात है कि राजा आज्ञा देते हैं तो मुझे मरना ही पड़ेगा। पर यह कैसी बात है कि दोषी को तो अपने दोष का ज्ञान भी नहीं हुआ, और उसका विचार चुपचाप उसकी अनुपस्थिति में ही हो गया। बड़ा विचित्र न्याय है ! आपका यह पतन देख कर बड़ा दुःख होता है। राघव ! मालूम होता है, जिस सती के तेज से आप तेजस्वी बने हुए थे उसे खो कर आपने सब कुछ खो दिया।

राम—शम्बूक, मैं तुमसे विवाद करने नहीं आया। मैं जो कुछ करने आया हूँ वह शास्त्रानुकूल है। तुम मरने के लिए तैयार हो जाओ। बोलो, लड़ोगे या चुपचाप सिर झुका दोगे ?

(तुङ्गभद्रा का प्रवेश)

तुंगभद्रा—आप ही राजा रामचन्द्र हैं ? प्रभु, आपका नाम तो मैं बचपन से सुनती आई हूँ। मन ही मन आपकी पूजा करती हूँ। पर आज आपका यह कैसा विचित्र न्याय है ? महाराज, आप बिना किसी अपराध के ही मेरे स्वामी को मारने आये हैं !

राम—तुम्हारे स्वामी ने शास्त्र के प्रति, समाज के प्रति विद्रोह किया है। उनका अपराध बड़ा भारी है। तुम स्त्री हो, तुम इसे क्या समझोगी ?

तुंगभद्रा—प्रभु, यदि वे सचमुच दोषी हैं तो उन्हें क्षमा कर दीजिए। मैं नारी होकर सजल नेत्रों से आपसे क्षमा माँगती हूँ। राजा का भूषण क्षमा है। क्षमा के प्रताप से ही राजा के लिए यह पृथ्वी स्वर्ग बन जाती है। राजन्, क्षमा कीजिए।

राम—बहुत बड़ा अपराध तुम्हारे स्वामी ने किया है। वह क्षम्य नहीं। तुम्हारे पति के कारण ही लोगों ने खेती-बाड़ी छोड़, ब्राह्मण के कर्म करना आरम्भ कर दिया है। इस सामाजिक गड़बड़ से बड़े बड़े अनर्थ हो रहे हैं।

शम्बूक—प्यारी, तुम क्यों व्यर्थ ही क्षमा क्षमा चिल्ला रही हो ?

मैंने न तो कोई अपराध किया है, न उसके लिए क्षमा माँगता हूँ। मैंने केवल अपनी जाति की भलाई की है। उसे उत्तम कर्म सिखाए हैं। ब्राह्मणों ने उसे जिन अधिकारों से वंचित कर रखा था वे ही अधिकार मैंने उसे दे दिए। मनुष्य की स्वार्थ-पूर्ण नीति को कुचल कर भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य किया है। रघुनाथ, आपको प्राण-दण्ड ही देना है, तो सहर्ष दीजिए। व्यर्थ क्यों विलम्ब कर रहे हैं?

[शम्बूक अभिमान से छाती तान देता है। रामचन्द्र कमर से तलवार निकालते हैं। तुंगभद्रा दोनों के बीच में आकर खड़ी हो जाती है]

तुंगभद्रा—निर्दय नरेश, मेरे स्वामी का वध करने के पहले मेरी गर्दन धड़ से अलग कर दो। चुप क्यों हो रहे? हाथ क्यों रोक लिया? आपने न मालूम वन के कितने हिरण मारे होंगे। माथे पर बल क्यों पड़ गए? लो, तलवार चला दो। अबला पर हाथ उठाने से हिचकते क्यों हो? बाल्यावस्था में ही आपने ताड़का-वध किया। राज सिंहासन पर बैठ कर आपने सती सीता को बिना किसी दोष के घर से बाहर कर उसके हृदय के तिल तिल में आग लगा दी है। लाखों राक्षसियों का सुहाग लूट चुके हो। आज मेरे कलेजे में भी खड्ग घोंप कर जगत में अमर हो जाओ। देर क्यों करते हो?

राम—लक्ष्मण, तुम इस नारी को मेरे सामने से हटा दो।

(लक्ष्मण आगे बढ़ते हैं)

तुंगभद्रा—किस की मजाल है जो मुझे यहाँ से हटा ले जाय? राम, यदि तुम मुझे नहीं मारते तो—लो, मेरे सामने ही मेरे स्वामी को मार डालो। सती के सामने ही उस के पति का वध कर डालो। मैं भी देखूँ कि तुम्हारा हृदय किस पत्थर का बना है।

राम—सच कहती हो, देवि ! मेरा हृदय पत्थर का ही बना है। इस पत्थर को पसीजने का स्वभाव नहीं। सत्य के कारण ही मैंने वृद्ध पिता को रोता-चिल्लाता छोड़, वन का मार्ग लिया। सत्य के लिए ही मैंने जानकी का त्याग किया; और आज सत्य ही की रक्षा के लिए मैं शम्बूक को प्राणदण्ड देने आया हूँ।

शम्बूक—झूठी बात है, रघुनाथ, आप सत्य की नहीं, सत्य के शव की पूजा करते हैं। सत्य तो आप से कभी का विदा हो चुका। हाँ, अपने जीवन के आरंभ में आपने सत्य का पालन किया था, जब कि गुह चाण्डाल को छाती से लगाया था, "अनार्य" वानरों को मित्र बनाया था; शबरी के जूठे बेर प्रेम से खाए थे। पर आपने राजधानी में सिंहासन पर बैठ कर सत्य को खो दिया है—अब वह आप के पास नहीं आने का। राघव तुम बड़े अभागे हो, तो भी मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। लो, मेरा सिर उतार लो।

(आँखें बंद कर लेता है। राम उसका सिर धड़ से जुदा कर देते हैं।
तुङ्गभद्रा अचेत होकर गिर पड़ती है।)

तुंगभद्रा—(होश में आने पर) प्रभु ! प्राणपति ! आज आप ने बड़े भारी सत्य की रक्षा के लिए मृत्यु का आलिंगन किया है। मैं वीर-पत्नी हूँ। आप के लिए मुझे रत्ती भर भी शोक नहीं। नाथ, स्वर्ग में शीघ्र ही मेरी आप से भेंट होगी। परंतु अत्याचारी राघव ! इस जीवन में तुम घड़ी भर के लिए भी चैन न पाओगे। तुम्हारा सारा जीवन दुःख और शोक में ही बीतेगा। फूलों की सेज तुम्हें काँटों का बिछौना जान पड़ेगी। तुम चैन से एक दिन भी न सो सकोगे। जागते भी स्वप्न देखा करोगे। सहस्रों लोगों से घिरे रहने पर भी अपने को अकेला अनुभव करोगे। कोई तुम्हारी हृदय-वेदना को नहीं समझेगा। घोर निराशा, भारी चिंता और मर्मान्तक पीड़ा के साथ तुम्हारी

मृत्यु होगी। तुम चाहे भगवान् के अवतार साक्षात् नारायण ही क्यों न हो, सती का यह शाप तुम्हें भोगना ही पड़ेगा।

राम—देवि! बड़े सम्मान के साथ राम तुम्हारा यह शाप स्वीकार करता है।*

(राम सिर झुकाते हैं)

---
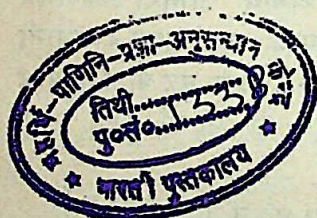
* श्री राधामोहन काव्यतीर्थ द्वारा अनूदित। "श्री योगेशचन्द्र चौधुरी के "सीता" नाटक के आधार पर।"

आठवाँ परिच्छेद

वज्र-सूची

बुद्ध-धर्म के जितने भी प्रचारक हुए हैं उनमें सब से योग्य अश्वघोष माने जाते हैं। उनका लिखा हुआ संस्कृत श्लोकबद्ध "बुद्ध-चरित्र" नामक काव्य बौद्ध साहित्य में एक उत्कृष्ट और पूज्य प्रासादिक ग्रंथ है। यह संस्कृत वाङ्मय की काव्य-सम्पत्ति में भी बहुत ऊँचा स्थान रखता है।

हिन्दू राष्ट्र को जिस जातिभेद ने उस समय बौद्ध और वैदिक, इन दो दलों में विभक्त कर दिया था उसी वादग्रस्त विषय पर इस बौद्ध विद्वान् ने संस्कृत भाषा में एक तर्कपूर्ण प्रबंध लिखा है। उस प्रबंध का नाम वज्रसूची है। सन् १८२९ में श्री हुडसन को यह पुस्तक नेपाल में मिली थी। वहाँ उन्हें बताया गया था कि यह अश्वघोष की रचना है। अश्वघोष का समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। सन् १७१० की लिखी हुई इस की एक प्रति नासिक में भी मिली थी। वहाँ के पण्डितों ने बताया कि यह शंकराचार्य की बनाई हुई है। सन् ९७३–९८१ ई. में चीन देश में इस पुस्तक का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था। चीन में लोग इसे धर्मकीर्ति की बनाई हुई पुस्तक समझते हैं। इस पुस्तक में जातिभेद का खण्डन बड़ी ही युक्तियुक्त रीति से किया गया है। उसी 'वज्रसूची' का हिन्दी भाषान्तर आगे दिया जाता है।

जगद्गुरु श्री मंजुघोष के वाङ्मयरूपी शरीर की वन्दना एवं स्तवन करने के बाद उनका शिष्य मैं अश्वघोष शास्त्राधार-पूर्वक वज्र-सूची नामक ग्रंथ को आरम्भ करता हूँ।

धर्म और अर्थ के विवेचन में यद्यपि मैं श्रुति और स्मृति को प्रमाण नहीं मानता तथापि उनके विश्वसनीय और सयुक्तिक अंशों को प्रमाण मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं।

परन्तु श्रुति और स्मृति को प्रमाण मान कर भी मुझे ऐसा लगता है कि चातुर्वर्ण्य के विषय में आपकी कल्पना उन ग्रंथों के आधार पर सिद्ध नहीं होती।

पहले ब्राह्मण्य का विवेचन करते हैं। आप ब्राह्मण्य किसे कहते हैं? जीव को या जाति को या जन्म को, या आचार को, या वेदज्ञान को, या ज्ञान को? ब्राह्मण्य काहे से आता है? इन में से ब्राह्मणत्व किस में है?

यदि आप जीव को ब्राह्मण मानते हैं, तो वेद में तो इसका कोई आधार नहीं है। ब्राह्मण्ययुक्त जीवों की एक स्वतन्त्र जाति है, और चाहे कुछ भी हो वे सदा ब्राह्मण ही बने रहते हैं, इस बात का समर्थन वेद नहीं करता है। प्रत्यक्ष देवों के संबंध में वेद कहता है—

सूर्यः पशुरासीत्। सोमः पशुरासीत्।
इन्द्रः पशुरासीत् पशवो देवाः॥

देवता भी पहले पशु थे। बाद को अपने कर्म-बल से देवता बन गए। तब ब्राह्मण का जीव मूलतः ब्राह्मण है, अपरिवर्तनीय है, और ब्राह्मण सदा ब्राह्मण ही बना रहता है—यह कैसे सिद्ध हो सकता है? और तो और, नीच से भी नीच श्वपाक ब्राह्मण ही नहीं देवता तक बन गए थे—"आद्यन्ते देवा पशवः श्वपाका अपि देवा भवन्ति।" यह श्रुति का वचन है। यही बात महाभारत कहता है। महाभारत में एक जगह स्पष्ट लिखा है—

एक समय कालिंजल पहाड़ी के सात शिकारी, दस हरिण; मानस सरोवर की एक बत्तख और शरद् द्वीप का एक चक्रवाक पक्षी, ये सब कुरुक्षेत्र में ब्राह्मण जन्म में आ कर वेद-पारंगत हो गये।

मनु कहता है—

चारों वेद और उनके अङ्गोपांग में प्रवीण ब्राह्मण भी यदि शूद्र से दक्षिणा या कोई दूसरा दान ले तो उसे ग्यारह बार गधे का, छः बार सूअर का और सत्तर बार कुत्ते का जन्म लेना पड़ता है।

इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण का जीव ही ब्राह्मण्य स्वरूप है, वह कभी अब्राह्मण नहीं हो सकता, यह कल्पना श्रुति-स्मृति सम्मत नहीं।

अब यदि यह कहा जाय कि ब्राह्मण्य माता-पिता के रज-वीर्य से प्राप्त होता है, जो ब्राह्मण माता-पिता के पेट से जन्म लेता है वही ब्राह्मण होता है, तो यह कल्पना भी शास्त्र-विरुद्ध है। स्मृति के प्रसिद्ध श्लोक से यह बात स्पष्ट है कि—"अचल मुनि का जन्म हथिनी के पेट से, केश पिंगल का उल्लू के पेट से, कौशिक का घास से, द्रोणाचार्य का दोने से, तैतिरी ऋषि का पक्षी के पेट से, व्यास का धीवरी के पेट से, कौशिकी का शूद्रिणी के पेट से; विश्वामित्र का चाण्डालिनी के पेट से, वसिष्ठ का वेश्या के पेट से हुआ था।

स्मृति का यह श्लोक आप को मानना ही पड़ेगा। इन सब के माता-पिता ब्राह्मण नहीं थे, तो भी आप उनको ब्राह्मण कहते हैं। इसलिए ब्राह्मण माता-पिता के गर्भ से जन्म लेने से ही मनुष्य ब्राह्मण हो सकता है, यह वात झूठी है।

स्मृति के श्लोकों को छोड़ कर अब हम प्रत्यक्ष व्यवहार की बात लेते हैं। क्या हम नहीं देखते कि शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के गुप्त संबंध से उत्पन्न हुई सन्तान ब्राह्मणों में ही मानी जाती है? माता-पिता में से एक या दोनों ब्राह्मण न होते हुए भी जिन लोगों ने ब्राह्मण्य प्राप्त किया है उन के उदाहरण इस बात को असत्य प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं कि ब्राह्मण होने के लिए ब्राह्मण माता-पिता के यहाँ जन्म लेना अनिवार्य है।

यदि हम थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि ब्राह्मण माता-पिता के गर्भ से जन्म लेने से ही ब्राह्मण होता है तो फिर वह ब्राह्मण्य मरण पर्यन्त बना रहना चाहिये। पर स्मृति ऐसा नहीं कहती।

मनु कहता है—

"जो ब्राह्मण मांस खाता है वह तत्काल ब्राह्मण्य से गिर जाता

है। मोम, नमक और दूध बेचने वाला ब्राह्मण तीन दिन में शूद्र हो जाता है।"

इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण माता-पिता के गर्भ से जन्म लेने से कोई ब्राह्मण नहीं होता। जन्म से निश्चित होने वाला ब्राह्मणत्व नीच कर्म से एकाएक कैसे नष्ट हो सकता है? आकाश में उड़ने वाले घोड़े के पृथ्वी पर उतरते ही सुअर बन जाने की कथा क्या कभी किसी ने सुनी या सत्य मानी है?

अब यदि ऐसा कहा जाय कि ब्राह्मणत्व शरीर का धर्म है, या किसी विशिष्ट शरीर में संचित रहता है, तो बड़ी गड़बड़ मच जाएगी। इस से तो ब्राह्मण के मर जाने पर जो लोग उसके शरीर को चिता पर रख कर आग लगाते हैं वे ब्रह्महत्या रूपी पातक के अधिकारी बनते हैं और मृत्यु-दण्ड के पात्र ठहरते हैं। कारण यह कि ब्राह्मण्य यदि शरीर में ही है तो उस शरीर को जलाने वाले अवश्य ब्रह्म-हत्यारे हैं। फिर जिन श्लोकों में यह लिखा है कि यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान-प्रतिग्रह, ये सब कृत्य ब्राह्मण के शरीर ही से होते हैं उन को जो लोग मानते हैं उनसे हम पूछते हैं कि ब्राह्मण के शरीर के नष्ट हो जाने से क्या इन सब कृत्यों के गुण-धर्म भी नष्ट हो जाते हैं? वे बड़े ऐंठ से उत्तर देंगे कि बिलकुल नहीं। तो फिर क्या इस से यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मण का शरीर ब्राह्मणत्व नहीं, ब्रह्मधर्म का उत्पत्ति-स्थान नहीं।

अब यदि आप कहें कि ज्ञान से ब्राह्मण होता है तो यह बात ठीक है। पर आप को इसके अनुसार आचरण भी करना चाहिये और जिस जिस में ज्ञान है उन सब को ब्राह्मणत्व के सभी अधिकार अर्पित कर देने चाहिएँ। ज्ञान से ही यदि ब्राह्मण्य है तो फिर अनेक शूद्रों को भी ब्राह्मण मानना होगा। चतुर्वेद, उत्पत्ति-मीमांसा, सांख्य, वैशेषिक, ज्योतिष, तत्त्वज्ञान प्रभृति में पारंगत पण्डिताग्रणी शूद्रों में

भी हैं, इस का स्वयं मुझे ज्ञान है। पर उन में से आप एक को भी ब्राह्मण मान कर उसे ब्राह्मण्य के अधिकार नहीं दे रहे हैं। फिर आप कैसे कहते हैं कि ब्राह्मण्य ज्ञान से होता है ?

यदि आप कहें कि आचार से ही ब्राह्मणत्व होता है तो भी आप व्यवहार में इस बात पर लवलेश भी नहीं चल रहे। भाट, कैवर्तक, और भांड प्रभृति लोगों के आचार कितने उज्ज्वल हैं। देखिये, वे कितने कष्ट सहन करके भी कठोर धर्म का पालन करते हैं। साधारण ब्राह्मणों से उनके आचार कहीं अधिक समुज्ज्वल होते हैं। तो भी आप भूल से भी उनको ब्राह्मण कहने को तैयार नहीं।

ज्ञान के दूसरे विभागों में कोई कितना ही पारंगत क्यों न हो जाय तो भी उसे ब्राह्मण्य नहीं मिला। यदि यह ब्राह्मणत्व वेद-पठन और वेद-ज्ञान से प्राप्त होता है तो हम पूछते हैं कि रावण वेदों का पारंगत पण्डित था, तो भी आप उसे राक्षस ही कहते हैं, ब्राह्मण नहीं। उस काल के राक्षस वेद पढ़ते थे, तो फिर आप उनको ब्राह्मण क्यों नहीं कहते ?

इसका सारांश यह देख पड़ता है कि आप किस गुण या धर्म के कारण किसी को ब्राह्मण कहते हैं इसका स्वयं आपको भी ज्ञान नहीं। आप सोचते ही नहीं कि ब्राह्मण किस चीज़ से होता है। आप ब्राह्मणत्व की कोई कसौटी नहीं बताते।

मेरे मतानुसार ब्राह्मण्य एक ऐसा निष्कलंक गुण है जिसके योग से पाप विनष्ट हो जाते हैं। जिसमें व्रत, तप, दान, शम, दम, संयम है, जो अविवेक, राग और द्वेष से रहित है, जो संग और परिग्रह में आसक्त है, दया ही जिसका कर्तव्य है वही ब्राह्मण। इन सद्गुणों के विपरीत, जो दुर्गुणी और दुष्ट है वही चाण्डाल है। वेदों और शास्त्रों में ब्राह्मण के ये लक्षण सर्वमान्य हैं। शुक्राचार्य तो और भी कहता है कि देवों को जाति की परवाह नहीं। अधम से भी अधम मानी

जाने वाली जाति में जन्म होने पर भी यदि कोई सज्जन है तो उसे भी वे ब्राह्मण ही समझते थे।

सज्जन शूद्र को प्रव्रज्या का अधिकार नहीं, उसे केवल द्विजों की ही सेवा करनी चाहिए, क्योंकि शूद्र नीच होता है, आपके ऐसे विधान का क्या आधार है? यदि आप कहें कि चातुर्वर्ण्य की गणना में शूद्र शब्द सबके अन्त में आता है इसलिए उसे नीच समझना चाहिए, तो यह बचपन की पराकाष्ठा है। आश्चर्य है कि आप को स्वयं ही यह बात हास्यजनक क्यों नहीं लगती! लिखते और बोलते समय जो विचार-प्रवाह चलता है उसमें ऊँच-नीच का विचार करके शब्दों को आगे-पीछे नहीं रखा जाता। उच्चारण करते समय हम अच्छा लगने के कारण या व्याकरण के विचार से ही शब्दों को पहले या पीछे रख देते हैं। उनमें ऊँच-नीच का कोई भाव नहीं रहता। यदि पहले बोले शब्द को ऊँचा और बाद को बोले हुए को नीच माना जाएगा तो इससे बढ़ कर हास्यास्पद बात और क्या होगी? पाणिनि का एक सूत्र इस प्रकार है—"श्वयुवमघोनामतद्धिते।" इसमें श्वान् अर्थात् कुत्ता क्योंकि पहले आया है तो क्या इसी से उसे मघवा अर्थात् इन्द्र से श्रेष्ठ समझना चाहिए? क्या इन्द्र कुत्ते से भी नीच है? "दन्तोष्ठ" समास में क्योंकि दाँत ओंठ से पहले रखा गया है तो क्या इस से यह समझें कि दाँत ओंठों से श्रेष्ठ हैं? वास्तव में ओष्ठ श्रेष्ठ हैं, दाँत तो पीछे से जन्मते हैं। "उमा-महेश" कहने से क्या उमा महेश से श्रेष्ठ मानी जाएगी? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहने से ही क्या शूद्र को, चाहे वह कितना ही सज्जन क्यों न हो, नीच एवं दुर्जन ठहराना परले दरजे का बचपन नहीं? इसलिए शूद्र को प्रव्रज्या का अधिकार अवश्य है।

मनु ने शूद्र को नीच कहा अवश्य है। मनु कहता है—"जिसने शूद्राणी का स्तन-पान किया है, जिस पर शूद्राणी ने सिसकी भरी है,

या जिसकी माता शूद्र है, उस ब्राह्मण को प्रायश्चित्त द्वारा भी ब्राह्मण जाति में नहीं लिया जा सकता। जो शूद्राणी का अन्न-जल ग्रहण करता है वह ब्राह्मण इस जन्म में शूद्र और अगले जन्म में कुत्ता हो जाता है। शूद्राणी को रखेल रखने वाला ब्राह्मण मरने के बाद नरक में जाता है।" मनु का ऐसा दण्ड-विधान है तो अवश्य, पर इससे आपका यह मुख्य सूत्र कि जन्मना ब्राह्मण कुछ भी करे सदा ब्राह्मण ही बना रहता है, झूठ ठहरता है और हमारा यह सूत्र सत्य ठहरता है कि सदाचारी चाहे शूद्र भी हो ब्राह्मण है और दुराचारी चाहे ब्राह्मण हो शूद्र ही है। फिर वही मनु स्पष्ट कहता है कि शूद्र पुण्यशाली आचार के कारण ब्राह्मण्य प्राप्त करता है। काठीन मुनि, उर्वशी वेश्या का पुत्र वसिष्ठ, कुम्हारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ नारद, शूद्र होते हुए भी, क्या तप एवं साधु आचार के प्रताप से ब्राह्मण नहीं हो गए थे? नीच कुल में जन्म ले कर अपनी पुण्याई से स्वर्ग लाभ करने वालों के कितने ही उदाहरण वर्तमान हैं। क्या आप उनसे इंकार कर सकते हैं?

ब्राह्मणों के विषय में मैंने जो कुछ कहा वही क्षत्रियों के विषय में भी अक्षरशः लागू होता है। मनु कहता है कि किसी बड़े राजा के वंश में जन्म ले कर भी यदि उसमें सद्गुण का अभाव है तो वह क्षत्रिय भी तिरस्कार के योग्य है। चार जातियों या वर्णों की कल्पना बिलकुल झूठ है। सब मनुष्यों की जाति एक है।

आप ही कहा करते हैं कि सब मनुष्य एक ब्रह्मदेव से उत्पन्न हुए हैं। तो फिर आपने उनमें ऐसी चार विभिन्न जातियाँ कैसे बना दीं जिनका आपस में रक्त-बीज का कोई सम्बन्ध नहीं? यदि मुझ से मेरी पत्नी में चार लड़के उत्पन्न हों तो क्या उन सब की एक ही जाति न होगी? तो फिर एक ब्रह्मदेव से उत्पन्न हुए सब लोगों की विभिन्न जाति कैसे हो सकती है?

अब देखना चाहिए कि जाति की भिन्नता किस बात से होती है।

विभिन्न प्राणियों की भिन्न भिन्न जातियाँ हम किस प्रकार ठहराते हैं, इस पर विचार करना चाहिए। इन्द्रिय-रचना में भेद के कारण ही जाति में भेद माना जाता है। घोड़े का पाँव हाथी के पाँव जैसा नहीं होता। बाघ की टाँग और हिरण की टाँग एक जैसी नहीं होती। इस प्रकार की शरीर और इन्द्रिय-रचना के मूल भेद के कारण प्राणियों की एक जाति को दूसरी जाति से हम अलग ठहराते हैं। पर इस अर्थ में ब्राह्मण और क्षत्रिय को दो जातियाँ नहीं माना जा सकता। क्या उनके पैर अलग अलग प्रकार के होते हैं? बैल, भैंसा, घोड़ा, हाथी, गधा, बन्दर, बकरा, मेंढा, इन सबमें जननेन्द्रिय, रंग, आकार-प्रकार, शब्द वरन् मल-मूत्र तक की दृष्टि से इतना अधिक मूलभूत अन्तर है कि उनको देखते ही झट पहचान लिया जाता है कि वे विभिन्न जातियों के हैं। इन्हीं अर्थों में क्या हम मनुष्य-जाति के अन्तर्गत ब्राह्मण और क्षत्रिय को भिन्न जाति कह सकते हैं? पक्षियों की भी यही स्थिति है। कबूतर, तोता, मोर प्रभृति की ध्वनि, वर्ण, पंख, डैने आदि में जो भिन्नता है क्या वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि के अवयवों में भी है? वृक्षों में बड़, बकुल, पलाश, अशोक, तमाल, नाग केसर, सरिस और चम्पक आदि का तना, पत्ते, फल, फूल, छिलका, बीज सब कुछ भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। इसीलिए उनको विभिन्न जातियों के मानना तो ठीक है, पर इसी अर्थ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को जाति कैसे कहा जा सकता है? ये चारों वर्गों के लोग भीतर-बाहर से एक जाति हैं। हड्डी, रक्त, मांस, अवयव, इन्द्रिय, रस, सत्व प्रभृति सब लक्षणों की दृष्टि से ये अभिन्न हैं। इनके हास्य-रोदन, हाव-भाव, रोग-भोग, जीवन-मरण की रीति-कृति, भीति-कारण और कर्म-प्रवृत्ति सब इतने एक से हैं कि हमें बैल-घोड़ा आदि में जैसा वैषम्य देख पड़ता है वैसा इन ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में लवलेश भी नहीं दीखता। इसलिए इन चारों को एक ही जाति मानना चाहिए।

गूलर और कटहल के पेड़ों में टहनी, तना, जोड़, जड़ इत्यादि सभी स्थलों पर फल लगते हैं। पर रंग, आकृति, स्पर्श आदि की दृष्टि से क्या टहनी पर लगने वाले और क्या नीचे लगने वाले फल सब समान होते हैं। इस अर्थ में वे सब फल एक ही होते हैं। उनको अलग अलग जाति का नहीं माना जाता। टहनी के सिरे पर जो गूलर लगा है क्या उसे ब्राह्मण और जो नीचे लगा है उसे शूद्र गूलर कहना चाहिए? उसी प्रकार जैसा आप कहते हैं कि ब्रह्मदेव के विभिन्न अंगों से ब्राह्मण-शूद्र आदि उत्पन्न हुए हैं यदि वैसा ही मान लिया जाय तो भी केवल विभिन्न स्थलों से उत्पन्न होने के कारण वे विभिन्न जातियों के कैसे माने जा सकते हैं?

महाभारत का वैशम्पायन-धर्म-सम्वाद आपसे क्या कह रहा है, वह इस प्रकरण में सुनिये। धर्मराज ने वैशम्पायन से प्रश्न किया कि हे ऋषि! आप ब्राह्मण किसे कहते हैं? ब्राह्मण का लक्षण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में वैशम्पायन ने अन्त में कहा—"हे युधिष्ठिर, सत्य, दया, इन्द्रिय-दमन, परोपकार और तपाचरण, ये गुण जिसमें हों उसे मैं ब्राह्मण समझता हूँ। जिसमें इनका अभाव हो वही शूद्र है। ये पाँच गुण ही ब्राह्मण हैं। यदि ये गुण किसी चाण्डाल में भी हों तो वह भी ब्राह्मण है। पहले इस भूमि पर केवल एक ही जाति थी। बाद को आचार-कर्म में भिन्नता बढ़ने से चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था हुई—

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाप्रभेदेन चातुर्वर्ण्यम् प्रतिष्ठितम्॥

देखिए, सब मनुष्य एक ही रीति से स्त्री के गर्भ से जन्म लेते हैं। सब की दैहिक आवश्यकताएँ और भीतर-बाहर की इन्द्रियाँ एक-सी होती हैं। अर्थात् उनकी कोई अलग अलग जाति नहीं है। जिसका आचरण अच्छा हो वह ब्राह्मण और जिसका बुरा हो वह शूद्र है। अर्थात् आचरण के सुधरते ही शूद्र तत्काल ब्राह्मण्य का अधिकारी

हो जाता है। इसलिए हे राजन्, इन्द्रिय-मोह से अलिप्त और उत्तम शील वाले शूद्र को दान देना स्वर्गफल का देने वाला सत्कृत्य है। जाति का विचार झूठा है। सद्गुण पर ही ब्राह्मण्य अधिष्ठित है। जो दूसरों के कल्याण के लिए दिन-रात तत्पर है वही ब्राह्मण है। जो अपना जीवन सत्कृत्य में लगाता है वही ब्राह्मण है। क्षमा, दया, सत्य, शौच, ज्ञान-विज्ञान से जो युक्त है वही ब्राह्मण है।"

अज्ञान का नाश हो, इस सदिच्छा से मैं अश्वघोष ने यह प्रवचन किया है। यदि आपको पसन्द आए तो अच्छा, यदि पसन्द न आए तो भी मुझे कोई विषाद न होगा। इति वज्रसूची !

बौद्धों के मज्झिम निकाय और दिग्घ निकाय आदि ग्रन्थों में अनेक ऐसे सम्वाद भरे पड़े हैं जिन में वर्ण और गोत्र आदि को कल्पित नाम, ब्राह्मण की श्रेष्ठता को झूठा, और चारों वर्णों को समान बताया गया है।

बुद्ध के बाद और भी अनेक महापुरुषों ने जातिभेद पर बम बरसाये हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी "भारतवर्ष में जातिभेद" नामक पुस्तक में उनके बहुत से वचन उद्धृत किए हैं। उन में से कुछ आगे दिए जाते हैं:—

तामिल देश में एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। उसके रचयिता अगस्त्य बताए जाते हैं। उस तामिल ग्रंथ में कहा है—"जातिभेद मनुष्य ही की रची हुई व्यवस्था है। इस का उद्देश्य यह है कि सहज में खाने को मिलता रहे। वेद ब्राह्मणों के पालन-पोषण के लिए ही रचा गया है।" सूक्ष्म वेदांत ग्रंथ में भी कहा गया है—"जिस दिन से स्त्रियाँ शूद्र हुईं उस दिन से ब्राह्मण के वीर्य से शूद्र-क्षेत्र में उत्पन्न सभी ब्राह्मण "पारशव" हुए, क्योंकि ब्राह्मण-कन्या होने से क्या, हैं तो सभी स्त्रियाँ शूद्र ही ? फिर "पारशव" के वीर्य से शूद्रों की जो संतान होगी उस की जाति क्या है ? इन अनंत "पारशवों" से उत्पन्न हुए जो

लोग अपने को ब्राह्मण कहते हैं उन में ब्राह्मणत्व कहाँ है ?"

तेलेगु कवि वेमन कहते हैं—"जन्म के समय गायत्री कहाँ थी और कहाँ था उपवीत ? सूत्र (जनेऊ)-हीना माता तो शूद्र है ? उस का पुत्र ब्राह्मण कैसे होगा ? इसीलिए सभी समान हैं, सभी भाई हैं। सब का जन्म एक ही तरह से हुआ है। सब के रक्त और मांस एक ही हैं। फिर क्यों इतना भेद-विभेद चलाते हो ? क्यों नहीं भाई-भाई मिल कर रहते ?*

पुराणों ने जन्म के ब्राह्मणत्व को स्वीकार करते हुए भी आचार-हीनता से उसका नष्ट हो जाना माना है। अतएव स्कन्द पुराण कहता है कि राजद्वार पर वेद वेचने वाला ब्राह्मण पतित है (प्रभास खण्ड, प्रभास क्षेत्र माहात्म्य २०७। २२-२७) सदाचार-हीन, सूद खाने-वाला और दुर्विनीत ब्राह्मण शूद्र है (स्कन्द पुराण २८-३४)। सूद-खोर तो अस्पृश्य होता है (सौर पुराण, १७। ३६-३६)। ब्राह्मण होने के लिए केवल वेदाध्ययन ही पर्याप्त नहीं। जो व्यक्ति वेद पढ़ कर भी विचारपूर्वक उस के तत्व को नहीं समझता, वह ब्राह्मण शूद्र के समान अपात्र है (पद्म पुराण, स्वर्ग० २६।१३५)।

अश्वघोष की "वज्रसूची" के समान जातिभेद के खण्डन में एक दूसरा ग्रन्थ भी संस्कृत में मिलता है। इस का नाम वज्रसूचिको-पनिषद् है। इसकी गणना उपनिषदों में होती है। मित्रवर आचार्य विश्वबंधु शास्त्री एम० ए० ने मेरी प्रार्थना पर सन् १९३३ में उस का अनुवाद हिन्दी में कर दिया था। वही अनुवाद आगे दिया जाता है।

वज्रसूचिकोपनिषत्

१. "अब मैं वज्रसूची नामक शास्त्र को कहता हूँ। यह अज्ञान का

* *What the Castes Are, Wilson, Vol. II. Page 90.*

नाश करने वाला है। यह जहाँ मूर्खों को फटकारता है, वहाँ ज्ञानवानों की शोभा को बढ़ाता है।

२. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण कहे जाते हैं। इन वर्णों में ब्राह्मण ही प्रधान है। इस में वेद-वचन और स्मृति-वचन दोनों का ही प्रमाण है।

३. यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह ब्राह्मण किस पदार्थ का नाम है? जीव का; देह का, जन्म का, ज्ञान का, कर्म का या धार्मिक भाव का?

४. यदि यह संज्ञा जीव की समझी जाय तो ठीक नहीं प्रतीत होता। कारण यह कि अतीत, अनागत, अनेक देहों के साथ जुड़नेवाले जीव तो एक रूप ही रहता है, साथ ही एक जीव का कर्म के अधीन होकर अनेक देहों से संबंध होता रहता है और इन सब शरीरों में वह जीव वैसा ही बना रहता है। अतः जीव ब्राह्मण नहीं हो सकता।

५. तो देह को ब्राह्मण माना जाए? यह भी ठीक न होगा। चाहे कोई चाण्डाल भी क्यों न हो, सब मनुष्यों का शरीर तो एक जैसा पाँच भूतों का बना हुआ है। वह बुढ़ापा, मृत्यु, धर्म, अधर्म से जुड़ा रहता है। ब्राह्मण श्वेतवर्ण होता है, क्षत्रिय रक्तवर्ण होता है, वैश्य पीतवर्ण होता है, और शूद्र कृष्णवर्ण होता है—यह भी नियत रूप से नहीं पाया जाता। साथ ही ऐसा मानने पर जब पितादि के मरने पर उन का शरीर जलाया जावेगा तो पुत्र को ब्रह्म-हत्या का पाप लग सकता है। इसलिए देह भी ब्राह्मण नहीं हो सकती।

६. जन्म भी ब्राह्मण नहीं समझा जा सकता। मनुष्य-जाति की बात तो दूर रही, बहुत से व्यक्तियों का जन्म तो हुआ मनुष्य के सिवा दूसरी जातियों से, पर अपने ज्ञान के प्रभाव से गिने गए वे ऋषियों और महर्षियों में—जैसे ऋष्यशृङ्ग मृगी से उत्पन्न हुआ, कौशिक कुश से, जाम्बुक गीदड़ से, वाल्मीकि वामी से, व्यास मल्लाहकी लड़की से,

गौतम खरगोश की पीठ से, वशिष्ठ उर्वशी (अप्सरा) से और अगस्त्य घड़े से। ऐसा ही वेदों में पाया जाता है। इस कारण, जन्म भी ब्राह्मण नहीं बन सकता।

७. तो ज्ञान को ब्राह्मण कहें? नहीं, यह भी ठीक नहीं। कितने ही क्षत्रियादि भी तो परमार्थदर्शी और विद्वान् होते हैं। इस लिए ज्ञान भी ब्राह्मण नहीं हो सकता।

८. कर्म को ब्राह्मण मानना भी ठीक नहीं। कारण यह कि कर्म तो सभी लोग करते हैं। कर्म भी सब का संचित, प्रारब्ध तथा आगामी होने से समान ही होता है। अतः कर्म भी ब्राह्मण नहीं हो सकता।

९. धार्मिक भाव भी ब्राह्मण नहीं हो सकता। क्षत्रियादि लोग भी दान आदि में प्रवृत्तिशील देखे जाते हैं। इसीलिए यह पक्ष भी ठीक नहीं।

१०. तो फिर आप ही बताइए कि ब्राह्मण कौन होता है? बहुत ठीक। सुनो—चाहे कोई हो, जो एक अद्वितीय, जन्म-गुण-क्रिया से रहित, नाना प्रकार के दोषों से रहित, सत्य-ज्ञान-आनन्द-अनन्त स्वरूप, स्वयं सब विकल्पों से रहित, सकल कल्पों के आधार, सब प्राणियों के अन्तर्यामी, भीतर और बाहर आकाशवत् व्यापक, अखण्ड-आनन्द स्वभाव, विचार से बाहर, अनुभव मात्र से जानने योग्य, प्रत्यक्ष प्रकाशमान् आत्मा का स्पष्ट साक्षात करके कृतार्थ होकर काम-रागादि दोषों से छूट चुका है; शम-दमादि से युक्त है, भाव, मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोह आदि से रहित है; दम्भ, अहङ्कारादि को पास फटकने नहीं देता, ऐसे लक्षणोंवाला जो भी हो उसे ही ब्राह्मण समझना चाहिए। यही वेदादि सभी सच्छास्त्रों का अभिप्राय है। नहीं तो संसार में ब्राह्मणत्व की सिद्धि और किसी प्रकार से नहीं हो सकती।"

ऐसा जान पड़ता है कि वर्ण के जन्मगत हो जाने से समाज में बड़ा अनर्थ और अशान्ति फैल गई थी। इसीलिए मध्ययुग के कबीर, दादू, नानक, रैदास और तुकाराम आदि सभी भक्त महात्माओं ने

अपने वचनों में जातिभेद का खण्डन किया है। महात्मा कबीर की वाणी तो इस विषय में कहीं कहीं बड़ी तीव्र हो गई है। वे जन्माभिमानी ब्राह्मण को संबोधन करके कहते हैं—

जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया।
आन बाट काहे नहीं आया?
तुम कत ब्राह्मण हम कत सूत,
हम कत लोहू तुम कत दूध?

जातिभेद पर जितनी चोट भविष्य पुराण में की गई है उतनी शायद किसी दूसरे पुराण में नहीं। इसके ब्राह्मपर्व में कहा गया है कि यदि सभी देवता मिल कर भी बड़े यत्न से खोजें तो भी वे ब्राह्मण और शूद्र में भेद न पावेंगे। (अध्याय ३६–४१)। भागवत सम्प्रदाय के लोगों ने जातिभेद को मिटाने का क्रियात्मक कार्य किया था। वे लोग मुसलमानों तक को अपने में मिला लेते थे। उनका विचार था कि भगवद्भक्ति से सभी मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। पद्म* पुराण में कहा गया है कि राम-नाम का बार बार जप करने से चाण्डाल भी निस्सन्देह पवित्र-आत्मा हो जाता है। जिसके ललाट पर ऊपर को खड़ी रेखाओं का तिलक लगा है, वह चाहे जन्म से चाण्डाल भी हो, निस्सन्देह शुद्धात्मा और पूज्य है। महाराष्ट्र के सन्त तुकोबा कहते हैं—

पवित्र तें कुळ पावन तो देश
जेथें हरि चे दास जन्म घेति।
वर्ण अभिमानें कोण झाले पावन।
ऐसे ध्या सांगून मजपाशी।

---

*राम रामेति रामेति रामेति च पुनर्जपन्।
स चाण्डालोऽपि पूतात्मा जायते नात्र संशयः॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रमूर्ध्वरेखं ललाटे यस्य दृश्यते।
चाण्डालोऽपि स शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः॥ पद्म पुराण।

अन्त्यजादि योनी तरल्या हरि नामें ।
त्याची पुराणें भाट झालीं ।
वैश्य तुलाधार, गोरा तो कुँभार,
धागा हा चाँभार रोहिदास ।
कबीर, लतीफ़ मुसलमान
सेना न्हावी आणि विष्णुदास ।
कान्होपात्रा खोई पिंजारी तो दादू ।
भजनी अभेदूँ हरिचे पायीं ।
चोखामेला बङ्का जातीचा महार ।
त्यासीं सर्वेश्वर ऐक्य करी ॥

अर्थात्—वही कुल पवित्र और वही देश पावन है जहाँ हरि के दास जन्म लेते हैं। मुझे बताओ तो सही कि वर्णाभिमान से कौन पावन हुआ है। हरि-नाम से बहुत से अन्त्यज भव-सागर तर गए हैं। उनकी कथा पुराणों में मिलती है। तुलाधार बनिया, गोरा कुम्हार, धागा और रोहिदास चमार, कबीर और लतीफ़ मुसलमान, सेना नाई और विष्णुदास, कान्होपात्रा गणिका, दादू धुनिया, हरि-कृपा से अभेद हो गए। चोखामेला और बंका जाति के महार थे; पर उनका सर्वेश्वर भगवान् से मिलाप हो गया।

और भी कहा है—

समर्थासि नाही वर्णावर्ण-भेद ।
पुण्य पर-उपकार-पाप तें पर-पीड़ा ।
देवाची पूजा हें भूतांचें पालण ।

अर्थात्—सच्चे समर्थ पुरुष वर्णभेद को नहीं मानते। परोपकार ही पुण्य है और पर-पीड़ा पाप। प्राणियों का पालना ही देवपूजा है।

वैष्णवों के भक्ति-धर्म ने अनेक मुसलमानों को प्रभावित किया था। कहते हैं, कारे नामक एक मुसलमान जगन्नाथ का भक्त हो गया।

वह पुरी पहुँचा। पर पुजारियों ने उसे दर्शन न करने दिया। वह हाते के भीतर घुस, फाटक के पास बैठ गया। उसने खान-पान त्याग दिया। रात का समय था। पुजारी लोग घर चले गए थे। कारे की दीन-हीन आत्मा जगन्नाथ को सम्बोधन करके इस प्रकार बिलबिला उठी—

मुशफ़िक़ शफ़ीक रफ़ीक़ दिल-दोस्त मेरे,
मेरे नज़दीकी हक़ीक़ी ज़रा ख़याल कीजिए।
मेहरबान क़दरदान आला तू जहान बीच,
मुझ से ग़रीबों का तो गुनाह माफ़ कीजिए।
कारे करार पड़ा तेरे दरबार बीच,
अटकी है नाव अब तो ज़रा ग़ौर कीजिए।
हिन्दू के नाथ हैं तो हमारा कुछ दावा नहीं।
जगन्नाथ हो तो हमारी सुधि लीजिए॥

अन्तिम पंक्तियाँ संतप्त हृदय का उद्‌गार थीं। जगन्नाथ का सिंहासन डोल उठा। कारे को भगवान् का दर्शन हो गया।

आज कल सर्व साधारण की यह धारणा हो रही है कि ब्राह्मण लोग जाति-भेद के बड़े कट्टर पक्षपाती होते हैं और जात-पाँत के मिटाने में वही सब से बड़ी रुकावट हैं। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं। जाति-भेद पर जितनी कड़ी चोट ब्राह्मण विद्वानों ने की है उतनी ब्राह्मणेतरों ने नहीं की। भविष्य पुराण और महाभारत आदि जिन ग्रन्थों में वर्णभेद का प्रबल खण्डन मिलता है वे भी अब्राह्मणों के ही नहीं अधिकांश ब्राह्मण विद्वानों के ही लिखे हुए हैं।

बारहवीं शताब्दी में कन्नड़ देश में वीरशैव या लिङ्गायत मत के प्रवर्त्तक महात्मा बसवेश्वर जाति से ब्राह्मण थे। पर जातिभेद के वे इतने प्रबल विरोधी थे कि उन्होंने ब्राह्मणों और कथित नीच जातियों में बेटी-व्यवहार करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने मधुवय्या नामक

एक ब्राह्मण-कन्या और हरलय्या नामक एक नीच वर्ण के पुरुष का विवाह करा दिया। इस प्रकार के अन्तर्जातीय विवाह के कारण उस समय की जनता में बड़ी खलबली मच गई। बिज्जल के राजा ने भी इस विवाह का विरोध किया। इस गड़बड़ में राजा बिज्जल की हत्या हो गई। मालूम होता है, बसवेश्वर के कुछ अंधभक्तों ने ही राजा की हत्या की थी। इससे वासव के दयालु हृदय पर भारी चोट लगी। इस पर वे कल्याण नगर छोड़ कर कूडल संगमदेव के क्षेत्र में चले गये और अपना शरीर छोड़ दिया। इस प्रकार महात्मा बसवेश्वर आजकल के अर्थों में भी क्रान्तिकारी समाज-सुधारक हुतात्माओं में गिने जा सकते हैं। *बसवेश्वर ने कहा है—

"...सबका जन्म एक ही ढंग से होता है। इच्छा, आहार, सुख, और विषय सबके लिए समान हैं।...उच्च कुलीन की क्या पहचान है? एक मनुष्य लोहा पीटता है और लोहार कहलाता है। दूसरा कपड़े धोता है और धोबी कहलाता है। एक सूत फैलाता है और जुलाहा कहलाता है। दूसरा पुस्तक पढ़ता है और ब्राह्मण कहलाता है। क्या उनमें से किसी का जन्म कान के रास्ते भी हुआ था?...केवल वही उच्च कुल का है जो ईश्वर की पूजा करना जानता है।"

"चाण्डाल वही है जो दूसरों की हिंसा करता है। अस्पृश्य वही है जो अभक्ष्य पदार्थों को खाता है। जात-पाँत क्या चीज़ है? उन लोगों की जाति क्या है? वास्तव में उच्चकुलीन केवल ईश्वर के वे भक्त हैं जो प्राणिमात्र का कल्याण चाहते हैं।"

"वही अस्पृश्य है जो माता-पिता को गाली देता है। वही अन्त्यज है जो परोपकार में विघ्न डालता है। ईश्वर-भक्तों की हत्या करने वाला ही अस्पृश्य है। वही अस्पृश्य है जो धन के लिए दूसरों के प्राण

---

*"महात्मा बसवेश्वर के वचन"। प्रकाशक, सर्वश्री एम. एन, शिवंप्पा सहोदर चिक्कपेट चौक, बेंगलोर सिटी। मूल्य आठ आना।

लेता है। वही अन्त्यज है जो मन में पर-स्त्री की इच्छा करता है। वही अन्त्यज है जो अधर्म करता है। हे देव, इस प्रकार के अन्त्यजों से तो सारा गाँव भरा पड़ा है! किन्तु गाँव से दूर रहने वालों को अन्त्यज कह कर पुकारा जाता है। क्या यह न्याय है?"

"क्या सिरियाल को हम बनिया कह सकते हैं? क्या माचय्या धोबी था? क्या कक्कय्या डोहेरा था या चेन्नय्या अन्त्यज था? इनको ऐसा कह कर यदि उसके बाद भी मैं अपने को ब्राह्मण कहूँ तो मेरा ईश्वर मुझ पर हँसेगा।" सिरियाल, माचय्या और कक्कय्या बसवेश्वर के समय के ऐसे भक्त और सन्त थे, जिनका जन्म कथित छोटी जातियों में हुआ था।

इसी प्रकार आज से कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले एक और महात्मा हो गए हैं। वे भी जाति से ब्राह्मण थे। उनका नाम तुलसी साहब हाथरस वाले था। एक दिन वे कानपुर में गंगा-तट पर स्नान कर रहे थे। वहीं उन से कुछ दूर पर एक आचारनिष्ठ ब्राह्मण भी गंगा-स्नान कर रहा था। इतने में एक शूद्र आकर उस ब्राह्मण के निकट स्नान करने लगा। शूद्र के कुछ छींटे उछल कर उस ब्राह्मण पर जा गिरे। ब्राह्मण क्रुद्ध हो कर शूद्र को मारने दौड़ा। शूद्र बेचारा लज्जा, भय और ग्लानि से खड़ा काँप रहा था। इस दृश्य को देख, तुलसी साहब हाथरसी बहुत दुःखी हुए। वे उस ब्राह्मण से क्रोध का कारण पूछने लगे। वह बोला—"यह शूद्र भगवान् के चरण से उत्पन्न हुआ है। इस लिए नीच और जघन्य है; इस ने मुझे भ्रष्ट कर दिया है।" इस पर तुलसी साहब ने उस ब्राह्मण से पूछा—"तुम गंगा-स्नान करने क्यों आए हो?" वह बोला—"गंगा विष्णु-चरण से उत्पन्न हुई है; इसलिए यह पतित-पावनी है।" इस पर तुलसी साहब बोले—"अरे भगवान् के चरण से निकली हुई जलमयी गंगा जब पतित-पावनी है तो उन्हीं चरणों से निकला हुआ यह मनुष्य शूद्र, इतना निकृष्ट और जघन्य कैसे हो

गया, जो उस के छुए जल के छींटों से तुम अपवित्र हो गए?"

आचार्य रामानन्द, भक्त ढेढराज, राजा राममोहनराय, स्वामी दयानंद, स्वामी रामतीर्थ, भाई परमानंद, रामानन्द चटर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, देवसमाज के प्रवर्तक सत्यानंद अग्निहोत्री, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मोतीलाल नेहरू और बंगाल के आर्यसंघ के संस्थापक स्वामी समाधि प्रकाश, बैरिस्टर सावरकर, श्रीनिवास आयंगर इत्यादि कितने ही ब्राह्मणकुलोत्पन्न महाशयों ने उपदेश और कर्म द्वारा जातिभेद पर कठोर आघात किया है। हमारे जात-पाँत-तोड़क मण्डल के पहले महोपदेशक श्री भूमानंद जी भी जन्म से ब्राह्मण थे। उन्हों ने स्वयं जातिभेद को तोड़ कर विवाह किया था। जातिभेद पर आक्रमण करनेवाले इतने विद्वान् शायद किसी ब्राह्मणेतर जाति ने उत्पन्न नहीं किए।

नवाँ परिच्छेद

जातियों की उत्पत्ति

वेद में "आर्य" और "दास", इन दो वर्णों के अतिरिक्त कुछ अन्य जातियों के नाम भी आते हैं। पर उन जातियों की संख्या बहुत ही अल्प है। मनु-स्मृति के समय में यह संख्या बढ़ कर ६२ से भी अधिक हो गई (मनु. अध्याय १० श्लोक ४०)। और आज तो जातियों और उपजातियों की कोई गिनती ही नहीं। श्री. केतकर के अनुसार ब्राह्मणों के मुख्य विभाग आठ सौ से भी ऊपर हैं (केतकर कृत हिस्टरी आव कास्ट, पृ. ५)। श्री ब्लूम फ़ील्ड अपनी पुस्तक "रीलिजन आफ़ दि वेदाज़" में लिखते हैं कि ब्राह्मणों में ही दो सहस्र अवांतर भेद हैं। केवल सारस्वत ब्राह्मणों ही की ४६६ शाखाएँ हैं, क्षत्रियों की ६६० और वैश्यों तथा शूद्रों की तो उस से भी अधिक। गुजरात में दस दस, बारह बारह घर की अलग अलग ब्राह्मण-बिरादरियाँ हैं। अकेले सूरत नगर में ही बनियों के ६५ से अधिक विभाग हैं। उड़ीसा के कटक ज़िले में बैठ कर छोटे छोटे मटके बनानेवाले कुम्हार, उन कुम्हारों से अलग बिरादरी हैं जो खड़े हो कर बड़े बड़े मटके बनाते हैं। उन का आपस में रोटी-बेटी-व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार जो ग्वाले कच्चे दूध से मक्खन निकालते हैं वे उन ग्वालों से बेटी-व्यवहार नहीं कर सकते, जो दही से मक्खन निकालते हैं। भारत के कई भागों में जो मछेरे अपने जाल दाएँ से बाएँ को बुनते हैं वे बाएँ से दाएँ को जाल बुननेवालों के साथ बेटी-व्यवहार नहीं करते।

इन अगणित जातियों और उपजातियों का कारण हिन्दुओं के मन में बैठी हुई अतिरिक्त पवित्रता की भावना है। जैसे आजकल लोग अच्छे वंश की गाय का अच्छे वंश के सांड के साथ मिलाप

करा कर बढ़िया प्रकार की गौएँ और बैल उत्पन्न करने का यत्न करते हैं, उत्कृष्ट कोटि के मनुष्य उत्पन्न करने के लिए भी प्राचीन स्मृतिकार कुछ वैसा ही उपाय करना चाहते थे। आज भी उत्कृष्ट गुणोंवाले घोड़े को तो निकृष्ट गुणोंवाली घोड़ी से मिला कर अच्छे घोड़े उत्पन्न करने का यत्न होता है, पर निकृष्ट गुणों वाले घोड़े को उत्कृष्ट वंश की घोड़ी से नहीं मिलाया जाता। इसी सिद्धांत को दृष्टि में रखते हुए उच्च वर्ण के पुरुष को नीच वर्ण की स्त्रियों से तो विवाह करने की आज्ञा थी, पर नीच वर्ण के पुरुष को उच्च वर्ण की स्त्री से नहीं। इस व्यवस्था को तोड़ने वालों के लिए उन्होंने कड़े सामाजिक दण्ड रक्खे थे। वर्ण-संकरता का हौआ बड़ा भयंकर रूप धारण कर गया था। पर मनुष्य का दण्ड-विधान प्रकृति को अपना कार्य करने से नहीं रोक सकता। भारत के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तो भला एक ही वंश के थे, उन स्त्री-पुरुषों का कामदेव के तीक्ष्ण शरों से विद्ध हो कर आपस में समागम हो जाना तो कुछ कठिन ही नहीं था, पर अमेरिका के गोरे और नीग्रो एक दूसरे से बिलकुल जुदा दो वंश के हैं और किसी नीग्रो का किसी गोरी स्त्री से यौन संबंध हो जाने पर, क्लू क्लक्स क्लान नामक गुप्त संस्था के गोरे उसे जीते जी जला देते हैं, तो भी वहाँ नीग्रो स्त्री और गोरे पुरुष का ही नहीं, गोरी स्त्री और नीग्रो पुरुष का भी समागम हो ही जाता है। स्मृतिकारों के मतानुसार ये विभिन्न जातियाँ इस प्रकार विभिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषों की संतान हैं। मनु स्मृति के दसवें अध्याय (श्लोक १, ५०) में बहुत सी जातियों के संबंध में बताया गया है कि कौन जाति किस वर्ण के पुरुष और किस वर्ण की स्त्री के निषिद्ध समागम से उत्पन्न हुई है। औशनस स्मृति में लिखा है कि चोरी से वैश्य की कन्या में ब्राह्मण से जो बालक उत्पन्न होता है वह कुम्हार[1] है। पाराशर संहिता, अध्याय ११ में नाई की उत्पत्ति ब्राह्मण पिता

१. वैश्यायां विप्रतश्चौर्यात्कुम्भकारः स उच्यते। ३२

और शूद्र माता से बताई गई है। बिहार के भूमिहार[1] (ब्राह्मण) क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न हुए माने गए हैं। अग्रहारी, कुस्तवानी और माहुरी आदि ब्राह्मणों का जन्म अग्रवाल पिता और ब्राह्मणी माता से बताया गया है। औशनस स्मृति में बढ़ई की उत्पत्ति क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से बताई गई है।

हमें तो यह सारा वर्णन प्रलाप मात्र प्रतीत होता है। इस में युक्ति-संगत बात कुछ भी नहीं। सुप्रजनन विद्या (Eugenics) की दृष्टि से भी यह निःसार है। वंशपरंपरा का नियम (Law of Heredity) बताता है कि माता-पिता और पूर्वजों के गुण-दोष ही सन्तान में प्रकट हो जाया करते हैं। अब सोचने की बात यह है कि ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री में मिट्टी के बर्तन बनाने के कौन गुण हैं जो संतान में प्रकट होकर उसे कुम्हार बना देंगे। फिर जिस का पिता ब्राह्मण है उस कुम्हार को तो शूद्र ठहरा दिया है और जिस का पिता क्षत्रिय है उस भूमिहार को ब्राह्मण। कहीं कुछ है, कहीं कुछ। जिस वंशपरंपरा के नियम का ठीक ठीक पता आज के वैज्ञानिकों को भी नहीं, उस का ज्ञान उन स्मृतिकारों को था, ऐसा मानना कठिन है। किसी अगले परिच्छेद में दिखाया जायगा कि इस प्रकार की वर्ण-संकरता का भय बिलकुल निराधार एवं अज्ञानमूलक है। इस से लाभ के स्थान में हानि ही हुई है। इस ने स्त्रीजाति पर विपत्ति का पहाड़ गिरा दिया है। इस ने छः करोड़ मनुष्यों को अछूत बना दिया है और हिंदू-जाति को असंख्य ऐसे छोटे छोटे समूहों में बाँट दिया है जिन का खान-पान और व्याह-शादी की दृष्टि से आपस में उतना भी संबंध नहीं जितना चिड़ियाघर के पशु-पक्षियों का एक दूसरे से होता है।

दलित जातियों की उत्पत्ति बताते हुए चन्द्रनगर के प्रधान

१. अग्रवालस्य वीर्येण संजातो विप्रयोपिति। अग्रहारी कुस्तवानी माहुरी सम्प्रतिष्ठिता॥
क्षत्रियस्य च वीर्येण ब्राह्मण्स्य च योषिति। भूमिहार्य्यभवत्पुत्रो ब्रह्मक्षत्रस्य वेषभृत्॥

न्यायाधीश श्रीयुत जकालियट अपनी "भारत में बायबिल" नामक फ्रेंच पुस्तक में यों लिखते हैं—

"वेदों के उत्तर कालीन प्राचीन हिंदू क़ानून निम्नलिखित दण्डों का विधान करते हैं—

पहला, मृत्यु; दूसरा, उच्च वर्ण से नीच वर्ण में गिरा देना; तीसरा, सारी जाति से पूर्णतया अलग कर देना; चौथा, मुद्गरों से पीटना और शिक़ंजे में कसना; पाँचवाँ, शुद्धि और यज्ञ; छठा, अर्थ-दंड।

ये प्राचीन व्यवस्थापक क़ैद करना बिलकुल जानते ही न थे। जहाँ परमेश्वर का कार्य आरंभ हो, वहाँ मनुष्य का हाथ रुक जाना चाहिए। अपने इस सिद्धांत के अनुसार वे बहुत ही कम अवस्थाओं में मृत्यु-दंड को धर्म-संमत समझते थे। वे केवल उन्हीं अपराधों के लिए प्राण-दंड देते थे जो उन की राजनीतिक संस्थाओं के मर्म का घात करने वाले हों।

इन दण्डों में सबसे भयानक दण्ड सब वर्णों से पूर्ण बहिष्कार था। कठोर यातनाएँ भी इससे अच्छी समझी जाती थीं। जाति-बहिष्कार के साथ ही उसकी धन-संपत्ति, उसका कुटुम्ब, उस के मित्र, और उसके सब नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार भी उस से छिन जाते थे—न केवल उसके अपने ही, प्रत्युत इस दूषण के अनन्तर उत्पन्न होने वाली उसकी सारी सन्तान के भी।

सुनिए, मनु उन का किन शब्दों में प्रतिषेध करता है—

'जिन लोगों पर कलङ्क का टीका लग गया हो, उनके संबंधियों को, क्या मातृकुल के और क्या पितृकुल के, चाहिए कि उनका परित्याग कर दें और करुणा एवं आदर की कुछ भी प्रवाह न करें।'

"हमें उनके साथ रोटी और बेटी का संबंध नहीं रखना चाहिए। न उन के साथ मिल कर यज्ञ और पठन-पाठन ही करना चाहिए। सर्व-सामाजिक बंधनों से पृथक् वे पृथ्वी पर दुःख झेलते फिरें…।"

'हमें उनके साथ रोटी-बेटी का संबंध नहीं रखना चाहिए और न उनके साथ मिल कर यज्ञ और पठन-पाठन ही करना चाहिए। सर्व-सामाजिक बंधनों से पृथक् वे पृथ्वी पर दुःख झेलते फिरें...।'

इस दण्ड-नीति से, सारी जाति से सर्वथा बहिष्कृत कर देने से, अभागे और सदा के लिए अपमानित अछूत नाम के मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। वर्णाश्रम को माननेवाले हिन्दुओं के लिए अछूत अभी तक भी दुस्तर घृणा की वस्तु बना हुआ है। बड़ा से बड़ा प्रबुद्ध हिन्दू भी इस घृणा को नहीं छोड़ सकता।

इस कलंक को अमिट बनाने के लिए और इस विचार से कि कलंकित व्यक्ति किसी दूर देश में अपने कलंक को छिपा कर इस से छूट न जाए, अपराधी के माथे या कंधे पर, उसके दोष के अनुसार, गरम लोहे से दाग़ दिया जाता था।

चातुर्वर्ण्य के लोगों में से उस को जल, अग्नि और चावल देने वाले के लिए पतित होने का दण्ड था।

इस प्रकार जाति के भीतर एक और ऐसी जाति की रचना हुई जो अशुद्धि के लिए प्रसिद्ध थी और जिसे व्यवस्थापक ने अतीव अपवित्र जन्तुओं से भी नीच ठहराया।...

जब अछूत ब्राह्मण को अपनी ओर आते देखता है, तब उसे चट-पट रास्ता छोड़ देना पड़ता है, और दस पग के अन्तर पर, अपनी दीनता को दिखलाने के लिए, धूलि में लेटकर प्रणाम करना पड़ता है, नहीं तो ब्राह्मण के नौकर उसे पीट पीट कर मार डालते हैं।

यदि वह किसी सवर्ण को मिले तो उसे घुटनों के बल बैठ जाना और जब तक वह पास से होकर निकल न जाए, बिना उसकी ओर देखे, सिर को झुकाए रखना चाहिए।

यदि उस के पास भोजन और अग्नि न हो तो उसे ये वस्तुएँ कहीं से माँगनी या चुरानी होंगी। कोई भी हिन्दू-घर उसके लिए खुला न

होगा, कोई भी मनुष्य उसे चावल न देगा और किसी भी चूल्हे से उसे आग न मिलेगी।

ऐसी ही साडम्बर दण्ड-नीति की बदौलत ब्राह्मण लोग प्रत्येक वर्ण को उसके लिए नियत विशेष सीमा के भीतर बंद रखने में समर्थ थे और, पतित कर देने का भय देकर, निरङ्कुश अधिकार का सम्मान सब से कराते थे।"

पेशवाओं के शासन-काल में, महाराष्ट्र देश में, यदि कोई सवर्ण हिन्दू सड़क पर चल रहा हो तो अछूत को वहाँ चलने की आज्ञा नहीं होती थी, ताकि कहीं उसकी छाया से वह सवर्ण भ्रष्ट न हो जाए। अछूत को अपनी कलाई पर या गले में निशानी के रूप में एक काला डोरा बाँधना पड़ता था, ताकि हिन्दू उसे भूल से स्पर्श न कर बैठें। पेशवाओं की राजधानी पूना में अछूतों के लिए राजाज्ञा थी कि वे कमर में झाड़ू बाँध कर चलें। चलने से भूमि पर उनके पैरों के जो चिह्न बनें, उनको उस झाड़ू से मिटाते जाएँ, जिस से कोई हिन्दू उन पद-चिह्नों पर पैर रखने से अपवित्र न हो जाए। पूना में अछूत को गले में मिट्टी की हाँडी लटका कर चलना पड़ता था, ताकि उसे थूकना हो तो उसमें थूके। कारण यह कि भूमि पर थूकने से यदि उस के थूक पर किसी हिन्दू का पाँव पड़ गया तो वह अपवित्र हो जाएगा*।

प्राचीन स्मृतिकारों ने रक्त-संकर या वर्ण-संकर को रोकने का बहुतेरा यत्न किया, पर उनको उस में सफलता न हुई। उलटा उस प्रयत्न का दुष्परिणाम असंख्य छोटी छोटी जातियाँ और सब से बढ़ कर मनुष्यता का कलंक—अस्पृश्य जाति—हुई। भारत में आज एक भी ऐसी जाति नहीं जो प्रतिज्ञा-पूर्वक कह सके कि उसके रक्त में किसी दूसरी

*Annihilation of Caste. 1937 By Dr. B R. Ambedkar p. 5.

जाति के रक्त का मिश्रण नहीं हुआ। और तो और, स्वयं ब्राह्मण भी इस रक्त-संकरता से नहीं बच सके। स्वर्गीय बाबू रामानन्द चट्टोपाध्याय ने सन् १६२६ में लाहौर में जात-पाँत-तोड़क मण्डल के सम्मेलन के अध्यक्ष के आसन से बोलते हुए कहा था कि हम बंगाली ब्राह्मणों में मंगोल रक्त का मिश्रण है, और हमें इसका गर्व है। इसी प्रकार "वैदिक संपत्ति" नामक पुस्तक में श्री. रघुनन्दन शर्मा ने सिद्ध किया है कि कन्हाडे ब्राह्मण चीनी है, चितपावन ब्राह्मण यहूदी है, * नागर ब्राह्मण ग्रीक हैं। राजपूतों में तो मुसलमानों का बहुत अधिक रक्त मिला है। डॉ. भाण्डारकर का कथन है कि चितपावन

---

* यहूदियों के चितपावन बनने की कथा का सारांश स्कन्द पुराण में इस प्रकार दिया गया है—

एवं निवासं कुर्वंत्सु अकस्मादेव योगतः।
नीत्वा सागरमध्यस्थैर्म्लेच्छैर्बर्बरकादिभिः॥
बहून्यब्दान्यतीतानि तेभ्यो जाता च सन्ततिः।
जातिं पृच्छसि हे राजन् जातिः कैवर्त्तिका स्मृता।
सिंधुतीरे कृतो वासो व्याधकर्मविशारदैः।
चतुर्दश गोत्रकुलं स्थापितं चातुरंगके।
सर्वे च गौरवर्णास्ते सुनेत्राश्च सुदर्शनाः॥

अर्थात्—दैवयोग से अफ्रीका देश के बर्बर आदि अनार्य लोग भारत के पश्चिमी मार्ग से आकर सह्याद्रि के किनारे पर बसे। बहुत वर्ष उपरान्त इनकी जो सन्तान हुई उसने उस समय के परशुराम नामक राजा के पूछने पर कहा कि हे राजा, हम लोग मल्लाह हैं, सागर-तीर पर रहते हैं और शिकार करना हमारा काम है। सब को गौर वर्ण सुन्दर और अच्छे नेत्रों वाले देखकर परशुराम ने चितपावन बनाया।

माधव-शतप्रश्न कल्पलतिका नामक पुस्तक से भी यही बात प्रकट होती है।

ब्राह्मण एशिया माइनर से आए हुए हैं। Census Report of India, 1931, Vol. I, part III, XXVIII).

कहते हैं, गुजरात के अम्भीर ब्राह्मण राजपूत वंश के हैं। ये लोग अहीरों के पुरोहित हैं। (What the Castes are, by J. Wilson, Vol. II, p. 120)। सूरत जिले के तपोधन ब्राह्मण पतित समझे गए हैं। इसी प्रकार वहाँ के अनाविले ब्राह्मणों को भी वहुत से लोग ब्राह्मण नहीं मानते। कहते हैं वे स्थानीय पहाड़ी जाति के थे। इसी प्रकार सपादलक्ष या सवालाख संप्रदाय के ब्राह्मण भी शूद्रों को जनेऊ देकर बनाए गए थे। (Campbell, Indian Ethnology, p. 259.)

प्रतापगढ़ के कुछ ब्राह्मणों को अहीर बताया जाता है। कुछ लोग इन्हें कुर्मी और कुछ लोग इन्हें भाट कहते हैं। कहते हैं कि राजा माणिकचन्द ने उन्हें ब्राह्मण बनाया था (Indian Ethnology, p. 260; Tribes and Castes of the N. W. P. & Oudh, Vol. I. p. XXI)। बिलासपुर कहलूर (पंजाब) के राजा ने युद्ध में आवश्यकता होने के कारण कोलियों को क्षत्रिय बनाया था (Glossary of Castes & Tribes of the Punjab Vol. I. p. IV)

उन्नाव के राजा तिलकचंद ने एक समय प्यास के मारे किसी लोध जाति के मनुष्य के हाथ से पानी पी लिया। जब उस की जाति उन्हें मालूम हुई, तो उन्हों ने इन लोगों को ब्राह्मण बना दिया। यही आमताड़ा के पाठक हैं (Glossary)।

उन्नाव के महावर राजपूत पहले बेहारा (कहार) थे। युद्ध में घायल हुए राजा तिलकचन्द को वे युद्ध-स्थल से उठा लाए थे। इसी उपकार के बदले में राजा ने उन्हें राजपूत बना दिया (Glossary, 261)। इसी जिले के डोमवार राजपूत पहले डोम थे (Gloss.)। इसी

प्रकार बहुत से राजपूत, जाट और गूजर लोग सिदियन या शक जाति के हैं (Glossary. p. 447),*"

गुण-कर्म-स्वभाव के बजाय वर्ण के जन्मना हो जाने के बाद छोटी छोटी जातियों और उपजातियों का उत्पन्न हो जाना अनिवार्य था। इन अवान्तर भेदों के बिना जन्मना वर्ण बने नहीं रह सकते। मान लीजिए, एक व्यक्ति आपके निकट आकर कहता है कि मैं ब्राह्मण हूँ। अब उसकी बात की सत्यता को जानने का आपके पास क्या साधन है? गुण-कर्म कसौटी हो, तो आप उसकी परीक्षा करलें। उसके जन्म का पता तो उस की माता और दूसरे आत्मीय जनों को ही हो सकता है। बस जब वह कहता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, तो आप पूछते हैं, कौन ब्राह्मण? वह उत्तर देता है—"सारस्वत"। इस से गौड़, चितपावन, नागर, पंचद्रविड़ आदि दूसरे ब्राह्मणों से वह अलग चुन लिया गया। फिर आप ने पूछा—"कौन सारस्वत"? उत्तर मिला—"जोशी।" अब जोशी ब्राह्मण बहुत अधिक नहीं। उस के सगे-संबंधियों से पूछ कर पता लगाया जा सकता है कि वह जोशी है या नहीं। "जोशी" के बाद उसका गोत्र और प्रवर पूछ लेने से तो उस गोत्र और प्रवर के ब्राह्मणों की संख्या बहुत सीमित रह जाती है और उन से पूछ कर निश्चय किया जा सकता है कि वह व्यक्ति सचमुच ब्राह्मण जाति का है या किसी दूसरी का। कहने का मतलब यह है कि ये जातियाँ और उपजातियाँ रक्त-सांकर्य अर्थात् एक जाति का रक्त दूसरी जाति में मिलने से रोकने के उद्देश्य से ही बनी मालूम होती हैं।

पर इस प्रकार की जातियाँ बना देने से भी रक्त का मिश्रण तब तक नहीं रुक सकता, जब तक स्त्रियों की पवित्रता पर पूरा बल न दिया जाय। बस, इसी भाव से प्रेरित हो कर हिन्दू लोग बहुत प्राचीन काल से अपनी स्त्रियों के सम्बन्ध में बहुत शङ्काशील रहे हैं। कोई स्त्री भूल

* "भारतवर्ष में जातिभेद," पृष्ठ १३८, १३९

से एक रात घर से बाहर रह गई, या किसी से हँसती हुई देख ली गई, या किसी मुसलमान ने बलात् उसका आलिङ्गन कर लिया; बस, इतने से ही वह समाज के लिए त्याज्य और बहिष्कार्य हो जाती है। इस प्रकार सहस्त्रों नहीं लाखों हिन्दू स्त्रियाँ समाज से ढकेल कर बाहर निकाली गई हैं। किंतु अति पवित्रता की यह भावना कुछ आज की नहीं। हम इसे रामचन्द्र के समय में भी आज के ही सदृश प्रबल रूप में पाते हैं।

श्री रघुनाथ शास्त्री कोकजे ने अपनी "हिंदुओं की अवनति की मीमांसा"* नामक पुस्तक में इस विषय को बहुत अच्छी तरह से विशद किया है।

कहा जाता है कि रामचन्द्र ने एक धोबी के कहने से ही सीताजी को वनवास दे दिया था। पर यह बात ठीक नहीं। वाल्मीकि रामायण में ऐसा लिखा नहीं मिलता। एक धोबी ही क्यों, उस काल के सर्व-साधारण के ऐसे ही विचार थे। सीता के संबंध में लोग क्या कहते हैं इसकी सूचना भद्र नामक दूत ने रामचन्द्र को इन शब्दों में दी थी—

"प्रजा कहती है कि इस में सन्देह नहीं कि रामचन्द्रजी ने अलौकिक वीरता का काम किया है। जिस रावण को देवता भी न मार सकते थे उसे उन्होंने मारा है। पर जिस सीता को रावण बलात् अपनी गोद में उठा कर ले गया था, जो लंका में अशोक वाटिका में रखी गई थी, जो राक्षसों की कैद में रही थी, उसकी निंदा रामचन्द्र क्यों नहीं करते? ऐसी सीता का उपभोग कर के वे प्रसन्न कैसे होते हैं? अब हमें भी अपनी स्त्रियों के सम्बंध से ऐसी बातें सहनी पड़ेंगी, क्योंकि जो काम राजा करता है, प्रजा उसका अनुकरण करती है।"†

प्रजा जानती थी कि सीता अपनी इच्छा से नहीं गई थी, वरन् रावण

*प्रकाशक—जोगल एण्ड सन्स, पूना—२

†उत्तर काण्ड ४३।१७—१६

उसे बलात् उठा ले गया था। फिर भी वह ठीक नहीं समझती थी कि सीता को रामचन्द्र अपने घर में रखें। केवल प्रजा का ही ऐसा विचार हो सो बात नहीं। स्वयं रामचन्द्र भी इसी विचार के थे। रावण-वध के बाद जब सीताजी पहले ही पहल रामचन्द्र के सामने आई थीं तब राम ने उन से कहा था—"रावण ने मेरा अपमान किया था, सो उस का बदला मैंने पूरी तरह ले लिया। अब मैं कृतकृत्य हूँ। परंतु रावण ने तुम्हें स्पर्श कर और बुरी दृष्टि से देख कर दूषित कर दिया है। अब एक गौरवयुक्त कुल में जन्म लेनेवाला मेरे जैसा पुरुष तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकता।" इतना ही नहीं, रामचन्द्र ने यह भी कहा—"तुम जैसी दिव्यरूपा मनोरम स्त्री को देखकर और अपनी रानियों की ओर देखकर रावण का बहुत समय तक चुप रहना असंभव है।"

इस लिए यह कहना ठीक नहीं कि राम ने एक धोबी के कहने से अथवा प्रजा के अनुरोध से सीता का परित्याग किया था। स्त्रियों की पवित्रता के संबंध में उन के अपने विचार भी प्रजा के विचार से भिन्न न थे।

रामचन्द्र ने लंका में रीछों और वानरों की सेना के सामने सीता जी से कहा था—"मैं तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकता, तुम जिधर चाहो जा सकती हो।" ऐसा कठोर और निष्ठुर वचन सुनकर सीता जी को अवश्य मर्मान्तक वेदना हुई होगी। पर उन्होंने साहस करके राम से पूछ लिया—"मेरा मन तो आप के हृदय में ही रहता था। जब मेरा शरीर पराधीन हो गया, मेरे अधीन न रहा, तब मैं क्या कर सकती थी?" (युद्ध काण्ड ११८—६)। इस उत्तर से भी रामचन्द्र को सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने सीता जी से अग्निदिव्य करने को कहा। सीताजी जलती आग में बैठ कर भी न जलीं। इस प्रकार उन्होंने अपनी पवित्रता को प्रमाणित कर दिया। राम उन को ले कर अयोध्या आए। यहाँ जब जन-लांछन के भय से राम ने उन को

बनवास दिया और महर्षि वाल्मीकि के उन की पवित्रता की साक्षी देने पर भी उनको स्वीकार न किया, वरन् पुनः अग्नि-दिव्य करने को कहा। तब सीता जी का हृदय दो टूक हो गया। उन्होंने पुनः अग्नि-दिव्य किया तो सही, पर उस से न तो उन को और न राम को ही कुछ लाभ हुआ। सीताजी ने पृथ्वी माता से प्रार्थना की—"माता वसुन्धरे, यदि मैं मन और काया से शुद्ध हूँ तो मुझे अपने गर्भ में स्थान दीजिए।" पृथ्वी फट गई और सती सीता उस में समा गई।

इस घटना का वर्णन करके महर्षि बाल्मीकि ने एक प्रकार से हिंदू जाति के सामने समस्या रख दी है कि यदि तुम स्त्रियों की अति पवित्रता पर बल दोगे, तो राम की भाँति तुम्हें अपने स्त्रीधन से वंचित हो जाना पड़ेगा। खेद है, हिंदुओं ने उस चेतावनी से आजतक भी कोई शिक्षा नहीं ली। हिंदू लोग ब्रह्म देश, अफ्रीका, अमेरिका और यूरोप जाते हैं। वहाँ की स्त्रियों से संबंध कर के सन्तान उत्पन्न करते हैं। फिर बाल-बच्चों को छोड़कर स्वदेश भाग आते हैं। इनकी उस संतान को वहाँ का समाज अपने में पचा लेता है। गत प्रथम महायुद्ध में इङ्गलेंड में ही सैंकड़ों-सहस्रों बच्चे ऐसे उत्पन्न हो गए थे, जिन के पिताओं का कुछ पता ही न था। पर इङ्गलिश समाज ने न तो उन बच्चों को वर्ण-संकर या जारज संतान कह कर बहिष्कृत किया और न उनकी माताओं को ही लांछित करके सीता की भाँति निकाल दिया। वे सब इङ्गलिश समाज में दूध में पानी की भाँति मिल गए। पर हमारे यहाँ किसी हिन्दू स्त्री का यदि किसी अँगरेज या मुसलमान ही नहीं, वरन् किसी दूसरी जाति के हिंदू से भी संबन्ध हो जाय तो उसे एकदम समाज को छोड़ देना पड़ता है और उस की सन्तान या तो ईसाई-मुसलमान बन जाती है या फिर एक नई जाति या उपजाति की नींव रख देती है। मतलब यह कि प्रत्येक दशा में हिन्दू-

समाज की हानि ही होती है। हिन्दुओं ने रामायण से यह अतिरिक्त-पावित्र्य-भावना ही सीखी है। अर्थात् उन्होंने स्त्री के चरित्र पर तनिक सा संदेह होते ही उसे निकाल देना ही सीखा है, अपनी स्त्री का अपमान या अपहरण करनेवाले को उस प्रकार दण्ड देना नहीं सीखा जिस प्रकार राम ने रावण को दिया था। जन्मना वर्ण-व्यवस्था के नियम को थोड़ा सा भी तोड़ देने पर स्त्री-पुरुष और उन की सन्तान को बिरादरी से बाहर निकालने और इस प्रकार नई नई जातियों और उपजातियों के बनने का कारण इस अति पवित्रता की भावना के सिवा और कुछ नहीं। अगले परिच्छेद में हम हिन्दुओं की कुछ जातियों की उत्पत्ति की मनोरंजक बातें देंगे।

दसवाँ परिच्छेद

जातियों की उत्पत्ति—२

हिन्दुओं की अनेक जातियों और उपजातियों के नाम उन प्रदेशों के कारण पड़े हैं जहाँ वे पहले बसी थीं। केवल किसी प्रदेश विशेष में बसने से ही कुछ लोग दूसरे लोगों से अलग जाति बन गए हैं और उन्होंने उनसे रोटी-बेटी-व्यवहार करना अस्वीकार कर दिया है। आगे कुछ जातियों और उनकी उपजातियों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। उस से पता लग जाएगा कि कितनी तुच्छ तुच्छ बातों से इन जातियों का पार्थक्य हुआ है।

१ ब्राह्मण

गौड़—यह ब्राह्मणों की एक प्रसिद्ध जाति है। श्री ज्वाला प्रसाद मिश्र अपने "जाति-भास्कर" के पृष्ठ ४० पर लिखते हैं कि पंजाब का हरियाना प्रान्त अर्थात्—रोहतक, पानीपत, करनाल, सोनीपत का प्रदेश और इसी प्रकार मारवाड़, हस्तपुरा, फ़तेहपुर और सरयु नदी के उत्तर का प्रदेश, यह सब गौड़ कहलाता है। मत्स्य पुराण में इस गौड़ प्रदेश का उल्लेख है। इस देश में वसने वाले ब्राह्मण गौड़ कहलाते थे। इनकी आगे कई उपजातियाँ हैं। गौड़ केवल गौड़ों से ही बेटी-व्यवहार करते हैं।

सनाढ्य - यह गौड़ों की उपजाति है। सनाढ्य-संहिता में लिखा है कि बहुत बड़े तपस्वी होने से इनका यह नाम पड़ा है।

सारस्वत—"जाति-भास्कर" (पृष्ठ २०—२३) कहता है कि सरस्वती नदी के तीरवर्ती प्रदेश का नाम सारस्वत है। उस प्रदेश में बसने वाले ब्राह्मण सारस्वत कहलाए। इस समय सरस्वती नदी का कुछ पता नहीं और ये लोग भी सर्वत्र फैले हुए हैं, फिर भी सारस्वत कहलाए जा रहे हैं। इसी पुस्तक में सारस्वतों की उत्पत्ति एक और रीति से

भी बताई गई है। पर वह इतनी अश्लील है कि उसे यहाँ न लिखना ही अच्छा है। जाति-कोष*" (Glossary of the Castes and Tribes of the Punjab, p. 123) में लिखा है कि सारस्वतों के पाँच बड़े विभाग हैं, अर्थात्—

(१) ब्राह्मणों के ब्राह्मण, जिनको शुक्ल ब्राह्मण कहते हैं।

(२) खत्रियों के ब्राह्मण। (३) अरोड़ों के ब्राह्मण (४) जाटों के ब्राह्मण (५) नीच जातियों के ब्राह्मण।

खत्रियों के ब्राह्मण आगे फिर छः भागों में विभक्त हैं—पंचजाति, छः जाति, जनाही रिष्ठवंश, खुखरान, सरीन। सारस्वतों में मोहला, जैतली, झीङ्गन, त्रिखा, कुमारिया ये पंचजाति हैं। झीङ्गन की उत्पत्ति पृष्ठ २४ पर इस प्रकार दी गई है कि यह शब्द झीङ्गा या झञ्ज से निकला है। इसका अर्थ घण्टा है। इनके पूर्वज के जन्म पर घण्टे का शब्द सुनाई दिया था। यह जाति केवल २० पीढ़ी पुरानी है।

फिर इस झींगन के तीन उपविभाग हैं—गौतम, उत्थू और नत्थू। फिर नत्थू के दो विभाग हैं—चमन-पत्ती और कमल-पत्ती। नत्थू नाम इसलिए पड़ा कि ये लोग नाक में नथुनी पहनते हैं। त्रिखा नाम इसलिए पड़ा कि इन लोगों का स्वभाव तीखा अर्थात् उग्र होता है। "जाति-भास्कर" (पृष्ठ २२) में लिखा है कि पंचजाति की एक पंचायत में विचार हो रहा था कि पम्बुओं को निकाल कर किसी दूसरे को पंचजाति में सम्मिलित किया जाय। उस समय अकस्मात् छत पर से एक मूसल गिर पड़ा। मूसल को पंजाबी भाषा में मोहला कहते हैं। इसे एक दैवी घटना समझ पंचों ने मोहलों को पंच जाति में सम्मिलित कर लिया। सारस्वतों की एक उपजाति तोलड़ी है। इनमें एक विचित्र प्रथा है। विवाह के अवसर पर ये वधू को वर के साथ

* पुस्तक मे जहाँ "जाति कोश" लिखा हो वहाँ उस से अभिप्राय यही (Glossary) है।

नहीं भेजते, वरन् गुड़ की भेली लाल कपड़े में लपेट कर वधू के बदले वर के साथ भेजते हैं। फिर जब मुकलावा या द्विरागमन होता है तब वधू सुसराल जाती है। काँगड़ा प्रान्त के सारस्वतों के तीन प्रकार हैं—नगरकोटिया, बहेड़ू और हलवाहा। फिर नगरकोटिया की १३ शाखाएँ हैं—बहेड़ू की दो शाखाएँ हैं—कच्चा बहेड़ू और पक्का बहेड़ू। फिर कच्चा बहेड़ू की ६, पक्का बहेड़ू की १३ और हलवाहा की २६ शाखाएँ हैं।

हुसैनी ब्राह्मण—ये लोग यज्ञोपवीत धारण करते और तिलक लगाते हैं। ये हिन्दुओं से नहीं, केवल मुसलमानों से दान लेते हैं। "जातिकोष" (Glossary of castes and Tribes of the Punjab) (पृष्ठ १४२) में इनकी उत्पत्ति इस प्रकार दी गई है कि बादशाह यज़ीद की सेनाओं ने इमाम हुसैन का सिर काट कर लौटते हुए सियालकोट ज़िले के अन्तर्गत बाठोवाल में विश्राम किया। यह गाँव उनके पूर्वज राहब का जन्म-स्थान था। इमाम हुसैन के सिर को राहब के घर में रक्खा। दूसरे दिन जब राहब को पता लगा कि यह सिर पैगम्बर के नाती का है तो उसने वह सिर तो छिपा कर रख लिया और उसके बदले में अपने पुत्र का सिर काट कर दे दिया। पर यजीद के सिपाहियों ने पहचान लिया कि यह सिर वह नहीं। इस पर राहब ने अपने सातों बेटों के सिर काट कर यज़ीद के सिपाहियों को दे दिए। उसी राहब के वंशज ये हुसैनी ब्राह्मण हैं।

मछली खाने और खीर खाने—इनके सम्बन्ध में "जातिकोष" (Glossary. पृष्ठ १४२) में यों लिखा है—

सारस्वत ब्राह्मणों का एक विभाग पातक कहलाता है। इसके दो उपविभाग हैं—मछली खाना और खीर खाना। सिखों के दूसरे गुरु अङ्गद मांस-मछली खाया करते थे। तीसरे गुरु रामदास मांस-मछली का सेवन नहीं करते थे। अपने गुरु के अनुकरण में उन्होंने आप तो

मछली नहीं खाई, पर अपने पुत्र के मुण्डन-संस्कार पर अपने पुरोहित को मछली दे दी। इस से उस पुरोहित के वंशज "मछली खाने" कहलाने लगे। आजकल भी तीसरे गुरु के वंशज मुण्डन-संस्कार के समय जीती मछली तो नहीं, किन्तु आटे की मछली तेल में तल कर अपने पुरोहित को देते हैं। अब इस संस्कार को वे मुण्डन नहीं कहते, क्योंकि सिख लोग सिर के बाल नहीं मुँड़ाते।

पुच्छलर और *सिंगलस*—जातिकोष (पृष्ठ ८८) में लिखा है कि नारनौल के एक ब्राह्मण ने एक नीच जाति की स्त्री से विवाह कर लिया। इस ब्राह्मण को सात लड़के और सात ही लड़कियाँ हुईं। जब उनके विवाह का समय आया तब उसने अपने लड़कों को अमावस के दिन एक गाय ले आने को कहा। जब वे गाय ले आए तो उसने उनको गाय का एक एक अंग छूने के लिए कहा। जिसने गाय की पूंछ को छुआ उसका गोत्र पुच्छलर हो गया और जिसने सींग को छुआ उसका गोत्र सिंगलस।

ब्राह्मणों में पुष्करणा बहुत हलके समझे जाते हैं। इन पुष्करणों की आगे बीसियों जातियाँ हैं। उनमें से एक जाति वट्टू है। यह इतनी नीच समझी जाती है कि यह एक कहावत हो गई है—"ब्राह्मणों में वट्टू, घोड़ों में टट्टू।" अर्थात् घोड़ों में जो स्थान टट्टू का है, ब्राह्मणों में वही स्थान वट्टू का है। हिसार जिले में ब्राह्मणों की एक जाति का नाम 'भेड़' है। मालूम होता है, इनके किसी पूर्वज ने भेड़ पाली थी। इसी से इनका यह नाम पड़ गया। इसी प्रकार अम्बाला जिले में "पीला भेड़ी" और "सरीने" नाम की ब्राह्मणों की दो उपजातियाँ हैं। "पीला भेड़ी" नाम का कारण यह है कि इनके किसी पूर्वज ने एक मादा भेड़िया को बचाया था। विवाह के अवसर पर ये भेड़िए की पूजा करते हैं। "सरीने" नाम का कारण यह है कि इनके किसी

पूर्वज ने सरिस के पेड़ के नीचे शरण ली थी। सरिस को पंजाबी भाषा में 'सरीं' कहते हैं।

२. खत्रियों की उपजातियाँ

बेरी—यह चोपड़ा जाति का एक उपोपविभाग है। इस नाम का कारण यह है कि इनका एक पूर्वज बेरी के पेड़ के नीचे उत्पन्न हुआ था।

खत्रियों की दो बड़ी जातियाँ बुंजाही और सरीन हैं। इनकी उत्पत्ति इस प्रकार है। बादशाह अलाउद्दीन ख़िलजी खत्रियों में विधवा-विवाह प्रचलित करना चाहता था। इसके लिए उसने कानून बना दिया। पश्चिमी प्रदेश के खत्रियों ने इसका विरोध किया और बावन मनुष्यों का एक प्रतिनिधि-मण्डल बादशाह की राजसभा में जाने के लिए बनाया। पर पूर्वी प्रदेश के खत्रियों ने आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर न किए और बादशाह के "शरअ आईन" अर्थात् विधान को मान लिया। इसी से ये लोग "शरअ आईन" कहलाने लगे। यही शब्द बिगड़कर 'सरीन' बन गया है। जिन ५२ खत्रियों ने आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे वे बावनजी या बुंजाही कहलाए।

कपूरचन्द, मिहिरचन्द और कान्हचन्द नाम के तीन खत्री, सम्राट् अकबर की राजपूत रानियों के सेवक के रूप में दिल्ली गए। इस प्रकार वे अपनी बिरादरी के दूसरे लोगों से अलग हो गये। वहाँ उनकी सन्तान का आपस में विवाह हुआ। इससे खत्रियों की तीन नई जातियाँ बन गईं, अर्थात्—कपूरचन्द की सन्तान कपूर, मिहिरचंद की मेहरा और कान्हचन्द की खन्ना कहलाने लगी।

दिल्ली प्रदेश में "बिज्वल" नाम की एक उपजाति है। इस के जुदा जाति होने का कारण इस प्रकार है। एक दरिद्र खत्री निर्धनता के कारण अपने लड़के का मुंडन-संस्कार न कर सका। लड़के के बाल बहुत बढ़ गए और सिर में फोड़े-फुन्सियाँ निकल आईं। इससे

लड़का सदा रोता रहता था। एक दिन दो मुग़ल मुसलमानों ने उसे बाज़ार में रोते देखा। उन्हें उस पर दया आगई। संयोग से एक नाई भी पास से होकर जा रहा था। उन्होंने उसे लड़के के बाल मूँडने को कहा। नाई ने कहा कि बिना संस्कार किए इसके बाल नहीं मुँडेंगे। इस पर उन्होंने नाई को पकड़ लिया। एक ने उसे जूते से पीटा और दूसरे ने तीर का निशाना उसकी ओर कर के उसे डराया कि इस लड़के का सिर मूँड़ो नहीं तो मार डाले जाओगे। उसने डर के मारे सिर मूँड़ दिया। लड़के को आराम आ गया। पर जब वह घर पहुँचा तो उस का सिर मुँड़ा देख स्त्रियों ने रोना-पीटना आरम्भ कर दिया। तब से इस जाति के लोगों में मुंडन-संस्कार के अवसर पर यह प्रथा है कि ये अपनी सन्तान का सिर मकान के भीतर नहीं, बाहर के द्वार पर मूँड़ते हैं। संस्कार के समय दो मुसलमान बुलाए जाते हैं। उन में से एक हाथ में जूता पकड़ता है और दूसरा धनुष-बाण। जिस दिन नाई सिर मूँड़ता है उस दिन घर में शोक मनाया जाता है, रोटी नहीं बनती, वरन् दीपक भी पड़ोसी ही आकर जलाते हैं।

भुच्चर—इस जाति के इस नाम का कारण यों बताया जाता है—कोई मनुष्य इतना निर्धन था कि अपने लड़के का भी पालन-पोषण न कर सकता था। वह उसे वन में अकेला छोड़ गया। वहाँ एक भैंस और चील ने उसकी पालना की। कुछ समय बाद उसकी माता को वह लड़का मिल गया। भैंस का दूध पीकर वह खूब मोटा-ताजा हो रहा था। इसलिए माता ने उसे भुच्चर कहा। पँजाबी भाषा में इस शब्द का अर्थ 'हट्टा-कट्टा' होता है। तभी से उस के वंशजों का नाम भुच्चर पड़ गया।

खत्रियों की "कक्कड़" नाम की उपजाति के नाम का कारण श्रोत्रिय छोटेलाल कृत "जाति-अन्वेषण" (पृष्ठ १३८) में यों दिया

गया है—एक समय की बात है; एक सहभोज में खाने में कुछ कंकड़ (रेत) थी। खाते समय वह मुँह में किर-किर करती थी। सब खाने वालों ने कंकड़ कहा। इस से "कंकड़" नाम पड़ गया। वही कालान्तर में बिगड़ कर कक्कड़ हो गया।

३. अरोड़ों की जातियाँ

अरोड़वंश-इतिहास (पृष्ठ १२४) में लिखा है कि विधवा-विवाह पर विचार करने के लिए एक बार अरोड़ों की एक भारी सभा हुई। सभासदों को प्रधान के आसन के तीन ओर बैठाया गया, अर्थात्—दाहिने, बायँ और सामने। दाहिनी ओर के सभासदों ने इस के विरुद्ध अभिमत दिया। वहाँ वे उत्तर दिशा में बैठे थे। इसलिए उनकी उपजाति "उत्तराधी" हो गई। बाईं ओर बैठने वालों ने विधवा-विवाह का समर्थन किया। वे दक्षिण दिशा में बैठे थे। इस लिए उन की जाति "दक्खिनी" हो गई। जो मध्य में या सामने बैठे थे, वे मौन रहे। वे "डाहरे" कहलाए। अरोड़ों की एक जाति का नाम चिक्कड़ (कीचड़) है। सरकारी प्रकाशन "जाति-कोष" में लिखा है कि एक बरात में इतनी अधिक मिठाई और खाना परोसा गया कि चिक्कड़ अर्थात् कीचड़ हो गया। इस से इस जाति का यह नाम पड़ा। एक व्यक्ति ने किसी दूसरे व्यक्ति की कमर-पीड़ा दूर कर दी। इस से उस की सन्तान की जाति का नाम "चुग" पड़ गया। चुग या चुक पंजाबी में कमर की पीड़ा को कहते हैं।

अरोड़ों की अनेक जातियाँ जीव-जन्तुओं और पौधों के नाम पर हैं, जैसे—चुटाई (चमगादड़), गाबा (गाय का बछड़ा), घीरा (कपोत), गीदड़, घोड़ा, हंस, कुक्कुट, लोमड़, मच्छर, मक्कड़, मेंढा, नागपाल, गिलहरी, तोता, नेवला, कोयल, चावला, जण्डवानी, कस्तुरिया, महदीरत्ता, लोटा, मक्खीचूस, मंजी, रेवड़ी, रुखे, दोलड़े, चौतड़े, कुब्बे, चोटीपट, तगडे इत्यादि।

४. बनियों की जातियाँ

बनिया जाति के प्रधान तीन विभाग हैं—अग्रवाल, ओसवाल और मवाल। इनका एक उपविभाग "बारहसेनी" है। इसकी उत्पत्ति चमारों से बताई जाती है। (जातिकोष पृष्ठ ६०) कहावत भी है—बन्नों के बनिए, चन्नों के चमार। अर्थात् दो बहनें थीं एक बन्नो और दूसरी चन्नो। एक की सन्तान बनिए हैं और दूसरी की चमार। 'जाति-भास्कर' के लेखक के मतानुसार राजा वल्लभ के प्रतापी पुत्र राजा अग्र की राजधानी दक्षिण प्रदेश के प्रताप नगर में थी। इसी के नाम से इसकी सन्तान अग्रवाल अर्थात्—अग्र के बालक कहलाई। अग्रसेन के एक वंशज ने एक नीच जाति की स्त्री से विवाह कर लिया। उस से जो सन्तान हुई वह "माहोर" जाति है।

ओसवालों का एक उपविभाग वेद है। यह नाम इस प्रकार पड़ा कि एक ओसवाल लड़की की आँख दुखती थी। देवी ने एक विशेष प्रकार का आक का पौधा उत्पन्न करके उसके रस से लड़की की आँख अच्छी कर दी। इसलिए उस लड़की की सन्तान वेद नाम से प्रसिद्ध हो गई। (देखो, सरकारी प्रकाशन जातिकोष।)

बनियों की बहुत सी जातियाँ आवास, भूमि या गाँव के नाम पर बनी हैं। जैसे जोधपुर-मारवाड़ के पाली नगर में रहने के कारण पालीवाला नाम से एक उपजाति बन गई। इसी प्रकार पोरबंदर में रहने वाले पोरावाल, गुड़गाँव के अन्तर्गत धूसी नगर में रहनेवाले धूसर, अयोध्या के निकट जैसी नामक प्रदेश में रहने वाले जैसवार कहलाए।

बनियों की एक जाति का नाम 'कुमार वैश्य' है। एक वैश्य स्त्री को संयोगवश कुमारी अवस्था में ही गर्भ रह गया। उसकी सन्तान कुमार वैश्य कहलाती है। लोहे का काम करने के कारण एक "लोहिया" जाति बन गई है।

नागर वैश्य एक प्रसिद्ध जाति है। यह वास्तव में वैश्य नहीं, ब्राह्मण है। जहाँगीर के समय तानसेन नाम का एक प्रसिद्ध गायक था। उसने दीपक राग गाया। इससे उसका शरीर जलने लगा। वह चिकित्सा के लिए घूमता-फिरता, झड़ नगर में पहुँचा। वहाँ नागर ब्राह्मणों की स्त्रियों ने मल्हार राग गाकर उस की अग्नि को शान्त कर दिया। जब जहाँगीर को समाचार मिला कि अमुक स्त्रियाँ परम सुन्दरी और गान-विद्या में बड़ी प्रवीण हैं तो बादशाह ने उन्हें बुलावा भेजा। पर वे नहीं आईं। तब उसने ब्राह्मणों की हत्या की आज्ञा दे दी। जिस के गले में जनेऊ देखा, उसका वध कर दिया गया। उस समय साढ़े चौहत्तर सौ ब्राह्मण जनेऊ छोड़ कर वैश्य हो गए। तब से वे नागर वैश्य कहलाते हैं। अब ये एक दूसरे को चिट्ठी लिखते समय ऊपर ७४½ का अंक लिखते हैं।

ओसवालों की एक उपजाति चोरड्या है। इसे कोचड़ भी कहते हैं। यह कोचड़ नाम इस लिए पड़ा कि इनके किसी पूर्वज ने चिड़िया पाली थी। (जाति भास्कर, पृष्ठ १४१)।

५. कायस्थ

कश्मीरी इतिहास लेखक कल्हण के समय में कायस्थ एक पेशा था। छोटे सरकारी कर्मचारी कायस्थ कहलाते थे। उस पेशे की कोई श्रेणी या शिल्पी-संघ न था। परन्तु बाद को यह श्रेणी बन गई और इस श्रेणी ने ही कालान्तर में 'जाति' का रूप धारण कर लिया। सन् ११४६ तक कायस्थों की जात न बनी थी। इस जाति के सकसेना और श्रीवास्तव उपविभाग की स्त्रियाँ आपस में मिलते समय "सलाम" कहती हैं। इससे मालूम होता है कि इस जाति पर इस्लाम का बहुत प्रभाव पड़ा है। इन लोगों में विद्या का बहुत प्रचार है। पर वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से ये शूद्र समझे जाते हैं। "जाति-भास्कर" के पृष्ठ ५६ पर इस जाति के शूद्र होने के बहुत से प्रमाण और हाई-कोर्ट के निर्णय दिए गए हैं।

सरकारी प्रकाशन जाति कोष (पृ. ४३७) में लिखा है कि ब्रह्मा ने तप किया और उसकी काया से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र का नाम चित्रगुप्त रक्खा गया। ब्रह्मा ने उसे धर्मपुरी में यमराज के पास भेज दिया। इसी चित्रगुप्त की सन्तान कायस्थ है। चित्रगुप्त की एक स्त्री से माथुर, भटनागर, सक्सेना और श्रीवास्तव नाम के चार पुत्र हुए। इनके नाम पर चार अलग अलग जातियाँ बन गईं। चित्रगुप्त की दूसरी स्त्री से आठ लड़के हुए—निगम, गौड़, वाल्मीकि आदि। इनके नाम पर भी आठ अलग जातियाँ बन गईं।

भड़भूंजा—इस जाति का उल्लेख कायस्थों के साथ ही "जातिकोष" में मिलता है। भड़भूञ्जों के चार गोत्र हैं—यदुवंशी, भटनागर, सक्सेनी और वासुदेव। इन में यदुवंशी अहीर गौड़, भटनागर एवं सकसेनी कायस्थ गोत्र और वासुदेव ब्राह्मण गोत्र कहलाते हैं। इस से जान पड़ता है कि आरम्भ में अहीर, कायस्थ और ब्राह्मणों ने अनाज भूनने का काम आरम्भ किया होगा। इनके सम्बन्ध में एक कहावत प्रसिद्ध है—पढ़ गया तो कायस्थ, नहीं तो भट्टी झोंकने लायक।

कुछ कायस्थ विद्वान् अपने को क्षत्रिय और कुछ ब्राह्मण भी कहते हैं। कलकत्ता और इलाहाबाद के हाईकोर्टों के निर्णय भी इस विषय में भिन्न भिन्न हैं।

६. धीवर या कहार

धीवर को महरा और कहार भी कहते हैं। इनका काम पानी भरना है। "जाति कोप" के पृष्ठ ३८२ पर इस जाति की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है—

गढ़ मुख्यालय का अंकी नामक एक चौहान राजपूत छोटी आयु का एक पुत्र छोड़ कर मर गया। उस लड़के का नाम ढींगर था। जनता ने उस के साथ-भृत्य का ऐसा व्यवहार किया और तिरस्कार-पूर्वक भीवर नाम रखा। दरिद्रता के कारण उस ने पानी भरने का

काम आरम्भ कर दिया। तब से उसकी संतान झीवर नाम से पुकारी जाने लगी। सर रिचर्ड टेम्पल ने अपनी पुस्तक "पञ्जाब-कथाएँ" के पृष्ठ ६५ पर लिखा है कि एक झीवर ने राजा रसालू की कहानियों से संबंध रखनेवाली रानी कोकिला को अपनी स्त्री बना लिया। उस से तीन पुत्र हुए, जिनके नाम पर सबीर, गबीर और सीर, ये तीन उपजातियाँ चलीं।

७. कुम्हार

इस जाति का मुख्य काम मिट्टी के बर्तन बनाना और खच्चर आदि पर बोझ ढोना है। ये लोग भी अपनी उत्पत्ति ब्राह्मण से बताते हैं। नाभा राज्य में यह कहावत प्रसिद्ध है—

राम जाति का राँगड़ा, कृष्ण जाति का अहीर।
ब्रह्मा जाति कुम्हार है, शिव की जाति फ़क़ीर॥

कुम्हारों को प्रजापति भी कहते हैं। "जातिकोष" (पृ. ५६३) में एक कहानी दी गई है—एक बार ब्रह्मा ने अपने पुत्रों में गन्ना बाँटा। बाकी सब ने अपना भाग खा लिया, पर कुम्हार ने अपने भाग का टुकड़ा एक घड़े में बो दिया। वह उग पड़ा। कुछ दिन बाद ब्रह्मा ने अपने पुत्रों से गन्ना माँगा। बाक़ी पुत्रों के पास कुछ न निकला, पर कुम्हार ने निकाल कर दे दिया। इस पर प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे प्रजापति की उपाधि प्रदान की।

कुम्हारों के दो बड़े विभाग हैं—महर और गोला। इन की उत्पत्ति के संबंध में कई प्रकार की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। कूबा नाम का कुम्हार बड़ा भक्त था। उस की दो स्त्रियाँ थीं। उन में से एक घर से भाग गई। इस लिए उस की संतान "गोला" अर्थात् निकृष्ट कहलाई। महर अपने को गोला से ऊँचा समझते हैं।

कूबा भक्त की एक कहानी प्रसिद्ध है—वह प्रतिदिन २० घड़े बनाता था और बीस ही दान कर देता था। एक दिन ३० साधु उसके

घर आ गये। पर उस ने प्रभु पर भरोसा करके अपनी स्त्री को घड़े लाने के लिए कहा। उस के चमत्कार से वे २० घड़े ३० हो गए और उसने तीस साधुओं को दे दिए। इस पर यह दोहा प्रसिद्ध है—

कूबा भगत कुम्हार था भाँडे गढ़ता वीस।
हरि गोविंद कृपा करी हुए बीस के तीस॥

कुम्हारों की आगे अनेक उपजातियाँ हैं, जैसे—वलदिया, जो बैलों पर मिट्टी ढोते हैं, हथेलिया, जो चाक से बर्तन नहीं बनाते और संगरोमा, जो मिट्टी छानते हैं। इसी प्रकार कीलिया, नोखल और सोखल आदि हैं। कुम्हारों का एक सरोही गोत्र है। इस के बारे में प्रसिद्ध है कि सरोही गोत्र के एक राजपूत ने एक लड़के का पालन-पोषण किया और उस के साथ अपनी बेटी का व्याह कर दिया। बाद को पता चला कि वह कुम्हार का बेटा था। इस पर उस राजपूत ने उस लड़के और उस की स्त्री का त्याग कर दिया। इस से उस की संतान की सरोही नाम की एक अलग जाति बन गई।

८. चूहड़ा

चूहड़ा पंजाब में भंगी को कहते हैं। इसका दूसरा नाम वाल्मीकि भी है। इस के इस नाम का कारण यह बताया जाता है कि एक समय किसी भक्त ने बड़ा सहभोज दिया। उस में वाल्मीकि देर से पहुँचे। तब तक सब लोग खाना खा चुके थे। इस लिए उन को बचा-खुचा खाना मिला। इससे उनकी संतान का नाम ही चूहड़ा अर्थात् बचा-खुचा खाना खाने वाला पड़ गया। अतएव अभी तक हिन्दू लोग चूहड़ों के लिए थाली में जूठा भोजन छोड़ते हैं।

चूहड़ों के दो प्रकार हैं। एक, वाल्मीकि और दूसरे, लाल वेगी। लाल वेग वाल्मीक का ही शिष्य माना जाता है। चूहड़ों के अनेक गोत्र या उपजातियाँ हैं। ये सब अपने को ऊँची जातियों से निकला मानती हैं। रोहतक के लोहित चूहड़े अपने को सांभर नाम के एक

राजपूत की संतान बताते हैं। चूहड़ों का एक गोत्र चौहान भी है। इसी प्रकार घुग्गे, उटवाल, मट्टू, रहेला, झजोटे, गिल, भट्टी, डला, खोखर, खोंजे और कल्याणे आदि इनकी अनेक उपजातियाँ हैं। स्रोनीभीना नामक उपजाति अपने को कर्ण नामक एक ब्राह्मण राजा की संतान बताती है।

एक दन्त-कथा प्रसिद्ध है। भरत, सधरा, परातना और पूरवा, ये चार ब्राह्मण भाई थे। उन की गाय मर गई। उन्होंने सब से छोटे भाई पूरवा को लाश उठाने को कहा और वचन दिया कि हम भी इस में तुम्हारी सहायता करेंगे। पर जब उस ने उठाने के लिये लाश को हाथ लगाया तो उन भाइयों ने सहायता देने से इनकार कर दिया। इस से उस अकेले को ही लाश उठानी पड़ी। उसे जाति से बाहर निकाल दिया गया। डेरा गाज़ीखाँ में उन ब्राह्मण भाइयों के नाम उरगा, भागा, सधरा, और फरास्तां प्रसिद्ध हैं। वहाँ इस संबंध में निम्नलिखित दोहे भी प्रचलित हैं—

अल्ला चिट्ठी घल्ली है सब खोल बयान।
एथे गया मन्न के हुन क्यों करे अभिमान।
गो खुरी ते एके सभी करदी अरवान।
असाँ ब्राह्मण जन्म दे गल जामा तनियान।

इससे स्पष्ट है कि चूहड़े अपने को जन्मना ब्राह्मण मानते हैं। इसी प्रकार दूसरा दोहा है—

अल्फ़ अल्ला नूं याद कर बेदे आ वेधन्य सिर्जनहारा।
चुगदी चरदी गोखुरी हो पई मुरदारा।
होए देवते इकट्ठे जा करें पुकारा।
तुसीं ब्राह्मण जात दे की बन गई भारा।

अर्थात—चरती-चुगती हुई बछिया मर गई। उसे उठाया गया। सब

देव-गण मिल पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि तुम जाति से ब्राह्मण हो, तुम पर कैसी विपत्ति आ गई है।

श्री० ज्वालाप्रसाद मिश्र अपने "जाति-भास्कर" में गोपीनाथ-रचित "जाति-विवेक" के आधार पर कहते हैं कि ब्राह्मण का ताड़न करने वाले शूद्र के संयोग से तेवर की स्त्री में जो सन्तान उत्पन्न होती है वह भंगी कहलाती है।

९. चमार

जो भंगी मुसलमान हो जाय तो जैसे उसे मुसल्ली कहते हैं वैसे ही जो चमार मुसलमान हो जाय, उसे मोची कहा जाता है। जो भंगी सिख बन जाता है, उसका नाम मज़हबी सिख हो जाता है। इसी प्रकार जो चमार सिख बन जाता है उसे रामदासिया कहते हैं। हिंदुओं में एक मूढ़ विश्वास है कि काला ब्राह्मण और गोरा चमार अशुभ होते हैं। कहावत है—

काला ब्राह्मण गोरा चमार।
इनके साथ न उतरें पार॥

"जाति-कोष" (पृ. १४८) में लिखा है कि चन्नू और मुन्नू दो भाई थे। चन्नू ने अपने हाथ से गाय की लाश को उठाया। इस पर मुन्नू ने उसे बिरादरी से निकाल दिया। इस पर चन्नू की सन्तान चमार कहलाई। कपूरथला राज्य में इन दो भाइयों के नाम गट और मट बताये जाते हैं। चमारों की अनेक उपजातियाँ हैं, जैसे जटिया, पाठी, रेगड़, चौहान, सिंधू, बेरवाल, कठाना, मधान इत्यादि। चमार यद्यपि स्वयं अछूत समझे जाते हैं, तो भी वे डोम नाम की एक दूसरी अछूत जाति के हाथ का नहीं खाते। कारण यह बताया जाता है कि चन्नू ने जब गाय की लाश उठाई थी तो डोम ने उसे देख लिया था।

मेघ—यह भी एक अछूत जाति है। जातिकोष (पृष्ठ ७७) में लिखा है कि इन का पूर्वज ब्राह्मण की सन्तान था। वह काशी में रहा करता था। उसके दो पुत्र थे—एक विद्वान् और दूसरा अपढ़। पिता ने विद्वान् पुत्र से अपढ़ पुत्र को पढ़ाने के लिए कहा। पर उस ने पढ़ाने से इनकार कर दिया। इस पर उसे अलग कर दिया गया। उसी की संतान मेघ हैं।

बौरिये—सम्राट् अकबर और चित्तौड़ के राजा सांदल का युद्ध हुआ। दोनों पक्ष के योद्धा बावली (जलाशय) के निकट लड़ रहे थे। इस पर राजपूत पक्ष के लोग 'बावलिया" नाम से प्रसिद्ध हुए। यही शब्द बिगड़ कर "बौरिया" हो गया।

दूसरी दन्त-कथा यह है कि कोई राजपूत एक लड़की पर आसक्त हो गया और उसने उससे विवाह कर लिया। पर कुछ दिन उपरांत वह अपनी स्त्री को छोड़ कर वन में चला गया। इस पर स्त्री के संबंधी उसे बावला कहने लगे। इस के उपरांत उसका सारा परिवार ही 'बावला' नाम से प्रसिद्ध हो गया। वही शब्द बिगड़ कर 'बौरिया' हो गया। देखिए, पंजाब इन्फर्मेशन ब्यूरो द्वारा संपादित, सर डेन्ज़ल इबटसन और श्रीविलियम की रिपोर्ट—"पंजाब की अछूत जातियाँ।"

तीसरी दन्त-कथा यह है कि बौरिये चाँदा और जोड़ा राजपूतों की सन्तान हैं। जब शहाबुद्दीन गौरी की सेना चित्तौड़ में जयमल फ़त्ता की राजपूत सेना से लड़ रही थी तब ये बौरिये राजपूतों के पक्ष में होकर लड़े थे।

साँसी—यह पंजाब की एक अपराध-व्यवसाय जाति कहलाती है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में दन्त-कथा इस प्रकार है—पंजाब के एक राजा ने अपनी लड़की को किसी कारण नगर से निकाल दिया। वन में घूमते-फिरते उसे एक लड़का उत्पन्न हुआ; उसका नाम 'साहसी'

रखा गया। उसकी सन्तान साहसी कहलाई। साँसी साहसी का ही अपभ्रंश है।

श्री० बी० डे, आई० सी० एस० ने ठीक ही लिखा है कि "ऊँची जातियों में जो विभाजन पाया जाता है, उसे मिटाए बिना जो लोग अछूतोद्धार करते हैं, उनकी कार्य-शैली ग़लत है। जाति-भेद के उन्मूलन के विना अस्पृश्यता-निवारण का यत्न सर्वथा व्यर्थ है। इसका परिणाम नितान्त विफलता होगा। इस समस्या का सच्चा हल जात-पाँत की जड़ पर कुठाराघात करना है। पर दुर्भाग्य से वहु-संख्यक हिन्दू जातिभेद से चिपटे हुए हैं।"*

यदि हिन्दुओं की विभिन्न जातियों की उपजातियों या पारिवारिक नामों को देखा जाय तो एक विचित्र रहस्य का पता लगता है। इनका आपस में मिलान करने से ऐसा लगता है कि ये कथित जातियाँ एक ही उद्गम या मूल से निकली हैं। किसी के ब्राह्मण, किसी के राजपूत, किसी के कुम्हार, किसी के जाट और किसी के चमार कहलाने लगने पर भी उनका मूल में एक होना स्पष्ट प्रकट हो रहा है। मेरे पास सब जातियों की उपजातियों या गोत्रों के नाम वर्तमान नहीं। फिर भी आगे कुछ उपजातियों के ऐसे नाम दिए जाते हैं जो एक से अधिक जातियों में पाए जाते हैं।

पारिवारिक नाम	किन किन जातियों में मिलता है।
भट्टी	राजपूत, चमार, चूहड़ा, कुम्हार, जाट।
ढढियाल, भूपाल, डोड, गोहिल, सेंगर, चौहान	राजपूत, कुम्हार, चूहड़ा।
तालवाड़, सोनी	खत्री, कुम्हार।
भारद्वाज	खत्री, कुम्हार, चमार।
पवार	राजपूत, चमार, मराठा।

* इण्डियन रिव्यू, फरवरी १६१०

मल्ही, सोहल, ढिल्लों	खत्री, जाट, कुम्हार।
खैरा	खत्री, कुम्हार, जाट।
रत्न, लखनपाल	ब्राह्मण, कुम्हार।
चोपड़ा	कुम्हार, खत्री, चमार।
महंता, सेठी	ब्राह्मण, खत्री, अरोड़ा।
सिंधू	जाट, चमार।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये विभिन्न मानव-श्रेणियाँ थीं। परिस्थिति और सुभीते के अनुसार एक ही मानव-श्रेणी कहीं तो चमारों में मिल गई और जूते बनाने लगी और कहीं राजपूतों में मिल कर लड़ने-भिड़ने का काम करने लगी। परन्तु उसने अपना पारिवारिक नाम नहीं छोड़ा। कालान्तर में ये मानव-श्रेणियाँ अपनी वंशगत एकता को भूल गईं। आज यह दशा है कि इनमें से एक जाति खान-पान, ब्याह-शादी और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक हितों की दृष्टि से दूसरी जाति से उतनी ही भिन्न है जितना कि एक चीनी एक फ्राँसीसी से, वरन् जितना चिड़ियाघर का एक जन्तु दूसरे जन्तु से होता है। इन विभिन्न जातियों में आपस में प्रेम का लंव-लेश भी नहीं। उन्होंने एक दूसरे के प्रति बड़ी अपमानजनक कहावतें बना रखी हैं। पाठकों के मनोरंजनार्थ उनमें से कुछ आगे दी जाती हैं:—

बाम्भन की प्रतीति सों सुख सोया न कोय।
बलिराज हरिचन्द का दिया राज इन खोय।
दिया राज इन खोय विप्र ताहिं बनी आई।
सीय जगत की मात ताहि जाय चुराई।
कहे गिरिधर कविराय जगत के ही थम्मन।
कोटि करो उपाय दम्भ नहीं चूके बाम्भन॥

ब्राह्मणों के विषय में एक दूसरी कहावत है—

अकाल बागड़ से ऊपजे, बुरा बाम्भन सें होय।

यू० पी० के तगे ब्राह्मणों के सम्बन्ध में कहावत है—

तगा, ततैया, तूमड़ा और तरहे का तेल।
ये मीठे नहीं होवेंगे कितना ही गुड़ पेल॥

स्कूलों में प्रायः विद्यार्थी कहा करते हैं—

'कायस्थ बच्चे, कभी न सच्चे।'

और—"खत्री पुत्रम् कभी न मित्रम्; जब मित्रम् तब दग़ाम दग़ा।"

दरज़ी-सुनार आदि शिल्पियों के बारे में कहा है—

वेश्या, बन्दर, अग्नि, जल, कूरी, कटक, कलार।
ये दस नहीं आपने सूजी, सुआ, सुनार॥

सूजी दरजी को कहते हैं। बनियों के लिए कहावत है—

तुलसी कभी न कीजिए वणिक-पुत्र विश्वास।
प्रीति-वचन और धन-हरण फिर दास का दास॥

और—जिसका बनिया यार, उसको दुश्मन क्या दरकार?

फिर बनियों ने आपस में भी अपमानजनक बातें बना रखी हैं। महेश्वरी अपने को अग्रवालों से ऊँचा समझते हैं। ओसवाल, सरावगी और महेश्वरी को नीचा समझते हैं। एक दूसरे की खूब निन्दा करते हैं। अग्रवालों के लिए कहा जाता है—

अग्रवाल फग्रवाल महेश्वरी मोतियों की माल।

इसी प्रकार ब्राह्मणों में गौड़ अपने को ऊँचा समझते हैं। वे कहते हैं—"पहले गौड़, पीछे और।" इधर नाई गौड़ों के भी कान काटते हैं। वे कहते हैं—"पीछे प्रभु ने सृष्टि बनाई, पहले बना दिए नाई।" और—

नाई, ब्राह्मण, कूकरा जाति देख गुर्राएँ।

अर्थात्—नाई, ब्राह्मण और कुत्ता अपनी जाति के दूसरे प्राणी को देख कर गुर्राते हैं। और लीजिए—

जाट, जुलाहा, जोगना, जागाती और जोय।
पाँचों जज्जे छोड़ कर प्रीति करो सब कोय।

और—

पीताम्बर छींज्यो भलो साबत भला न टाट।
और जात शत्रु भली, मित्र भला नहीं जाट।

अर्थात्—जाट की मित्रता दूसरी जाति के लोगों की शत्रुता से भी बुरी है। और लीजिए—

जाट न माने गुण करा चना न जाने बाह।

और लीजिए—

छोड़ा छोलन (खाती, बूंट उखाड़न (माली) थपथाड़िया- (कुम्हार) और नाई।
इनसे प्रीति कभू न करियो, दगाबाज़ हैं भाई॥

और—

बनिए से दुष्ट नहीं, खेवट नहीं चमार से।
जाट से लठैत नहीं ठग नहीं सुनार से।
और जात की क्या कहूँ बद नहीं कुम्हार से।

ऐसी निन्दात्मक कहावतें केवल हिन्दी में ही नहीं, भारत की प्रायः सभी भाषाओं में हैं। पंजाबी में कहावत है—

काँ, कलाल, कुत्ते दा,
बसाह न करिए सुत्ते दा।

अर्थात्—कौवा, कलवार और कुत्ता यदि सोए भी पड़े हों, तब भी इनसे सावधान रहना चाहिए, इनसे हानि पहुँचने का डर सब समय बना रहता है। इसी प्रकार मराठी में कहावत है—

सोनार, शिम्पी, कुलकर्णी, अप्पा।
हा तिघाँची संगत नको रे बापा॥

अर्थात—सुनार, छींपा, और कुलकर्णी, इन तीन जाति के लोगों का सहवास परमात्मा किसी को न दे।

एक जाति की दूसरी के प्रति यह घृणा एवं द्वेष-भाव कुछ आज

का नहीं। स्मृतियों में भी ऐसे द्वेषात्मक वचन स्थान स्थान पर मिलते हैं। उदाहरणार्थ व्यास स्मृति में लिखा है—

वर्द्धिक नापितो गोप आशापः कुम्भकारकः।
वणिक्किरात कायस्थ मालाकार कुटुम्बिनः।
वरटो भेद चाण्डाल दास श्वपच कोलकः ॥११॥
एतेंऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः।
एषां सम्भाषणात्स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम् ॥१२॥

अर्थात्—बढ़ई, नाई, ग्वाले, कुम्हार, बनिए, किरात, कायस्थ, माली, भङ्गी, कोल, चाण्डाल, ये सब अन्त्यज कहलाते हैं। इन पर दृष्टि पड़ जाय तो सूर्य-दर्शन करना चाहिए, और इनसे बात-चीत करने के बाद स्नान करना चाहिए। तब द्विजाति मनुष्य शुद्ध होता है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

गोत्र क्या वस्तु है ?

हिन्दू-समाज जैसे असंख्य छोटी छोटी जातियों और उपजातियों में बँटा हुआ है, वैसे ही इसमें अनेक गोत्र और प्रवर भी हैं। एक ओर जहाँ हिन्दू अपनी सीमित जाति या उपजाति से बाहर बेटी-व्यवहार नहीं कर सकता, वहाँ दूसरी ओर वह अपने गोत्र और प्रवर के भीतर भी नहीं कर सकता। जाति के बाहर तो वह इसलिए नहीं करता कि जिससे उसके रक्त की पवित्रता में दोष न आ जाय और गोत्र तथा प्रवर के भीतर इसलिए नहीं कि वह समझता है कि एक गोत्र के लोगों का एक ही रक्त होता है, वे रक्त की दृष्टि से भाई-बहन होते हैं और भाई-बहन का विवाह शास्त्र में वर्जित है। इस दो ओर के प्रतिबन्ध के परिणाम-स्वरूप हिन्दू के लिए २१२१ लड़कियाँ विवाह के लिए निषिद्ध हो जाती हैं। श्रीयुत करन्दीकर, एम. ए. ने अपनी अँगरेज़ी पुस्तक "हिंदू एक्सोगेमी" (Hindu Exogamy) में इस विषय को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। जिस प्रकार जाति और उपजाति के बाहर विवाह करने को पाप समझना भ्रममूलक है उसी प्रकार गोत्र और प्रवर को रक्त-सम्बन्ध मानना भी भूल है। श्री करन्दीकर के मतानुसार वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में विवाह के लिए गोत्र छोड़ने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस काल में कुछ पीढ़ियों को छोड़ कर विवाह करने की प्रथा बहुत प्रचलित थी। शतपथ ब्राह्मण के समय में तीसरी और चौथी पीढ़ी के सपिण्डों में विवाह होते थे। उसके बाद माता की पाँच पीढ़ी और पिता की सात पीढ़ी के भीतर विवाह का निषेध कर दिया गया। सूत्र-ग्रन्थों के समय में सगोत्र विवाह के विरुद्ध भावना उत्पन्न होने लगी।

गोत्र-भेद ब्राह्मण-ग्रंथों के समय आरम्भ हुआ। गोत्र का भाव वेदों,

उपनिषदों और स्मृतियों के समय में थोड़ा बहुत भिन्न-भिन्न समझा जाता था। महाभारत-काल में गोत्र, कुल या वंश का पर्याय समझा जाने लगा। इसके अनन्तर बहुसंख्यक गोत्रों का परित्याग करके ब्राह्मण लोग केवल दस बड़े ऋषियों से अपना संबंध बताने लगे। वे इन दस ऋषियों को ही अपना गोत्रकर्त्ता मानते थे।

प्रवर से तात्पर्य किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के प्रवर्त्तक गुरु के अनुयायियों का कुल था। प्रवर एक आध्यात्मिक संबंध था। इन्हीं प्रवरों के आधार पर गोत्र बने। मनु सब से प्राचीन स्मृतिकार माना जाता है। उसीने सगोत्र विवाह को वर्ज्य ठहराया। पर अपने गोत्र में विवाह करनेवालों के लिए उसने कोई दण्ड नियत नहीं किया। इससे प्रकट होता है कि गोत्र के बाहर विवाह करना अनिवार्य न था। बौद्धायन का मत है कि सगोत्र स्त्री से संबंध न होना चाहिए। पर उससे होने वाली सन्तान औरस है। गौतम सगोत्र विवाह को दण्डनीय कर्म ठहराता है। याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, पराशर सगोत्र विवाह की सन्तान को औरस ठहराते हैं, किन्तु यम और व्यास ऐसी सन्तान को चाण्डाल ठहराते हैं। वीर मित्रोदय के मत से सगोत्र विवाह अवैध है। सगोत्र स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है। धर्म-सिंधु अठारहवीं शताब्दी के अन्त में लिखी गई थी। इस में सगोत्र विवाह करने वालों के लिए साधारण से व्रत द्वारा प्रायश्चित का विधान है। तेरहवीं शताब्दी के बाद सगोत्र विवाह की प्रथा प्रायः बंद ही हो गई थी।

मनु सातवीं पीढ़ी के बाद सपिण्डा विवाह की आज्ञा देता है। गौतम पिता की आठ और माता की सात पीढ़ी के भीतर विवाह का निषेध करता है। बौद्धायन के समय दक्षिण में तीसरी पीढ़ी में सपिण्डों के विवाह होते थे। पर वशिष्ठ, नारद, विष्णु एवं याज्ञवल्क्य, पिता की सात पीढ़ी और माता की छः पीढ़ी के भीतर विवाह करने के विरुद्ध हैं। किन्तु गौतम के सिवा किसी ने भी सपिण्ड विवाह को दण्डनीय नहीं ठहराया और न ही इसे अवैध कहा है। दक्षिण में अब भी मामा

की लड़की से विवाह की प्रथा है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है कि यदि माता-पिता की थोड़ी पीढ़ियों को छोड़ कर विवाह हो जाए तो किसी प्रकार के मानसिक या शारीरिक दोष के बढ़ने का कोई भय नहीं। भय केवल दो तीन पीढ़ी के भीतर विवाह करने में ही है। इस विषय में अँगरेज़, जर्मन, फ्रैंच, रूसी, अमेरिकन आदि संसार की दूसरी जातियों पर भी हमें दृष्टि डालनी चाहिए।

आइए, तनिक देखें कि गोत्र क्या वस्तु है जिसके भीतर विवाह करने को बहन-भाई का विवाह मान कर बुरा समझा जाता है।

श्री गणेशदत्त शास्त्री कृत पद्मचन्द्र कोष में लिखा है—

भूर्गव्ययोगोगोत्रः गोत्रायते। इति मेदिनी गोत्र (१०)।

गोत्रायते—जो पृथ्वी को बचाता है।

गोत्रः पूरक्षकाः गोरक्षकाश्च।

'गोत्र' शब्द दो संस्कृत शब्दों—गो + त्र—से बना है। 'गो' के दो अर्थ हैं—गाय और पृथ्वी। 'त्र' का अर्थ है त्राण या रक्षा करना। इसलिए गोत्र का शाब्दिक अर्थ होता है—"गाय और पृथ्वी की रक्षा करने वाला दल।"

मौलिक और प्राचीनतम आर्य गोत्र ये हैं—

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमाः।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते गोत्रकारकाः॥

आरम्भ में सात ऋषियों ने आर्य दलों (गोत्रों) का संघटन और संचालन किया। उन सात ऋषियों के नाम ये हैं—

१. विश्वामित्र, २. जमदग्नि, ३. भरद्वाज, ४. गौतम, ५. अत्रि, ६. वसिष्ठ, और ७. कश्यप।

कई विद्वान इन सात के साथ आठवाँ अगस्त्य भी बताते हैं और उसे आठवें गोत्र का प्रवर्तक मानते हैं।

समयान्तर में ये सात या आठ गोत्र (आर्य दल) बढ़ कर चौवीस हो गये, फिर उनचास और फिर सैकड़ों–सहस्रों।

चतुर्विंशति गोत्राणि। ऊनपंचाशतगोत्रभेदाः। गोत्राणि तु शतानि अनन्तानि।

प्राचीन सात ऋषियों के वंशजों ने भी, अपने पूर्वजों के सदृश ही, युद्ध एवं शान्ति के लिए अपने दलों या गोत्रों को विशेषज्ञों के चार समूहों में संघटित किया। १. शिक्षक का काम करनेवालों का नाम ब्राह्मण हो गया। २. योद्धा क्षत्रिय कहलाते थे। ३. कमसरियट या खान-पान का प्रबंध करने वालों का नाम वैश्य था। ४. बढ़ई, लोहार, जूता बनाने वाले, वस्त्र बुनने वाले, बोझा ढोने वाले इत्यादि कर्मचारियों को शूद्र कहते थे। इस प्रकार प्रत्येक गोत्र या जन-समूह अपने आपमें सब तरह से पूरी आर्य बस्ती या उपनिवेश होता था। उसमें जीवन की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले लोग रहते थे। किसी बात के लिए उपनिवेश को किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। युद्ध हो या शान्तिकाल वह उपनिवेश (गोत्र) अपने लिए शस्त्र, भोजन, वस्त्र, जूते, घोड़े के ज़ीन इत्यादि सब वस्तुएँ आप ही पैदा कर लेता था। उदाहरणार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के जिस सम्मिलित दल या गोत्र का मुखिया भरद्वाज ऋषि था वह "भरद्वाज गोत्र" कहलाता था। इसी प्रकार भरद्वाज के पुत्र भारद्वाज ने भी एक गोत्र या आर्यदल संगठित किया था। उस गोत्र का नाम उसके मुखिया के नाम पर "भारद्वाज गोत्र" अर्थात् भारद्वाज का जत्था या दल हो गया। इसी प्रकार अत्रि के पुत्र आत्रेय, जमदग्नि ऋषि के पुत्र जामदग्न्य, कश्यप के पुत्र काश्यप और पुराने ऋषियों के दूसरे वंशजों ने अपना अपना दल या गोत्र संघटित किया। जैसा ऊपर कहा गया, इन गोत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी प्रकार के काम करने वाले लोग रहते थे। इस से स्पष्ट हो

जायगा कि विभिन्न वर्णों के होते हुए भी लोग क्यों अपने को एक गोत्र का कहते हैं।

समय पाकर गुरु ऋषि अपने गोत्रों (अनुयायी दल) के साथ वनों में बस्ती बना कर रहने लगे और उन्होंने आश्रम जारी किए। एक आश्रम में रहने वाले सब स्त्री-पुरुष और लड़के-लड़कियाँ 'सगोत्र' (एक गोत्र के) कहलाते थे। आश्रमवासियों में स्त्रियों के लिए लड़ाई-झगड़ा न हो और लड़के-लड़कियाँ बिगड़ न जाएँ, इसलिए गुरु ऋषि ने व्यवस्था दी—'अविवाह्याः सगोत्राः स्युः।' अर्थात् उसके आश्रम में रहने वाले ("सगोत्र") लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह नहीं होना चाहिए। वे आपस में भाई और बहन, गुरु-बंधु और गुरु-भगिनी बन कर रहें। इसी का नाम है एक ही स्थान में रहने वाले पुरुषों और स्त्रियों के विवाह या "सगोत्र विवाह" का निषेध।

हमने ऊपर दिखलाया कि प्राचीन काल में गोत्र किसी गुरु ऋषि के अनुयायी दल का नाम और "सगोत्र" उस ऋषि के आश्रम या बसाई हुई बस्ती में रहने वाले स्त्री-पुरुषों का नाम था। पर वे समय अब नहीं रहे। अब न तो ऋषि गुरु हैं और न उन ऋषियों के आश्रम ही। आज एक गोत्र के स्त्री-पुरुष और लड़के-लड़कियाँ आवश्यक नहीं कि एक ही आश्रम या एक ही बस्ती में रहते हों। आज तो वे समूचे भारत में बिखरे पड़े हैं। वरन् रेल, जहाज़ और आकाश-यान के प्रताप से देश-देशान्तर में जा पहुँचे हैं। इस लिए विभिन्न स्थानों में एक दूसरे से दूर बसने वाले एक ही ऋषि–गोत्र के लड़कों और लड़कियों के विवाह का निषेध इस समय व्यर्थ और अज्ञान-मूलक है।

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि गोत्र का रक्त के साथ कोई संबंध नहीं। यह आवश्यक नहीं कि दो सगोत्र व्यक्ति एक ही माता-पिता की सन्तान हों। इसका समर्थन दूसरी जगह से भी होता

है। मिताक्षरा श्लोक ५० (विवाह-प्रकरण) की टीका में लिखा है कि क्षत्रिय और वैश्य का अपना कोई गोत्र नहीं। उनके पुरोहित का गोत्र ही उनका गोत्र होता है। अग्निपुराण कहता है—

क्षत्रियवैश्यशूद्राणां गोत्रं च प्रवरादिकम्।
तथान्यवर्णसंकराणां येषां विप्राश्च याजकाः॥

(श्री चतुर्थीलाल शर्मा कृत नित्यकर्म प्रयोग माला, पृष्ठ २६)

"उद्वाहतत्त्व" में लिखा है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का गोत्र अतिदिष्ट अर्थात् आरोपित या बनावटी होता है। इतना ही नहीं, एक ही पिता के पुत्र भिन्न भिन्न गुरुओं के कारण विभिन्न गोत्र के हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, राम (बलराम) का गोत्र गार्ग्य और वासुदेव (कृष्ण) का गोत्र गौतम हो गया था।

विष्णु पुराण (३, ११, ३३) में लिखा है कि माता के कुल से पाँचवीं पीढ़ी और पिता के कुल से सातवीं पीढ़ी की लड़की से धर्मयुक्त विधि से विवाह करे। वहाँ गोत्र या जाति का निषेध न तो मातृकुल में है और न पितृकुल में। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य की व्याख्या में और पराशर ने पराशर माधव में श्रुति का यह प्रमाण दिया है—

तस्मात्समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायते।
उत तृतीये संगच्छावहै चतुर्थे संगच्छा वहै॥

अर्थात् एक ही पीढ़ी से भोक्ता और भोग्य भी उत्पन्न होता है। वे दोनों जानते हैं कि "हम दोनों तीसरे या चौथे पुरुष (पीढ़ी) में फिर मिलेंगे।"

इसी प्रकार पाणिनि ने भी लिखा है—अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रम्। (४, १, १६२) इस का भाव यह निकलता है कि पोते के पुत्र के बाद गोत्र बदल जाता है। इन दोनों प्रमाणों में गोत्र और प्रवर का निषेध नहीं।

कवि कालिदास गोत्र का अर्थ सम्मिलित कुटुम्ब लेता है—

एको गोत्रे प्रभवति पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति—भोजप्रबंध।

अच्छा, कुछ काल के लिए हम गोत्र को सम्मिलित कुटुम्ब और उस सम्मिलित परिवार के लड़के लड़कियों को सगोत्र मान लेते हैं और उनके परस्पर विवाह को निषिद्ध ठहरा देते हैं, जिसमें एक ही परिवार में रहने वाले दो भाइयों की सन्तान आपस में विवाह न करे। पर मान लीजिए, एक व्यक्ति अमृतसर में रहता है। उसका दूसरा भाई इँग्लेंड में जा बसा है। वहाँ उसने किसी यूरोपियन महिला का पाणि-ग्रहण किया है। इसी प्रकार उसके बाल-बच्चों के विवाह भी विलायत में हो गये हैं। अब यदि अमृतसर-निवासी भाई की दूसरी या तीसरी पीढ़ी के वंशज इँग्लेंड-निवासी भाई की दूसरी या तीसरी पीढ़ी के वंशज से विवाह कर लें तो इसे सगोत्र विवाह कैसे कहा जा सकता है ? विवाह अपनी जाति के बाहर न हो और अपने गोत्र के भीतर भी न हो, ऐसे बहुत अधिक प्रतिबंध लगाने से हिन्दू-समाज को लाभ के स्थान में हानि अधिक होने का भय है।

सगोत्र विवाह के निषेध का जो उद्देश्य बताया जाता है वह जाति के बाहर विवाह के निषेध से नष्ट हो जाता है। मान लीजिए, एक जाति की आठ उपजातियाँ हैं जो आपस में ही बेटी-व्यवहार करती हैं। अब सैकड़ों वर्षों से आपस में ही विवाह होते रहने और बाहर का नया रक्त उनमें न मिलने से, उस सारी जाति का रक्त एक ही हो जाता है। इसलिए उस जाति के लोगों के विवाह एक प्रकार से भाई-बहन के विवाह हो जाते हैं। मुसलमानों और ईसाइयों में यद्यपि ताऊ-चाचा की सन्तान का आपस में विवाह हो जाता है, तो भी उनमें, जाति-पाँति का कोई बंधन न होने से, बाहर से नया रक्त भी आकर मिलता रहता है। पर हिन्दुओं में यह बात नहीं।

भारतीय संसद और मैसूर की धारा सभा में सगोत्र विवाह विधेयक पारित हो चुके हैं। इन्दौर आदि की कानून बनाने वाली सभाओं में भी यह अधिनियम पारित हो चुके हैं। इनके अनुसार हिन्दुओं में 'सगोत्र विवाह' कानून-सम्मत समझे जायँगे।

बारहवाँ परिच्छेद

१. जातिगत श्रेष्ठता २. वर्णसंकरता का हौआ

देश का दुर्भाग्य है कि इस समय भी कथित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियाँ अपने को एक दूसरे से उतना ही भिन्न समझती हैं जितना कि गाय, घोड़ा, रीछ, मोर, तोता आदि चिड़िया घर के पशु-पक्षी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। उनमें अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझने का भी दुर्भाव बहुत ही बुरी तरह से फैल रहा है। इसलिए ब्राह्मण समझते हैं कि हम शूद्रों से बेटी-व्यवहार करेंगे तो हमारी जातिगत श्रेष्ठता या रक्त की पवित्रता नष्ट हो जायगी। पर उनकी यह दोनों धारणाएँ अज्ञानमूलक हैं। न तो ब्राह्मण और शूद्र में वह भेद है जो गाय और गधे में है और न कोई जाति दूसरी जाति से श्रेष्ठ है। विज्ञान ने दोनों बातों को निराधार सिद्ध कर दिया है। सहस्रों वर्षों से द्विज की श्रेष्ठता और शूद्र की नीचता का ढिंढोरा पीट कर लोगों को भोंदू बनाया गया है। जर्मनी के नाजी भी अपने को शुद्ध आर्य-रक्त की श्रेष्ठ जाति और यहूदियों को नीच-शूद्र मानते थे। नाजी-सत्ता के नाश ने संसार के सामने इस सब से बड़े झूठ की पोल खोल दी है।

अँगरेज और नीग्रो में, या ब्राह्मण और शूद्र में जो विभिन्नता हम समझते या देखते हैं—और जिसे हम बहुत बढ़ा कर देखते हैं—उसका अधिकतर कारण शिक्षा और सुयोग में अन्तर है। "श्रेष्ठ जाति या श्रेष्ठ वंश" नाम की कोई वस्तु नहीं, केवल श्रेष्ठ व्यक्ति हैं और वे सभी जातियों में पाये जाते हैं। ब्राह्मणों और अँगरेजों में भी श्रेष्ठ व्यक्ति हैं और शूद्रों और नीग्रो में भी हैं। अमेरिकन नृतत्त्व शास्त्र के जन्मदाता फ्रेंज बोआस ने ठीक ही कहा है—"यदि हमें समूची मनुष्य जाति में से नंबर तीन पर सब से अधिक समझदार, कल्पनापूर्ण, बलशाली और आवेग में न बह जानेवाले व्यक्ति चुनने पड़ें तो उनमें सभी जातियों के मनुष्य आ जाएँगे।"

चार्लस डार्विन ने विकासवाद के संबंध में पहले यह विचार किया था कि वह एक सीधी लकीर है जिसके पैर पर बंदर है और चोटी पर गौराङ्ग मनुष्य। इसलिए एक झूठी बात का प्रचार हो गया है कि लोगों का एक समूह ऐसा है जो देवताओं से कुछ ही नीचे है।

यदि आप एप नाम के उच्चतर बंदरों में से कुछ की परीक्षा करें, तो आप देखेंगे कि एप की त्वचा हलकी गुलाबी है, पीली या मटियाली नहीं, वरन् गौराङ्ग मनुष्य की त्वचा से अधिक मिलती है। एप बंदर के शरीर पर भी लंबे बाल रहते हैं। गौराङ्ग जाति के शरीर पर भी संसार में सब से अधिक बाल होते हैं। एप के होंठ पतले और नाक की बनावट भी पतली होती है। गोरी जाति के होंठ और नाक की बनावट जितनी पतली होती है उतनी संसार की किसी भी दूसरी जाति के मनुष्यों की नहीं होती। एप के कान छोटे होते हैं और गोरी जाति के समान छोटे कान संसार में किसी भी जाति के लोगों के नहीं।

इसलिए यदि इस काल्पनिक बात पर ही विश्वास करना हो तो हमें विश्वास करना होगा कि गौराङ्ग मनुष्य ही बहुत सी बातों में एप के अधिक सदृश हैं। परन्तु आज वैज्ञानिक लोग यह नहीं कहते कि मनुष्य एप का वंशज है। वरन् वे कहते हैं कि एप और मनुष्य दोनों का पूर्वज एक ही था। विज्ञान अब एप जैसी विशिष्टताएँ न कह कर आदिम विशिष्टताएँ कहता है। प्रत्येक मानवप्राणी यथार्थ में आदिम विशेष लक्षणों का चलता-फिरता अद्भुतालय है। क्या आप अपने कानों को झुला सकते अथवा अपने सिर की बालों वाली चमड़ी को हिला सकते हैं? लाखों वर्ष पूर्व की बात है, हम गाय की भाँति कानों को झुला कर मक्खियाँ उड़ा सकते थे। तब हमें अपने उन पठ्ठों को एड़ लगा कर कानों को हिलाने का प्रयोजन था। हमारे शरीर का एपेण्डिक्स और टान्सिल पीढ़ियों से चली आनेवाली ऐसी दूसरी

वस्तुएँ हैं जो अपनी मौलिक उपयोगिता खो बैठी हैं, जो इस समय हमें कुछ भी काम नहीं देतीं, पर जो अपना मौलिक आकार बनाए रखे हुए हैं। मानव-भ्रूण यही कहानी बताता है। माता के गर्भ में तीसरे सप्ताह के भी मानव-शिशु को आप देखें तो वह गिरगिट, पत्ती या दूसरे किसी स्तनपायी जन्तु के भ्रूण से भिन्न नहीं होता।

निस्सन्देह जातियों में भेद है। त्वचा की रंगत, नेत्रों की तिरछाई, नाक के आकार और दूसरे विशिष्ट लक्षणों की दृष्टि से संसार की तीन बड़ी जातियाँ—मङ्गोल या पीतवर्ण, निग्रो या कृष्ण वर्ण, और काकेशस या गौराङ्ग जाति—एक दूसरे से भिन्न हैं। भेद अवश्य है पर हम उसे ग़लत रीति से देखते हैं। नर-कङ्काल सब कहीं एक जैसा है। ये विशेष लक्षण उस पर ऊपर से लादे गये हैं।

सब महत्त्वपूर्ण शारीरिक लक्षणों की दृष्टि से मनुष्य सब कहीं बिलकुल एक समान है। महत्त्वपूर्ण का अर्थ है मस्तिष्क, हृदय, फेफड़े और मज्जातन्तुजाल। धर्म और विज्ञान आज दोनों इस बात पर सहमत हैं कि सब मनुष्य एक ही परिवार के हैं, उन सब का रक्त एक ही है। विज्ञान धर्म की इस बड़ी शिक्षा की पुष्टि करता है कि सब मनुष्य भाई हैं।

यह एक सत्य है। इस पर भी, जातियों के पृथक् पृथक् होने में लोगों का विश्वास बड़ा गहरा और विस्तृत है। उदाहरणार्थ, मस्तिष्क के डील में अन्तर है। एस्कीमो के मस्तिष्क, शरीर के डील के अनुपात की दृष्टि से, औसतन सबसे बड़े होते हैं। जापानियों का मस्तिष्क गौराङ्ग जाति के मस्तिष्क से औसतन बड़ा होता है। विज्ञान के पास जिस सब से छोटे मस्तिष्क का रिकार्ड है वह एक बड़े प्रतिभाशाली इटालियन मनुष्य, डाँटे, का मस्तिष्क था। सब से बड़े मस्तिष्क बहुधा जड़बुद्धि लोगों में देखे जाते हैं।

एक जाति का दूसरी जाति से भेद करने के लिए खाल की रंगत

पर सब से कम भरोसा किया जा सकता है। गौराङ्ग जाति उन लोगों के नाम पर काकेशस कहलाती है जो काकेशस नाम की पर्वतमाला में रहते थे और जिन को विद्वान् लोग "गौर" वंश का आदर्श समझते हैं। पर हम उन बालों वाले आयन लोगों के संबंध में क्या समझें जिनमें से १६००० एक उत्तरी जापानी टापू में संरक्षित हैं? वे गौर वंश के हैं। बहुत अनुन्नत दशा में होने के कारण वे जापानियों के लिए समस्या बने हुए हैं। उदाहरणार्थ, वे कभी नहीं नहाते, क्योंकि उनका विश्वास है कि वे स्वर्ग में जाने के लिए गंध का सेतु बना सकते हैं!

आप कहेंगे, रक्त में तो भेद है। कम से कम उस भेद के आधार पर ही हम गर्व कर सकते हैं। पर क्या सचमुच कोई गर्व कर सकता है? रक्त के चार नमूने हैं—ए. बी. एल्. और ओ.। ये चारों के चारों संसार की सभी जातियों में पाए जाते हैं। ये ब्राह्मणों में भी पाए जाते हैं और भङ्गियों में भी। सब ब्राह्मणों में एक ही नमूने का रक्त नहीं और न सब शूद्रों में ही एक नमूने का। इस दृष्टि से उन में कोई अन्तर नहीं।

इतिहास के एक काल में एक जाति श्रेष्ठ प्रतीत होती है, क्योंकि जिसे हम सभ्यता कहते हैं उसमें वह उस समय अगुआ होती है। किसी दूसरे काल-खण्ड में कोई दूसरी जाति अगुआ होती है। केवल अशिक्षित लोग ही इन दशाओं को ईश्वर-प्रदत्त श्रेष्ठता का प्रमाण समझते हैं।

वर्णसंकरता का हौआ

व्यवहार में जिसे हम जाति कहते हैं वह हमारी अपनी कल्पना है, वास्तविकता नहीं। कोई भी दो पदार्थ बहुत सी बातों में एक जैसे हों तो हम उन्हें एक जाति कह देते हैं। पर आज के वैज्ञानिकों का स्वतंत्र मत कुछ और है। वे कहते हैं, किसी भी एक या बहुत से

जन्तुओं को आदर्श रूप में रख कर जाति को बनाए रखना बिलकुल असम्भव है। देखिए न, दो कुत्ते भी एक जैसे नहीं होते।

गधे और घोड़े के संयोग से एक तीसरे प्रकार का प्राणी खच्चर उत्पन्न होता है, यह सब जानते हैं। ऐसे ही प्रयोग दूसरे जन्तुओं पर भी हुए हैं। वेस्टमिंस्टर के प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री हेलम ऐसा ही एक नवीन जन्तु उत्पन्न करने में सफल हुए हैं। अफ्रिका की गाय और वहीं के एक भीमकाय हिरण के समागम से यह उत्पन्न हुआ है। शारीरिक दृष्टि से ये दोनों जन्तु नितान्त भिन्न हैं। फिर भी इन दो की सन्तान उनकी अपेक्षा अधिक बलवान्, सुन्दर और उपयोगी सिद्ध हुई है। इसी प्रकार कुत्ते और लोमड़ी के संयोग से उत्पन्न हुई सन्तान का मिलाप यूरोप में एक भेड़िए से कराया गया था। उसके दो बच्चे अबतक जीते हैं। सिंह और चीते के मिलाप से उत्पन्न हुई सन्तान तो भारत में भी बहुत पाई जाती है।

भूगर्भ से निकलने वाले विचित्र कङ्कालों को देखने और इतिहास का अध्ययन करने से पता लगता है कि शताब्दियों पूर्व धरती पर जन्तुओं की जो जातियाँ पाई जाती थीं उनमें से आज कितनी ही धराधाम से लुप्त हो चुकी हैं—अस्तित्व खो चुकी हैं। यही नहीं, आज के समय में कुछ ऐसे भी नवीन प्रकार के जन्तु मिलते हैं जिन का किसी भी प्राचीन शास्त्र अथवा इतिहास में नाम-निशान तक नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त जातियाँ-उपजातियाँ बढ़ती ही जा रही हैं। कुत्तों को देखिए, सैकड़ों नये नये प्रकार के हैं।

परिवर्तन प्रकृति का अटल नियम है। परिवर्तित समय के साथ न चलने वाली कितनी ही जातियाँ संसार के रंग-मंच से अन्तर्धान हो गईं। दौड़ कर साथ चलने वाली आज भी वर्तमान हैं। लुप्त होने वाली ये जातियाँ प्रायः दूसरी जातियों के संयोग से उत्पन्न हुई सन्तान छोड़ जाती हैं। ये वर्ण-संकर सन्तानें समय के साथ द्रुतगति

से चलती और नये नाम से पुकारी जाती हैं। ये दूसरी वर्तमान जातियों से अधिक टिकाऊ होती हैं। ये क्या हैं? अपने पूर्वजों का वर्द्धित विस्तृत रूप।

डार्विन के विकासवाद का सिद्धान्त है—*"योग्यतम का जीवन और अयोग्य का मरण।"* इसी सिद्धान्त के अनुसार यह नई जाति उत्पन्न होती है। वनस्पति जगत भी इसका समर्थन करता है। बहुत पुराने आम का फल अपने पहले आकार से छोटा होता जाता है। कलम या दूसरी रीतियों से एक नये रूप में वह नये आकार और नये ढंग के साथ सामने आता है।

कार्बोनिफेरस युग (Carboniferous Age) के जन्तु, जिनके कङ्काल आज भी भूमि में दबे हुए मिलते हैं, कहाँ लुप्त हो गए? सायबेरिया के हिम प्रदेश में हिम-शिखरों के नीचे हाथी से पचास गुना बड़े जन्तुओं के कङ्काल मिले हैं। वे जन्तु आज कहाँ हैं? सत्ययुग, त्रेता और द्वापर के भीमकाय मनुष्य, रामायण, महाभारत और पुराणों के राक्षस, कहाँ अन्तर्धान हो गये? इन प्रश्नों का यही उत्तर है—परिस्थिति और समय के अनुकूल वे न बन सके; काल के खर स्रोत में टिकाऊ न बन सके; जीवन-संग्राम में असफल सिद्ध हुए। काल ने उन्हें ठोकर मार कर दूर फेंक दिया, मिटा दिया। हाँ, उन के वंशज मनुष्य, हाथी और अन्य जन्तुओं के रूप में वर्तमान हैं।

मनुष्य बुद्धिमान् और दूरदर्शी है। संसार के सब जन्तुओं में श्रेष्ठ है। इस में कुछ विशेषताएँ भी हैं। ये विशेषताएँ परिस्थिति और काल के अनुकूल बनने, किसी अंश में युगान्तर उत्पन्न करने और परिवर्तन को रोकने की हैं। मनुष्य ने अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए कुछ नियम भी बनाए हैं।

प्रत्येक तरुण लड़का और लड़की अपना संबंध एक दूसरे की

शक्ति, बुद्धि और विद्या को दृष्टि में रख कर ही जोड़ती हैं। सांसारिक भाषा में इसे विवाह कहते हैं। विजित जातियाँ विजेता जातियों के साथ संबंध स्थापित कर के समता प्राप्त करती हैं। ठीक इसी प्रकार विजेता भी विजित जाति में रूप-गुण देखकर संबंध कर लेती हैं। प्रत्येक लड़का और लड़की योग्य से योग्य को ही अपना जीवन-संगी बनाना चाहता है। रूप, यौवन और बलाढ्यता सदा से आकर्षण के भारी केन्द्र रहे हैं। पर सभ्यता एवं संस्कृति की प्रगति के साथ साथ विद्या, बुद्धि और धन आकर्षण के केन्द्र बनते जाते हैं। शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से आदर्श भी बदलता जाता है। यह बात उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। एक ग्रामीण युवक यौवन के आरम्भ में जिस सीधी-सादी लड़की पर आसक्त होता है, जिस रूप की पूजा करता है, कालेज में जाकर सभ्य नागरिक मित्र-मण्डली में देर तक रहने के बाद फिर वही युवक अपनी उस प्रेयसी को लुढ़कता हुआ भद्दा पुलन्दा कह कर घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। उसकी नवीन परिवर्तित कल्पना अपनी प्रेमिका के स्वर में वीणा की सी झङ्कार, चाल में हिरणी की सी चुलबुलाहट और रंग-रूप में कुन्दन की सी कान्ति के स्वप्न लेती है। यह पहला नियम है कि जिस पर आचरण कर के मनुष्य-जाति अपने को टिकाऊ बना कर बढ़ने तथा फैलने का प्रयास करती चली आ रही है।

दूसरा नियम है समाजोपयोगी कामों का विभाजन कर के विभिन्न समूहों या श्रेणियों में बाँटना। प्रत्येक मनुष्य सब काम नहीं कर सकता। इसलिए इस व्यवस्था की आवश्यकता है। भारत में यह व्यवस्था बहुत पहले समय में हो गई थी। यह श्रेणि-विभाग चातुर्वर्ण्य के रूप में हुआ था। अब चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सड़ कर दुर्गन्ध छोड़ने लगी है।

हमारे पतन का एक मात्र कारण है उपर्युक्त दोनों नियमों का

उल्लङ्घन। पूर्व काल में विवाह के लिए दूल्हा-दुलहिन के चुनाव में जात-पाँत का अस्वाभाविक प्रतिबंध न था। चारों वर्णों की लड़कियों के लेन-देन की छुट्टी थी। विवाह का उद्देश्य गार्हस्थ्य जीवन को सुखी बनाना और उत्तम सन्तान उत्पन्न करना था। भारतवासी दूसरे देशों और दूसरी जातियों की लड़कियों से विवाह करते थे। अमेरिका की नाग-कन्या उलूपी और अर्जुन का तथा हैलन और चन्द्रगुप्त मौर्य का विवाह जगत्प्रसिद्ध है। धीरे-धीरे सुविधा और आराम के फेर में पड़ कर लोग अपने आस-पास, जान-पहचान, अपने ही वर्ण, और अन्ततः अपने ही कुल में विवाह करने लगे।

वर्णाश्रम की गड़बड़ भी इसी तरह फैली। मनु-स्मृति और ब्रह्मसूत्र के वर्ण को बदलने वाले श्लोक अविद्या की गुहाओं में छिपा दिए गये। वर्ण-व्यवस्था की बहती गंगा का पानी गड्ढों में बाँध दिया गया। गम्भीर, विशाल महासागर तलैया समान छोटा बन गया। ब्राह्मण विद्या पढ़ने-पढ़ाने को दूर फेंक कर पीर, बावर्ची, भिश्ती और खर बन गये। पतन का द्वार खुल गया।

गधे और घोड़े को जैसे हम दो जातियों का मानने लगे वैसे ही ब्राह्मण और शूद्र को भी हम दो अलग अलग जातियों का समझने लगे। हवा बदली। शोध और प्रयोग के आधार पर विशेषज्ञों ने घोड़े और गधे को एक ही जाति का सिद्ध कर दिया। ब्राह्मण और शूद्र का भेद-भाव भी इसी प्रकार अधिक समय तक नहीं ठहर सकता। परिस्थितियाँ और समय बड़ी तीव्र गति से बदल रहे हैं। हमें भी अपना सुधार करना चाहिए। आज वह समय आ गया है जबकि ब्राह्मण का काम कोरी शब्दों की पण्डिताई से नहीं चल सकता; क्षत्रिय केवल बलाढ्यता के बल पर सफल नहीं हो सकते; वैश्य केवल व्याज खा कर नहीं टिक सकते और शूद्र भी केवल टहल-सेवा कर के जीवित नहीं रह सकते। सब को सब गुणों की थोड़ी बहुत मात्रा में

आवश्यकता है। केवल किसी एक गुण पर नहीं, वरन् किसी एक गुण की अधिकता पर वर्ण बने थे। इसलिए न्यूनाधिक मात्रा में सब गुण प्राप्त करने के लिए सब जातियों में परस्पर ब्याह-शादी की आवश्यकता है, नहीं तो हम पंगु, दुर्बल और कायर बन जायेंगे। लुंजे बन कर काम नहीं चल सकता। गुजरात के लोग यदि पंजाबियों से, मद्रास के लोग यदि बंगालियों से, इसी प्रकार एक प्रान्त के दूसरे प्रान्त वालों से ब्याह-शादी करें तो सब को बहुत लाभ होगा और सन्तान भी माता-पिता की अपेक्षा गुणों में बढ़ी-चढ़ी होगी।

ब्रीडर अर्थात् जन्तु पालनेवाले लोग बताते हैं कि वर्ण-संकर जातियों के जन्तुओं की सन्तान जब अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक गुणवान और चुस्त होती है तो फिर मनुष्यों में यह नियम क्यों न प्रचलित किया जाय ? बुद्धिमत्ता और समझदारी से जाति से बाहर किया हुआ विवाह मनुष्य के विकास और अस्तित्व के लिए परम आवश्यक है। बडजूरी नाम का विद्वान् कहता है कि जो मनुष्य उत्तम सन्तान का इच्छुक है उसके लिए दूसरे देशों में विवाह करना उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार उत्तम फल प्राप्त करने के लिए विदेशी तने पर पैवन्द लगाना। उन्नतिशील पाश्चात्य देशों में इस क्रिया का परिणाम बहुत ही सन्तोषजनक और उत्साह-वर्धक हुआ है। कुछ उदाहरण सुनिए—

महारानी विक्टोरिया के समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और भारत-मंत्री लार्ड रेडोल्फ चर्चिल का विवाह संयुक्त राज्य, अमेरिका की कुमारी जेनी जेरोम से हुआ था। इस एङ्ग्लो-अमेरिकन जोड़े की सन्तान हैं इँग्लेंड के प्रसिद्ध राजनीति-विशारद श्री विंस्टन चर्चिल।

बेतार के तार के अविष्कर्ता श्री मारकोनी के पिता इटालियन और माता आयरिश थी।

इँग्लिश और फ्रेंच रक्तों की मिलावट की उपज हैं प्रसिद्ध लेखक

श्री हिलेर वल्लोक और श्रीमती बल्लोक लाऊएडोस। ये दोनों ही फ्राँसीसी पिता और अँगरेज़ माता की सन्तान हैं।

इन सब से बढ़कर प्रमाण है इतिहास-प्रसिद्ध जगद्विजेता सिकन्दर महान् और मुग़ल राजकुमार दारा। हिन्दूधर्म विज्ञान-मूलक धर्म है। इसलिए हमें विज्ञान के प्रयोगों और सचाइयों पर आँखें नहीं बंद कर लेनी चाहिएँ। एक सजीव धर्म को निर्जीव बना डालना अच्छा नहीं*

*अगस्त १६३७ की "क्रान्ति" में प्रकाशित प्राध्यापक कमल नयन, एम. ए., पी-एच० डी० के एक लेख का सारांश।

तेरहवाँ परिच्छेद

रक्तसंकर और वृत्तिसंकर

बहुत प्राचीन काल से हमारे यहाँ वर्णसंकरता अर्थात् रक्त-मिश्रण को बहुत बुरा माना जाता है। आप किसी हिन्दू या किसी हिन्दू बिरादरी को बहुत डराना चाहते हैं, तो उस से कह दीजिए कि तुम तो वर्ण-संकर हो। बस आपका उद्देश्य पूरा हो जाएगा। प्राचीन काल में जात-पाँत तोड़क विवाह होते थे अवश्य, पर स्मृतिकारों ने उन को बंद कर दिया। याज्ञवल्क्य स्मृति के समय तक अनुलोम और प्रतिलोम सब प्रकार के विवाह बंद हो गए। दो रक्तों की मिलावट के संबंध में आज भी वही भाव हम में वर्तमान है। जात-पाँत तोड़क विवाहों का आन्दोलन चला तो है, और पढ़े-लिखे लोग जात-पाँत तोड़ कर विवाह करने में कोई दोष भी नहीं देखते, पर अभी ऐसे विवाह पर्याप्त संख्या में नहीं होने लगे। इस से जान पड़ता है कि लोगों में रक्त-संकरता अर्थात् रक्तों की मिलावट का डर अभी तक वर्तमान है। जिस वर्ण-संकरता को हिन्दू इतना भयानक और निषिद्ध समझते हैं, उसी पर आगे विचार किया जाएगा।

रक्त-संकर पर विचार करने के पहले प्रश्न होता है कि संकर या मिलावट किसे कहते हैं? इस का उत्तर मिलेगा कि विभिन्न रक्तों के घरानों के स्त्री-पुरुषों का विवाह 'संकर' कहलाता है। पर विभिन्न रक्त से क्या अभिप्राय है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। विभिन्न रक्त दिखलाने के लिए हमें सिद्ध करना होगा कि जिन दो जातियों या घरानों की बात हम ले रहे हैं वे शारीरिक गठन, मनोभाव और बुद्धि-बल में एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इतना ही नहीं, हमें यह भी प्रमाणित करना होगा कि इन दो रक्तों की मिलावट से आगे जो

सन्तान उत्पन्न होती है वह निकृष्ट कोटि की होती है। नहीं तो उपर्युक्त तीनों बातों में विभिन्नता दिखलाने पर भी यह निर्णय नहीं दिया जा सकता कि इन दो जातियों में रक्त-संकर अच्छा नहीं।

रक्त की मिलावट को बुरा बताने वाले कहते हैं कि—(१) रक्त-संकर से वंश का अन्त हो जाता है, (२) उन की सन्तान निकम्मी और कर्तृत्वहीन होती है, (३) दो विभिन्न रक्तों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाली सन्तान में विशेष प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। नितान्त विभिन्न वंशों के रक्तों की संकरता से उपर्युक्त दुष्परिणाम निकलते हैं या नहीं, इसका निश्चय विशेषज्ञों के प्रयोगों से किया जाएगा।

ए. टी. काटरीफ़ीज़स ने अपनी पुस्तक "ह्यूमन स्पीशीज़" में मेकसीको, पेरू एवं अफ्रिका में कई वर्ष तक रहने वाले एक पर्यटक के अनुभव दिए हैं। उन से इस प्रश्न पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ईस्ट इण्डीज़, मेक्सिको और पेरू में आज तीन सौ वर्ष से यूरोपियन और उन देशों के आदिम निवासियों के बीच रक्त का मिलना जारी है। तो भी सन् १८७६ में वहाँ की जन-संख्या एक करोड़ अस्सी लाख थी (पृष्ठ २६१)। केप कालोनी में डच और हाटनटाट लोगों में और मनीला में चीनी और स्पेन के लोगों में परस्पर शादी-ब्याह की प्रथा प्रचलित है। किन्तु वहाँ की जन-संख्या कम नहीं हुई। लीकेली अण्ट नाम के पर्यटक ने जो अन्वेषण किए हैं उनसे पता लगता है कि यूरोपियन और हाटनटाट में परस्पर विवाह होने से जितनी संतान बढ़ी है उतनी हाटनटाट का हाटनटाट के साथ विवाह होने से नहीं। हन बोरन ब्राज़ील देश के संबंध में भी ऐसा ही कहता है। "कोई बड़ा रोग या जान-बूझ कर की हुई हत्या या कोई और आपदा न हो तो जगत में विभिन्न वंशों में विवाह करने वाले कोई भी लोग निःसन्तान नहीं रहते।"—ऐसा कैसल का मत है (जेनेटिक्स एण्ड यूजेनिक्स सन् १६२७, पृष्ठ ३३१)। एच. जी. वॅल्ज़ ने भी अपनी

पुस्तक, "वर्क, वेल्थ एण्ड हैपिनस" में यही मत प्रकट किया है। इस से ऐसा लगता है कि ऐसा कोई भी नहीं मानता कि विभिन्न वंशों में विवाह होने से वंश का अन्त हो जाता है।

मनु ने यह मत प्रकट करने का यत्न किया है कि अमुक रक्तों की मिलावट से अमुक विशिष्ट गुण वाली संतान उत्पन्न होती है। कुछ सनातनी पण्डित भी यही बात कहते और अपने समर्थन में वूगल नामक विद्वान् को पेश करते हैं। वूगल कहता है कि ब्राज़ील देश में विभिन्न वंशों की संकरता से उत्पन्न हुए लोगों में से कोई चित्रकार बन गया है, कोई बाजा बजाने वाला और कोई डाक्टर। अमुक अमुक वंशों की मिलावट से चित्रकार उत्पन्न होता है और दूसरे अमुक अमुक का मिलाप हो तो डाक्टर उत्पन्न होता है, इस प्रकार का कोई विभाजन वूगल ने नहीं किया। वूगल ने ही क्यों किसी ने भी नहीं किया। गायना देश के आदि-निवासियों और पुर्तगीज़ों के रक्त की मिलावट ब्राज़ील देश में हुई है। और इनकी वर्ण-संकर सन्तान ने भी सभी बौद्धिक और नैतिक क्षेत्रों में अच्छी उन्नति की है। कला के समान ही इन लोगों ने राज-काज और विज्ञान के क्षेत्र में भी खूब उन्नति की है। लीगस नामक पर्यटक का यह मत "ह्यूमन स्पीशीज़" नामक पुस्तक में उसके लेखक ने प्रमाण-रूप में उपस्थित किया है। किन्तु इससे उसका स्पष्ट उद्देश्य यह है कि जब वैद्यक, चित्रकारी, गान विद्या और वाग्मिता आदि गुण शुद्ध वंश की सन्तान में भी पाए जाते हैं तो यह कहने से क्या मतलब कि यह रक्त-संकर सन्तान की विशेषतायें हैं? मनु का अभिप्राय यदि जाति-धर्म से हो तो भी उसका यह निर्णय कि अमुक जाति का अमुक स्वाभाविक गुण होता है, सरासर भूल है।

नितान्त विभिन्न वंशों की मिलावट की सन्तान निकम्मी और निकृष्ट होती है, इस में कोई बहुत झगड़ा नहीं। उपर्युक्त पर्यटकों की

बातों पर ध्यान दें तो पता लगता है कि उनका मत है कि वह निकम्मी नहीं होती। पर इस विषय में बहुत से विद्वान् कहते हैं कि ऐसा रक्त-संकर नहीं होना चाहिए। गेटस कहता है कि स्पेनिश+चीनी, फ्राँसीसी+रेड इण्डियन, और नार्डिक+मंगोल जैसे परस्पर विवाह नितान्त अनुचित हैं। मॅक डूगल और अन्य कई पण्डितों ने विशुद्ध यूरोपियन+नीग्रो से होने वाली सन्तान की तुलना करके यह दिखलाया है कि दो विभिन्न रक्तों की मिलावट से उत्पन्न होने वाली सन्तान घटिया दरजे की होती है। डीन इङ्ग और कैसल भी कहते हैं कि बहुत विभिन्न वंशों का परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए। इस प्रकार यद्यपि यह कोई नहीं मानता कि रक्त-संकर सन्तान का वंशोच्छेद हो जाता है अथवा उसमें कुछ विशेषतायें आ जाती हैं, तो भी यह सब का मत है कि बहुत ही भिन्न वंशों की मिलावट की सन्तान निकृष्ट कोटि की होती है, इसलिए वह सर्वथा अनुचित है।

इस स्थल पर एक और बात विचारणीय है। विभिन्न वंशों के रक्त-संकर की सन्तान निकम्मी होती है, इन पण्डितों ने यह जो परिणाम निकाला है, उसे निकालते समय यह ठीक है कि पर्यवेक्षण के लिए जो वंश उन्हों ने लिए थे वे एक दूसरे से नितान्त विभिन्न थे। किन्तु जैसे वे रक्त में विभिन्न थे वैसे ही वे संस्कृति और स्थिति में भी नितान्त विभिन्न थे। यूरोप का मनुष्य तो संस्कृति और कर्तृत्व के शिखर पर पहुँचा हुआ है और अमेरिका एवं अफ्रीका के आदिम वासी ने संस्कृति की पहली सीढ़ी पर भी पाँव नहीं रक्खा। इसलिए उनके रक्तों के मिलने से घटिया सन्तान उत्पन्न होगी, यह ठीक ही है। परन्तु जो दो वंश संस्कृति और कर्तृत्व में समान किन्तु केवल रक्त में नितान्त भिन्न हैं उनमें यदि परस्पर ब्याह-शादी हो तो उन की सन्तान निश्चित रूप से निकृष्ट ही होगी, ऐसा कहने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। भारत के इतिहास में जो थोड़ा सा साक्ष्य

मिलता है वह तो इस रक्त-संकर के पक्ष में ही है। हमारे यहाँ तुर्क, अफ़गान और मुग़ल का रक्त राजपूत के रक्त के साथ बार बार मिलता रहा है। और उसका परिणाम बुरा नहीं हुआ, वरन् एक बड़े अंश में अच्छा ही देख पड़ा है। अकबर, जहाँगीर शाहजहाँ और औरङ्गजेब, इन चारों मुगलों की पत्नियाँ राजपूत थीं। और सलीम, खुसरो, काम बख्श जैसे उनके लड़के कर्तृत्व वाले थे। यूसुफ़ आदिल-शाह की स्त्री उनके मंत्री मुकुन्द राव की बहन थी। इतिहास कहता है कि उनका पुत्र इस्माईल न्यायप्रिय, दूरदर्शी, रसिक एवं विद्वान् था। लोदी वहलोल की स्त्री एक सुनार की लड़की थी। उस का बेटा भी ऐसा ही था। यह अफ़गान और मराठों के रक्त-संकर की बात हुई। शमसुदीन ने काश्मीर के राज्य और रानी पर अधिकार कर लिया था। उस रानी कमल देवी के गर्भ से उसके पाँच पुत्र हुए। वे पाँचों के पाँचों साहसी और वीर थे। समूचा तुग़लक़ वंश तो तुर्क और राजपूत रक्तों की मिलावट से ही बना था। बाबर तुर्क और मंगोल के रक्त-संकर से बने क़बीले में उत्पन्न हुआ था। बाजीराव पेशवा और उसकी मुसलमान स्त्री मस्तानी का बेटा शमशेर बहादुर और उसका पुत्र आली जाह बहादुर दोनों ही बड़े पराक्रमी थे। समुद्र गुप्त भी चन्द्रगुप्त और शूद्र वंश के लिच्छिवी घराने की लड़की कुमार देवी का पुत्र था। सब से अधिक महत्वपूर्ण उदाहरण वेद व्यास का है। यह जगद्वन्द्य महात्मा ब्राह्मण पिता और धीवर (मल्लाह) माता के पेट से उत्पन्न हुआ था। इन थोड़े से उदाहरणों से यद्यपि कोई नितान्त निर्णायक बात नहीं कही जा सकती तो भी यह कहने के पहले कि संस्कृति और कर्तृत्व में एक दूसरे से नितान्त भिन्न वंशों की संकरता बुरी होती है, इन उदाहरणों पर भी विचार करना पड़ेगा। एक पण्डित कहता है कि लोग रक्त-संकर को निन्दनीय समझते हैं। इसलिए रक्त-संकर बच्चों का पालन-पोषण भी भली भाँति नहीं किया जाता। फलतः वे

घटिया हो जाते हैं। उनको भी यदि उत्तम सुविधा मिले तो वे भी बड़े बड़े पदों पर पहुँच सकते हैं (बायोलाजिकल बेसिज़ आफ़ ह्यूमन नेचर, पृष्ठ २८७)।

यहाँ तक तो नितान्त विभिन्न वंशों के रक्त-संकर के संबंध में विमर्श हुआ। यह बात मान कर भी कि इन का संकर विशेषज्ञों को पसंद नहीं, अब, अधिक निश्चित रूप से कहें तो, यह देखना चाहिए कि सारस्वत, गौड़, खत्री, कायस्थ, अग्रवाल, जाट, बढ़ई, ग्वाला और दूसरे प्रान्तों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ आदि के आपस के विवाहों में इन पण्डितों को आपत्ति है या नहीं।

गालटन, एलस, फ़्रीमन, मॅकडूगल, इङ्ग, कैसल, डेवन पोर्ट आदि अनेक पण्डितों ने इस विषय पर विमर्श करके परिणाम निकाला है कि इतना ही नहीं कि निकट निकट के रक्तों में विवाह अहितकर नहीं होता, वरन् वह समाज के लिए नितान्त उपयोगी और आवश्यक भी है। जब जब ये विद्वान रक्त की पवित्रता की बात कहते हैं तब तब वे केवल कुल की ही बात कहते हैं। अर्थात् जब एक बार नितान्त भिन्न वंश को छोड़ दिया तो फिर वे जाति या श्रेणी आदि का भेद कुछ नहीं करते। वे इतना ही कहते हैं कि जिस कुल की लड़की आप को लेनी है उस कुल में वंश-परम्परागत रोग, मानसिक दुर्बलता, पागलपन या बुरी प्रवृत्ति तो नहीं, केवल इतना ही देखना चाहिए। ऐसे सदोष कुल अच्छे कुलों का नाश कर देते हैं। इसलिए अच्छे कुलों को विवाह-संबंध करते समय बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। विभिन्न जातियों या वंशों में ही नहीं, वरन् सारस्वत का सारस्वत और बनिए का बनिए में विवाह करते समय भी वे इस बात का ध्यान रखने को कहते हैं। उनकी आपत्ति केवल कुल की शुद्धता तक है। जब समान संस्कृति, समान रूप-गुण, और समान

कर्तृत्व देख पड़ें और कुल में दूसरा कोई दोष न हो, तब किसी भी दो कुलों की जाति या श्रेणी का विचार न करके, परस्पर विवाह कर लेने में कोई हानि नहीं, ऐसा ही उनका अभिमत है। डीन इङ्ग[1] कहता है—

"सदा अपनी ही छोटी सी जाति के भीतर विवाह करते रहना अहितकर है। बीच बीच में जाति से बाहर भी विवाह करना चाहिए। बाहर से अच्छा रक्त लाकर मिलाना और फिर उसमें और रक्त की मिलावट करनी चाहिए। ऐसा करने से ही देश में उत्तम कोटि के स्त्री-पुरुषों के जन्म लेने की अधिक सम्भावना है।"

कैसल[2] ने भी अपनी पुस्तक "जेनेटिक्स एण्ड यूजेनिक्स" (पृष्ठ २७२) में यही सम्मति प्रकट की है। उसने यह बात अच्छी कही है कि जिस विवाह से सामाजिक पद की हानि होती हो वह नहीं करना चाहिए। उसका मत है कि ऐसे रक्त-संकर से अगली सन्तान अधिक पराक्रमी एवं बलिष्ठ होती है।

हमारे देश (अमेरिका) में निकृष्ट प्रकार के लोगों को नहीं आने देना चाहिए, इस के लिए किस किस पर रोक लगानी चाहिए, यह बताते हुए डेवन[3] पोर्ट कहता है—

---

1. Continued breeding in a small society is certainly prejudicial. Probably alternate periods of fusion with immigrants and stabilising the results give a nation the best chance of producing a fine type of men and women.
—"Outspoken Essays," page 261.

2. The mixture of elements, not too dissimilar provided the social heritage is not unduly disturbed, is on the whole beneficial. It results in the increase of vigour and energy in the offspring.

3. In fact no race is dangerous and none undesirable, but only those individuals whose germinal determiners from the standpoint of life, are bad. In other words, immigrants are desirable who are of good blood and undesirable who are of bad blood." Heredity in relation to Eugenics. p. 221.

"वास्तव में न कोई जाति भयावह है और न कोई अवाञ्छनीय है। केवल वही व्यक्ति भयावह और अवाञ्छनीय हैं जिन के रज-वीर्य, जीवन की दृष्टि से बुरे हैं। दूसरे शब्दों में विदेश से आ कर यहाँ बसने वाले वे व्यक्ति वाञ्छनीय हैं जो उत्तम रक्त के हैं और वे अवाञ्छनीय हैं जो बुरे रक्त के हैं।"

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यहाँ डेवन पोर्ट ने यह नहीं कहा कि अमुक व्यक्ति या अमुक जाति त्याज्य है। रक्त की विशुद्धता का वह भी इच्छुक है। पर इस के लिए वह कुल की छान बीन करने को कहता है। उस का मत है कि अमेरिका को यूरोप में अपने एजण्ट रखने चाहियें। जो व्यक्ति अमेरिका में आने के लिए प्रार्थना-पत्र दे उसके कुल के इतिहास की जाँच-पड़ताल करनी चाहिए। यदि वह अच्छा निकले तो उसे आने देना चाहिए (पृष्ठ २२४)।

जन-समूहों में बेटी-बन्दी होने से उन के विशिष्ट गुणों की वृद्धि होती है, ऐसा कहते हुए भी गेट्स मिश्र विवाहों के पक्ष में ही है*। गेट्स का संकेत इतना ही है कि रक्तों की विभिन्नता की कोई सीमा होनी चाहिए। पर उसका मत है कि इस सीमा का खयाल रखने के बाद विभिन्न जातियों और श्रेणियों के परस्पर मिश्र विवाह बहुत ही उचित हैं।

मॅक डूगल, डाल्टन और फ्रीमन इन सब का भी यही मत है। वे कहते हैं कि एक जैसी संस्कृति और एक जैसे गुण-रूप वाले कुलों में मिश्र विवाह अवश्य होने चाहियें। उनके मतानुसार समाज में केवल

* Intermarriage of diverse strains is important, both from point of view mentioned above, and on account of the increased vigour resulting from the heterogeneous condition. but there are important limitations in the width of crosses which are desirable—"Heredity and Eugenics" p. 222-

दो ही जातियाँ हैं—एक तो कर्तृत्व शक्ति वाले कुलों की जाति और दूसरी नाकारा और कर्तृत्व-हीन कुलों की। किन्तु ये दो जातियाँ भी कोई स्थायी नहीं हैं। प्रयोग सदा जारी रहने चाहियें। ऊपर के लोगों में कोई नीच प्रवृत्ति वाला देख पड़े तो उसे बाहर निकाल देना और नीचे वाले किसी में कोई कर्तृत्व देख पड़े तो उसे ऊपर ले जाना चाहिए।

उपर्युक्त पण्डितों के मत में ऐसी ही समाज-रचना होनी चाहिए। इस अनुक्रम के निरन्तर जारी रहने से समाज में कोई स्थायी जातियाँ न रह सकेंगी। ऊपर की कल्पना मॅक डूगल ने अपनी पुस्तक, "एथिक्स एण्ड सम वर्ल्ड प्राबलम्स" में बताई है और यहीं विचार उसने "नैशनल वेलफेअर एण्ड डीके" नाम की पुस्तक की भूमिका में दिया है। उत्कृष्ट लोगों की जाति तैयार करते समय उसमें जो नवीन मनुष्य लिए जाएँगे उनके कुल का इतिहास देखा जायगा। एक बार चुन लिए गए घराने के लड़के भी बिना परीक्षा किए उच्च श्रेणी में नहीं लिए जाएँगे। इसमें कोई भी संदेह नहीं कि उनको उन्नति के लिए अधिक सुविधा होगी, पर सब कसौटियों पर पूरा उतरने के उपरान्त संसार के किसी भी मनुष्य को इसमें रुकावट न होगी। निस्सन्देह उन का ऐसा ही कथन है।*

गाल्टन के जीवन-चरित में पीटरसन कहता है कि गाल्टन इस बात का स्वप्न देखा करता था कि समाज के प्रत्येक स्तर से उत्तमोत्तम मनुष्य चुन कर और उनका आपस में विवाह करके उन की एक जाति तैयार करनी चाहिए। (भाग २, पृष्ठ १२१; भाग ३ पृष्ठ २३४)।

"हरेडटरी जीनियस" नामक पुस्तक में गाल्टन ने एक जगह ३१ जजों के घरानों का वृत्तान्त दिया है और कहा है कि कुछ तो इस कारण कि उन में से कई एक ने लखपतियों की एकलौती लड़कियों

*"Admitting of new members selected from the whole world."

से विवाह किया था, और कुछ के अविवाहित रहने के कारण, ये घराने नष्ट हो गए। माता की और पुत्री की सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति में वंशपरम्परागत संबंध रहता है। माता के लड़का नहीं था, इसलिए उसकी पुत्री को भी लड़का नहीं हुआ, इस परिणाम में जाति, श्रेणी या विभिन्न रक्त का कुछ भी संबंध नहीं। पीटरसन का मत है कि जो परिणाम उसने ग्रहण किए हैं वे भ्रान्त हैं। इरस्मस डार्विन का मत है कि माता और उसकी पुत्री की सन्तान उत्पन्न करने की सामर्थ्य में कोई वंशपरम्परागत संबंध नहीं। पीटरसन डार्विन के इस मत को स्वीकार कर के इन घरानों के वंशोच्छेद का कारण उनके नैतिक दुराचार को मानता है।

एलिस ने "स्टडी आफ़ ब्रिटिश जीनियस" नाम की पुस्तक में एक सहस्र मनुष्यों के घरानों का अध्ययन किया है। इसमें उस ने दिखाया है कि आयरिश+इँग्लिश और वेल्ज़+इँग्लिश, इन दो मिश्र विवाहों में जितने कीर्तिवान् मनुष्य उत्पन्न हुए उतने निकट होते हुए भी स्काच और इँग्लिश के मिश्र विवाह से नहीं हुए।[1]

समाज के सभी स्तरों से उत्तमोत्तम कुल चुन कर उनकी एक जाति बनाई जाए और उस जाति को सदा बढ़ाया जाए, यह बात अँगरेज़ विचारकों के मन में बैठ चुकी है। गाल्टन और मॅक डूगल के विचार तो ऊपर दिये जा चुके हैं, आस्टन और फ़ीमन का भी यही मत है। इस प्रकार जो जाति बनेगी, उसकी एक राष्ट्रीयता बनाए रखने के लिए ही वे इतना कहते हैं कि उसमें अँगरेज़ों के सिवा और किसी को न लिया जाए। परन्तु एक बार इसका प्रतिबंध करने के उपरान्त शेष केवल कुल की पवित्रता का ही विचार करना चाहिए[2]।

---

1. The Irish and the Welsh are much better adapted for crossing with the English than the more closely related Scotch. p. 23.

2. No restriction in respect of class or caste would be entertained.—"Social Decay and Regeneration." p. 318.

जाति और श्रेणी के प्रतिबंध को रखने को वे बिलकुल तैयार नहीं। श्रेणी में से चाहे कोई भी घराना हो, योग्य होने से वह लिया जा सकता है।

समान संस्कृति वाले दो समूहों में मिश्र विवाह निषिद्ध तो बिलकुल नहीं, वरन् वे नितान्त वांछनीय हैं। इन पण्डितों का स्पष्ट मत है कि इससे अगली पीढ़ी की शक्ति और कर्तृत्व बढ़ता है। गेट्स एक पग और भी आगे जाता है। वह रक्त की इस सीमा के भीतर की मिलावट का एक दूसरा लाभ भी बताता है। पर्ल और लिटल नामक दो विद्वानों द्वारा किए गये अध्ययन के आधार पर वह कहता है कि अँगरेज़, आयरिश, रूसी, इटालियन, जर्मन और ग्रीक के मिश्र विवाहों को देखा जाए तो कम से कम उनकी पहली पीढ़ी में तो लड़कों की उत्पति अपेक्षाकृत बहुत बढ़ी[1] दिखाई देती है। विशुद्ध सन्तान और मिश्र सन्तान में लड़के और लड़कियों की संख्या आगे लिखे के अनुसार है। विशुद्ध—लड़कियाँ १००, लड़के १०६.२७; मिश्र—लड़कियाँ १०० और लड़के १२१.५६। जात-पाँत तोड़क विवाहों का यह बहुत बड़ा लाभ है।

विभिन्न रक्तों के मिलने से उत्पन्न होने वाली सन्तान निकृष्ट और निकम्मी नहीं होती, उसका वंशोच्छेद नहीं होता, और उसमें दोष भी नहीं आते। इतना ही नहीं, विभिन्न रक्तों के मिलाप से उत्पन्न हुई सन्तान समाज के लिए बहुत उपयोगी होती है। उससे पराक्रम और कर्तृत्व के अतिरिक्त, हम देख चुके हैं, नर-सन्तान की भी वृद्धि होती है।

जात-पाँत तोड़क विवाहों के विरोधी एक दूसरी बात भी पेश किया करते है। उनका मत है कि 'क' नाम के समूह में कोई एक

1. In crosses between European races there is a higher ratio of male briths at least in the first generation.—
"*Heredity and Eugenics.*" Page 230.

विशेषता वर्तमान है। उस के रक्त की मिलावट यदि 'ख' नाम के जन-समूह के रक्त में हो तो "क" का वह विशिष्ट गुण नष्ट हो जायगा। "क" को यदि वह अपना विशिष्ट गुण बनाए रखना हो तो उसे केवल अपने ही समूह की लड़की से विवाह करना चाहिए।

वंश-परम्परा के नियम की भ्रान्त कल्पना से ही उपर्युक्त प्रकार की धारणा बन जाती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि एक विशेष कर्तृत्व-शक्ति रखने वाला मनुष्य-समूह लिया जाए तो उस की अगली पीढ़ी पराक्रमी एवं कर्तृत्व वाली होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि उसका कर्तृत्व अमुक रीति से प्रकट होगा। यह बात भी नहीं कि किसी एक समूह में पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही प्रकार का कर्तृत्व नहीं रहता। वरन् वह वंशपरम्परा एवं वातावरण के कारण रहता है। इसका उदाहरण पारसी हैं। परिस्थिति में परिवर्तन से वही समाज विभिन्न प्रकार का कर्तृत्व दिखला सकता है। और तब वही पराक्रमी कहलायगा। अर्थात् एक ही जन-समूह में मूलतः कई प्रकार की कर्तृत्व-शक्तियाँ रहती हैं। इसलिए इस भय का कोई कारण नहीं कि दूसरे समूहों में इसका संकर होने से इसके विशिष्ट कर्तृत्व की शक्ति नष्ट हो जायगी। कुलों के संबंध में भी ऐसी ही बात है। एक कुल में कई प्रकार के कर्तृत्व की शक्तियाँ हो सकती हैं। इसलिए यदि एक कुल के लोगों का किसी भी क्षेत्र के, परन्तु उच्च कोटि के, कुलों के साथ विवाह-संबंध करा दिया जाय तो पर्याप्त है। अर्थात् यह बात कभी नहीं भुलाई जा सकती कि रूप, गुण और संस्कृति का बंधन तो सदा बना ही रहेगा। यह सच है कि व्यक्ति की दशा में उपर्युक्त नियम सिकुड़ जाता या टेढ़ा हो जाता है अर्थात् गवैये का पुत्र प्रायः अच्छा गवैया होता है। पर यह कोई नियम नहीं कि वह अवश्य ही अच्छा गवैया होगा। कहावत भी है—

होत भले के सुत बुरे भले बुरे से होत।
दीपक से काजल प्रकट कमल कीच से होत॥

इस लिए उनकी एक अलग जाति बनाने के विचार को महत्त्व नहीं दिया जा सकता। शरीर, मन और बुद्धि की दृष्टि से सबल कुलों से संबंध कराने में इतनी सतर्कता रखने के उपरान्त फिर किसी भी कुल में विवाह करने से विशिष्ट गुणों के नष्ट होने का डर नहीं रहता।'

वृत्ति-संकर

यहाँ तक तो हुई रक्त-संकर की बात। अब वृत्ति अर्थात् व्यवसायों की मिलावट पर थोड़ा विचार किया जाता है। हम दिखलाएँगे कि वृत्ति-संकर भी रक्त-संकर के ही समान लाभदायक है। आप देखेंगे कि चातुर्वर्ण्य के मूल में रहने वाली ये दोनों कल्पनाएँ कितनी निःसार हैं। एक वर्ण के मनुष्य का दूसरे वर्ण का व्यवसाय ग्रहण करने का नाम वृत्ति-संकर या व्यवसाय की गड़बड़ है। इसमें सन्देह नहीं कि आज वृत्ति-संकर की उतनी निन्दा नहीं की जाती जितनी कि रक्त-संकर की, तो भी उसे निषिद्ध माना जाता है।

मनु ने एक जगह (अध्याय ३ श्लोक ६४–६५) कहा है कि ब्राह्मणों को वैद्यक, शिल्प, ब्याज-बट्टा, पशु–बेचना और राजा की सेवा नहीं करनी चाहिए। यह भी कहा है कि इनको गाना-बजाना नहीं करना चाहिए (४, १५), किसी भी प्रकार का मांस नहीं खाना चाहिए (५, ४५; ५१), और यदि कोई श्राद्ध में पकाया हुआ मांस हठपूर्वक नहीं खाता तो वह अभागा २१ बार पशु-योनि में जाता है। (५, ३५ और ४, ६)। एक ओर तो कहा है कि राजा की सेवा नहीं करनी चाहिए, जैसा कि ऊपर बताया, परन्तु इसके विपरीत मनु ने यह भी कहा है कि राजा का मंत्री ब्राह्मण हो (७, ५८; ५६) और जज ब्राह्मण हो (८, ११)।

मनुस्मृति में ऐसी परस्पर विरोधी बातें बहुत हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मनु का वंशपरम्परा के सिद्धान्त का अन्वेषण मनुस्मृति का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। इस तत्त्व को आचरण में लाते समय मनु और उनके शिष्य नितान्त एकपक्षीय हो गये है। कार्ल मार्क्स और रूसो के उदाहरण से हमें ऐसा लगता है कि प्रत्येक नवीन तत्त्व का उत्पन्न करने वाला एकपक्षीय ही होता है। वंशपरम्परा के सिद्धान्त का अँगरेज़ आविष्कारक, सर फ्राँसिस गाल्टन, भी ऐसा ही था। उसके बहुत से मत अतीव अग्राह्य हैं। उस की पुस्तक के विषय में कार्ल और पीटरसन ने जो कुछ कहा है वही हम मनुस्मृति के विषय में भी कह सकते हैं। अर्थात् "हरेडटरी जीनियस" संसार का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। उसका महत्त्व इसलिए नहीं कि उस का प्रत्येक सिद्धान्त सच्चा है, वरन् उसके सुझाए हुए तत्त्व के कारण ही उस का महत्त्व है।*"

कुछ लोग कहते हैं कि अपने वर्ण का व्यवसाय छोड़ कर दूसरा व्यवसाय करने से वंशोच्छेद हो जाता है, इत्यादि मनु की बातें अक्षरशः सत्य हैं। इसलिए हमारे लिए इसकी आलोचना करना आवश्यक है।

मेक डूगल ने एक जगह कहा है कि निचली श्रेणियों के लोग उमंगी होते हैं; वे ऊपर उठते हैं और कर्तृत्व दिखलाते हैं। पर उनकी पीढ़ियाँ बहुत दिन तक बनी नहीं रहतीं। थोड़े ही समय में उन के वंश का अन्त हो जाता है। इस पर हमारे कई भाई कहने लगते हैं कि देखो, एक अँगरेज़ पण्डित भी कहता है कि एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में जाना, एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाना, और एक जाति से दूसरी जाति में जाना अहितकर है। पर मेक डूगल ने यह कभी नहीं कहा

---

* Hereditory Genius is one of the greatest books of the world, not as much by what it proves, but by what it suggests.

कि निचली श्रेणी के मनुष्य के ऊपर की श्रेणी में जाने से ही उस का नाश हो जाता है। उसे तो यह दिखाना है कि हमारे समाज में पराक्रमी, कर्तृत्ववान् और परिश्रमी लोगों का कुल क्योंकर नष्ट हो जाता है। ऊपर के स्तर के पराक्रमी मनुष्यों के कुल का नाश तो निरन्तर हो ही रहा है। इसका भाव यह है कि निचले स्तर के लोग जब ऊपर के स्तर में पहुँच कर कर्तृत्व दिखलाने लगते हैं तब उनका वंशोच्छेद भी उसी नियम के अनुसार हो जाता है। यहाँ श्रेणी-परिवर्तन, वर्ण-परिवर्तन, और व्यवसाय-परिवर्तन का कुछ भी संबंध नहीं। ऊँचे स्तर में जो भी जायगा वह किसी भी स्तर का हो उसका नाश हो जायगा। उसकी बहुत पीढ़ियाँ नहीं चलतीं—यही उसका मत है। यहाँ न वंशपरम्परा के नियम का संबंध है और न दूसरे वर्ण में जाने का। यदि ऐसा होता तो वह स्पष्ट कह देता कि निचले स्तर के लोगों को ऊपर के स्तर में नहीं आने देना चाहिए। पर उलटे वह तो यह कहता है कि निचले स्तर के लोगों के लिये ऊपर उठने का सामाजिक सोपान समाज की प्रगति के लिए अतीव आवश्यक है। उसने केवल इतना ही बताया है कि संस्कृति का नाश कैसे और किस क्रम से होता है। ऊपर के वचन में उसने यही कहा है कि पहले ऊपर के स्तर का और फिर निचले स्तर का कर्तृत्व एक ही कारण से नष्ट होता और यह कि इसका कारण आर्थिक है, इसका जीवन-शास्त्र से कोई सबंध नहीं।

हेवेलाक एलिस* का भी यही कहना है। केवल उसके कारण का निदान भिन्न है। वह कहता है कि समाज में बड़े उत्तरदायित्व के

*As a family attains highest culture and refinement which civilization can yield, that family tends to die out ar all events in the male line.

काम किसी भी घराने का मनुष्य करे, अधिक चिन्ता और अशान्ति के कारण उसका वंशोच्छेद शीघ्र ही हो जाता है। वहाँ उसने घराना कहा है, अमुक अमुक जाति का घराना नहीं कहा। वह घराना नष्ट होता है तो चिन्ता के कारण और बहुत अधिक दबाव (increased work for nervous system) के कारण, एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाने के कारण नहीं। इस चिन्ता और अशान्ति का काम जो भी करेगा, चाहे वह ब्राह्मण हो और चाहे शूद्र, उसका वंशोच्छेद हो जायगा। अर्थात् वह कहता है कि वह शीघ्र ही निपूता हो जाता है। परन्तु उसने यह नहीं कहा कि ऊपर की श्रेणी का काम निचली श्रेणी के घरानों को नहीं करना चाहिए। उलटे वह कहता है कि शेक्सपियर और गैटे जैसा उन्नत मनुष्य हो कर तीन पीढ़ी में ही नष्ट हो जाना अच्छा है, किन्तु सामन मछली हो कर युग-युगान्तर तक जीते रहना अच्छा नहीं (पृष्ठ २०)।

जिन लोगों ने मनु के नियत किए हुए व्यवसाय बनाए रखे फिर भी उन के वंश नष्ट होने से न बचे और जिन्होंने मनु के नियत किए हुए व्यवसाय छोड़ दिए तो भी उनके वंश जीते रहे। ऐसे लगभग तीस महाराष्ट्र घरानों के इतिहास की तालिका श्री सहस्रबुद्धे ने तैयार की है। वह बड़ी ज्ञानवर्धक है। वह हम आगे देते हैं। तालिका में जहाँ यह कहा गया है कि अमुक पीढ़ियाँ जीती रहीं, वहाँ अभिप्राय यह है कि वे दत्तक न लेकर जीती रहीं। दत्तक लेने वाले घरानों को नहीं लिया गया है।

[यह रिपोर्ट परांजपे, बर्वे, गोखले आदि महाराष्ट्र के घरानों के इतिहास, सरदारों की वंशावलियों और पेशवाओं के दफ्तर आदि से तैयार की गई हैं।]

संख्या	घराने का नाम और जाति	व्यवसाय	कितनी पीढ़ियाँ चलीं
१	त्र्यम्बकराव दाभाडे, मराठा क्षत्रिय	सेनापति	लड़का नहीं। पीढ़ी १
२	नाना फड़नीस, ब्राह्मण	मन्त्री	लड़का नहीं। पीढ़ी १
३	भास्कराचार्य ब्राह्मण	शास्त्री	लड़का नहीं। पीढ़ी १
४	बापू भट्ट परांजपे, ब्राह्मण	वैद्यक और याज्ञिक	पोता नहीं। पीढ़ी २
५	जयपुर के घराने, क्षत्रिय	राजा	पोता नहीं। पीढ़ी २
६	हरि धोण्डदेव परांजपे, ब्राह्मण	दसग्रन्थी	पोता नहीं। पीढ़ी २
७	कागलकर घाटगे, क्षत्रिय	योद्धा, कारबारी	३ पीढ़ियाँ
८	बालकृष्ण नारायण दीक्षित पाटंकर*	अग्निहोत्री	आज वंश नहीं।
९	न्यायमूर्ति रानडे, ब्राह्मण	जज	लड़का नहीं। पीढ़ी १
१०	रामशास्त्री प्रभुने, ब्राह्मण	जज	आज वंश नहीं।
११	रामचन्द्र पंत, ब्राह्मण	मंत्री	६ पीढ़ियाँ। आज दत्तक
१२	सालंखे पटङ्कर, क्षत्रिय	योद्धा सरदार	६ पीढ़ियों के बाद एक शाखा के सिवा सब निःसन्तान।
१३	डफले सर बाजीराव, क्षत्रिय	लड़ाकू सरदार	पाता नहीं। पीढ़ियाँ २
१४	गायकवाड़, क्षत्रिय	राजे	५ पीढ़ी आजतक
१५	मोरया गोसावी, ब्राह्मण	सन्त	८ पीढ़ी। आज वंश नहीं।

*इन के भाई ने ब्राह्मणपन छोड़कर सरदेशमुखी ले ली। इसका वंश है।

[जिन्हों ने अपने मनु के नियत किए हुए व्यवसाय छोड़ दिए और फिर भी उनका वंश चलता रहा, ऐसे लोगों के उदाहरण आगे दिए जाते हैं। उनमें से प्रत्येक घराने का उत्तराधिकारी आज भी है।]

संख्या	घराने का नाम और जाति	व्यवसाय। यह मनु का नियत किया व्यवसाय नहीं	आज कितनी पीढ़ियाँ चलीं
१	बालाजी आबाजी चिटनीस, क्षत्रिय	लिखने का काम	६ पीढ़ी
२	बारम्तेकर जोशी, ब्राह्मण	साहूकार	१० पीढ़ी
३	महेन्द्लेकर, ब्राह्मण	सरदारगी	लगभग ८ पीढ़ी
४	पटवर्धन, ब्राह्मण	सरदारगी	लगभग १० पीढ़ी
५	खाण्डेकर, ब्राह्मण	उड़ीसा का सूबेदार सरदार	७ पीढ़ी
६	रामचन्द्र गणेश कानड़े, ब्राह्मण	लड़वैये	७ पीढ़ी
७	रामचन्द्र परांजपे ब्राह्मण	साहूकार	७ पीढ़ी
८	केशव भास्कर परांजपे, ब्राह्मण	वस्त्र का व्यापार	११ पीढ़ी
६	परांजपे कुल में १५ घराने, ब्राह्मण	वस्त्र का व्यापार	१० पीढ़ी
१०	बालाजी महादेव परांजपे, ब्राह्मण	बंबई के दुर्ग पर देशमुख	७ पीढ़ी
११	गोखले, ब्राह्मण	आदिलशाह के समय से साहूकार, फिर पेशवा के समय से सरदार।	लगभग २० पीढ़ी
१२	बर्वे घराने, ब्राह्मण	सरदार और साहूकार।	बहुत सी शाखाएँ ६ पीढ़ी
१३	पाणसे, ब्राह्मण	सरदार	लगभग १२पीढ़ियाँ
१४	पुणडे, ब्राह्मण	शिवाजी के समय से साहूकार।	वंश चल रहा है।
१५	मावलङ्कर, सरदेसाई	सर देशमुख	३३ पीढ़ियाँ। कई शाखाएँ जारी हैं।

ऊपर की तालिका को देखने से ऐसा लगता है कि अपने वर्ण का व्यवसाय छोड़ कर दूसरा व्यवसाय करने अर्थात् वृत्ति-संकर और वंश-नाश का आपस में कुछ भी संबंध नहीं।

जो जिस की इच्छा हो वैसा व्यवसाय करे और अपना कर्तृत्व दिखा कर ऊँचे पद पर चढ़ सके, यह सुविधा समाज की ओर से सब को मिलनी चाहिए। इसी प्रकार समान संस्कृति और कर्तृत्व देख कर चाहे जहाँ सुदृढ़ कुल में विवाह-संबंध करना चाहिये। इस से समाज की अगली पीढ़ी अधिक पराक्रमी एवं कर्तृत्व वाली होगी। ऊपर की दोनों तालिकाओं से इस परिणाम पर पहुँचने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती। रक्त-शुद्धि और वृत्ति-शुद्धि हम ने आज तक बहुत कर ली, पर हिन्दुओं का साम्राज्य विदेशों में तो दूर अपने देश में भी गत डेढ़ सहस्र वर्षों से सुरक्षित नहीं है।

चौदहवाँ परिच्छेद

हिन्दुओं के लिए जीवन और मृत्यु का प्रश्न

हिन्दू कौन है ? इसका उत्तर देना कठिन है। इस पर पिछले दिनों बड़ा विवाद भी हुआ था। लोगों ने, जिन में बैरिस्टर वि० दा० सावरकर भी एक थे, हिन्दू की विभिन्न परिभाषाएँ बताई थीं। पर उन में से कोई भी पूरी न उतरती थी। अन्त में कहा गया कि 'जो अपने को हिन्दू कहता है वह हिन्दू है।' परन्तु कई जैन और आर्य ससाजी अपने को 'हिन्दू' कहने से इनकार कर दिया करते हैं। इसलिए जो व्यक्ति, जातिभेद में फँसा होने के कारण, न आप किसी दूसरे में मिल सकता है और न किसी दूसरे को अपने में मिला सकता है वास्तव में वही हिन्दू है।

मान लीजिए, तीन ब्राह्मण युवक एक मुसलमान युवती को भगा ले जाते हैं। आप जानते हैं, इसका क्या परिणाम होगा ? क्या वे तीन एक मुस्लिम को ब्राह्मण बना सकेंगे ? कदापि नहीं। हाँ, वे सब या उनमें से कम से कम एक तो मुसलमान अवश्य हो जायगा। अच्छा, अब इसका उलट लीजिए। एक मुसलमान युवक तीन ब्राह्मण युवतियों को भगा ले जाता है। इस का परिणाम यह नहीं होगा कि तीन ब्राह्मण कन्याएँ एक मुसलमान को ब्राह्मण बना लेंगी, उलटा वे आप मुसलमान हो जायेंगी। कारण यह कि सम्प्रदाय तो बदल सकता है, जात नहीं बदल सकती।

जाति का स्वरूप क्या है ? अमुक के साथ मत छुओ, अमुक के साथ मत खाओ, अमुक के साथ ब्याह न करो। पण्डित पद्मनाभ आयंगर पवित्र और उच्च क्यों हैं। क्योंकि वे ब्राह्मण के सिवा किसी दूसरे के हाथ का नहीं खाते। इस से भी बढ़ कर, क्योंकि वे केवल

मद्रासी ब्राह्मण के हाथ का ही खाते हैं और फिर केवल ऋग्वेदी ब्राह्मण के हाथ का खाते हैं। इस से भी बढ़ कर, क्योंकि आयंगरों के हाथ का ही खाते हैं। इस से भी बढ़ कर, क्योंकि वे केवल अपनी माँ के हाथ का, या फिर अपने ही हाथ से पकाकर खाते हैं। अर्थात् दूसरे मनुष्य से जो जितना दूर रहता है वह उतना ही अधिक ऊँचा और पवित्र समझा जाता है।

वैज्ञानिकों ने सजीव प्राणी के जो लक्षण माने हैं उन में प्रधान लक्षण यह है कि सजीव जन्तु भोजन को पचा कर अपने शरीर का अंग बना लेता है और बाह्य सुख-दुःख का अनुभव करता है। जब किसी जन्तु में खाद्य को पचा कर हाड-मांस में परिणत करने की शक्ति नहीं रह जाती और वह बाह्य सुख-दुःख का अनुभव करने में असमर्थ हो जाता है तब हम उसे निर्जीव या मृत कहने लगते हैं। जो बात व्यक्ति की है वही समाज की है। जो समाज दूसरे लोगों को अपने में पचा नहीं सकता, जो पराए को अपना नहीं बना सकता, जो अपनी हानि-लाभ के प्रति उदासीन है, वह अधिक काल तक संसार में जीता नहीं रह सकता। उसका दिन पर दिन क्षीण होकर नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है। इस लक्षण की कसौटी पर जब हम हिन्दू समाज को परख कर देखते हैं तब हमें घोर निराशा होने लगती है। उनकी संख्या दिन पर दिन कम होती जा रही है। इस का मुख्य कारण हिन्दुओं की वही अतिरिक्त पवित्रता की भावना है, जिस का उल्लेख श्रीरामचन्द्र और सीता के संबंध में पहले हो चुका है। इस आवश्यकता से अधिक या फ़ालतू पवित्रता की भावना से समाज को होने वाली हानि को हिन्दू-स्मृतिकारों ने न समझा हो, और उसे समझ कर उस का प्रतिकार करने का यत्न न किया हो, सो बात नहीं। स्मृतियों में अनेक ऐसी व्यवस्थाएँ मिलती हैं जिन में

बलात् भ्रष्ट की गई या उठा कर ले जाई गई स्त्री को बिलकुल निर्दोष और पवित्र माना गया है। पराशर स्मृति कहती है—

अदुष्टा सन्तता धारा वातोद्धूताश्च रेणवः।
स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च न दुष्यंति कदाचन॥

अर्थात्—बहता हुआ जल अपवित्र नहीं होता और न ही वायु से उड़ती हुई धूलि के कण। स्त्रियाँ चाहे बूढ़ी हों और चाहे कुमारी, कभी भी भ्रष्ट नहीं होती।

फिर—यथाभूमिस्तथा नारी तस्मात्तां न तु दूषयेत्।
अर्थात्—पृथ्वी और नारी दोनों समान हैं। इस लिए उन को दूषित न करे।

अत्रिसंहिता (२०१–२०२) कहती है कि जिस स्त्री को किसी विधर्मी ने एक बार भ्रष्ट कर दिया हो वह प्रजापत्य व्रत से और ऋतुस्नान से शुद्ध हो जाती है। देवल स्मृति (४७) का मत है कि जिस स्त्री पर बलात्कार किया गया है यदि उसे गर्भ नहीं रहा तो वह तीन रात में शुद्ध हो जाती है। यदि विधर्मी से इच्छा-पूर्वक या अनिच्छा-पूर्वक गर्भ रह भी जाय तो भी कृच्छ्र सान्तपन और घृत-सेक से स्त्री की शुद्धि हो जाती है (४८–४९)। अग्निपुराण का मत है कि ऋतुमती होते ही स्त्री शुद्ध हो जाती है (१६५, ६–७)।

गौतम की पत्नी अहल्या की कथा कई जगहों में कई तरह से लिखी मिलती है। पर जैसी स्वाभाविक वह महाभारत के शान्तिपर्व में दी गई है वैसी दूसरी जगह नहीं। शान्तिपर्व अध्याय २७२ में गौतम के अभिशाप से अहल्या का पत्थर बन जाना और रामचन्द्र के चरण-स्पर्श से उसका फिर जी उठना जैसी अप्राकृतिक बात कोई नहीं। वहाँ केवल इतना ही कहा है कि अपनी स्त्री अहल्या को व्यभिचार में लिप्त देख गौतम ने अपने पुत्र चिरकारी को उसे मार डालने का आदेश किया। पर चिरकारी ने सोचा कि पति ही स्त्री का रक्षक

होता है, इस लिए स्त्री के चरित्र के बिगड़ने का दायित्व भी पति का ही है। यह सोच उसने माता को मारा नहीं। इस के कुछ काल उपरान्त जब गौतम का क्रोध शान्त हुआ तो उन्हें अपने बिना विचारे दिये हुए आदेश पर पश्चात्ताप हुआ। पर जब वे अपने तप के स्थान से लौटे और देखा कि अहल्या जीती है तो उन्हें बहुत संतोष हुआ। चिरकारी का कथन है कि स्त्री अपराध नहीं करती, अपराध पुरुष करता है। यदि आज के हिन्दू होते तो अहल्या को और उस को स्वीकार करनेवाले उस के पति गौतम, दोनों को बहिष्कृत कर देते। पर तत्कालीन हिन्दू-समाज ने वैसा कुछ नहीं किया। खेद है कि आज के हिन्दुओं ने उपरिलिखित शास्त्राज्ञाओं से आँखें बंद कर ली हैं, और गौतम के अहल्या-स्वीकार को भुला कर केवल राम का सीता-त्याग ही स्मरण रक्खा है।

बहुत-से पण्डितों का मत है कि वैदिक युग में, वरन् सूत्रयुग में भी, अमुक जाति के हाथ का खाना चाहिए और अमुक के हाथ का नहीं खाना चाहिए, ऐसा कोई प्रतिबंध न था (The Evolution of Castes, by Sham Shastri, p. 6.) सब लोग एक दूसरे के हाथ का खाते-पीते थे। पर बाद को अतिरिक्त पवित्रता का झूठा भाव ज्यों ज्यों प्रचण्ड होता गया त्यों त्यों ब्याह-शादी और खान-पान के बंधन कड़े होते गए। लड़कियों को पढ़ाने और युवावस्था तक अविवाहित रखने का निषेध कर दिया गया, ताकि कहीं पढ़-लिख कर युवावस्था में वे किसी दूसरी जाति के युवक से विवाह कर के वर्णसंकर सन्तान न उत्पन्न करने लगें। इस अतिरिक्त पवित्रता की रक्षा के लिए ब्याह-शादी और खान-पान पर जो कड़े प्रतिबंध लगाए गये, उन का फल या कुफल क्या हुआ, इस का पता पाठकों को आगे दी हुई ऐतिहासिक और सच्ची घटनाओं से लग सकेगा।

१. बंगाल के टिपरा जिले में माहीपाल या मछली बेचनेवाले

मुसलमान रहते हैं। पहले ये हिन्दू कैवर्त थे। कहते हैं, एक समय इन के निकटवर्ती एक गाँव में बहुत ज़ोर का हैज़ा फैला। उस से वहाँ के सब लोग मर गये। केवल एक छोटा-सा बालक बच रहा। उस बालक पर एक कैवर्त स्त्री को दया आई। उस ने बालक को लेकर पाल लिया। वह गाँव मुसलमान जुलाहों का था। जब वह लड़का कुछ बड़ा हुआ तो चर्चा होने लगी कि वह तो मुसलमान का लड़का है। इस लिए जिस स्त्री ने उसे पाला है और जो लोग उस स्त्री के साथ खान-पान करते रहे हैं, वे सब धर्मभ्रष्ट हैं, वे सब मुसलमान हैं। कैवर्तों ने समाज के नेताओं की बहुतेरी अनुनय-विनय की, क्षमा माँगी, पर उन की एक न सुनी गई। उनको हिन्दू-समाज से ढकेल कर बाहर निकाल दिया गया। वे कुछ दिन तक प्रतीक्षा में रहे कि अब भी उन्हें हिन्दू-समाज दुबारा अपनी गोद में ले लेगा। पर उन को हताश होना पड़ा। फलतः आज वे कट्टर मुसलमान हैं।*

२. ढाका (बंगाल) में एक लंबा-ऊँचा, हृष्ट-पुष्ट, बाँका ब्राह्मण कुमार नित्य ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान करने जाया करता था। उसका मार्ग ढाका के नवाब के महल के निकट से होकर जाता था। नवाब की एकलौती बेटी झरोखे में से उसे नित्य जाते देखती थी। नवाब-नन्दिनी का ब्राह्मण-कुमार पर प्रेम हो गया। उसने अपने पिता से कहा। पिता ने लड़के को बुला कर अपनी बेटी से विवाह करने को कहा। पर ब्राह्मणकुमार ने एक मुसलमान युवति के साथ विवाह करने से इंकार कर दिया। इस पर नवाब ने अपनी बेटी को हिन्दू हो जाने की अनुमति दे दी। इस पर रूढ़िवादी पण्डितों ने कहा कि किसी मुस्लिम को हिन्दू बनाने की भी आज्ञा शास्त्र में नहीं। तब नवाब ने लड़के को मुसलमान हो जाने के लिए कहा। पर उसने

*आचार्य क्षिति मोहन सेनकृत "भारत वर्ष में जाति-भेद," पृष्ठ १८५

इनकार कर दिया। इस पर क्रोध में आकर नवाब ने लड़के का वध कर डालने की आज्ञा दे दी।

ब्राह्मण कुमार वधस्थल में गर्दन झुकाए खड़ा है। उस के मुण्ड को देह से अलग कर डालने के लिए वधिक की खड्ग उठ चुकी है। इतने में नवाब-नन्दिनी लड़खड़ाती हुई कुमार के सामने आ कर खड़ी हो जाती है। वह वधिक से कहती है—"इनका नहीं, मेरा वध करो; मैं अपने को प्रियतम के चरणों में बलिदान करूँगी।" यह देख ब्राह्मण-कुमार का हृदय द्रवित हो जाता है। उसे मुसलमान नवाब की पुत्री और एक हिन्दू कन्या में गुणों की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं दीखता। वह उसे हृदय से ग्रहण कर लेता है और विवाह करने के लिए सहमत हो जाता है। इस पर उसे छोड़ दिया जाता है।

युवक ने अब अपने पिता से और पण्डे-पुरोहितों से नवाब-नन्दिनी को हिन्दू बना लेने की प्रार्थना की। पर सब ने यह कह कर इनकार कर दिया कि धर्म-शास्त्र इसकी आज्ञा नहीं देता। तब वह युवक और युवती दोनों पुरी में पहुँचे। उन्होंने निश्चय किया कि अपने हृदयों की पवित्रता की साक्षी देकर हम जगन्नाथ जी के चरणों में विवाह-बंधन में बँध जाएँगे। पर पण्डों ने उन्हें जगन्नाथ के दर्शन न करने दिए। उन्होंने लातें और घूँसे मार कर दोनों को निकाल दिया। इस पर युवक में प्रतिहिंसा की आग भड़क उठी। वह मुसलमान बन गया और उसने संपूर्ण वंग देश को मुसलमान बना डालने का बीड़ा उठाया। इतिहास में वह *"काला पहाड़"* के नाम से प्रसिद्ध है। (राष्ट्र-मीमांसा-लेखक सावकार, संपादक—नाथूराम शुक्ल, जबलपुर पृ. १११-११६)

उपर्युक्त "काले पहाड़" के सदृश पंजाब में भी एक *"काला मिहिर"* हो गया है। ब्राह्मणों ने उसके साथ अन्याय किया था। उसे वह जन्मभर न भूल सका और बदला लेता रहा। उसका हिन्दू नाम

जयमल था। उसकी कब्र के निकट ब्राह्मणों को जाने की आज्ञा नहीं। (Glossary, Punjab & N. W. P. Vol. III p. 425)

३. जिन को आज 'मलकाने' मुसलमान कहा जाता है, वे पहले हिंन्दू राजपूत थे। वे हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए मुसलमानों से लड़ रहे थे। इतने में किसी ने झूठी अफ़वाह उड़ा दी कि शत्रु ने मलकानों के कुँओं में गोमांस फेंक दिया है। बस इतने पर ही, विना किसी प्रकार की जाँच-पड़ताल किए, उनको मुसलमान विघोषित कर दिया गया। मलकानों ने हिन्दू-समाज में रहने का बहुतेरा प्रयत्न किया, पर उन की एक न चली। अन्त में वे सब मुसलमान हो गये।

४. तेहरवीं शताब्दी की बात है, रतनजू नामक एक छोटी अवस्था का लड़का काश्मीर की उपत्यका में आया। किसी प्रकार राजा सहदेव की राजसभा में उसका प्रवेश हो गया और वह एक ऊँचे पद पर पहुँच गया। उसका अपना कोई धर्म और राष्ट्र न था। मौलाना मुहम्मद् काज़म मुरादाबादी अपने इतिहास में लिखते हैं कि रतनजू हिन्दू धर्म पर बड़ा प्रेम रखता था। वह उसे ग्रहण करना चाहता था। पर हिन्दू उसे अपने समाज में लेने को सम्मत न थे। वह प्रतिदिन एक पण्डित से गीता की कथा सुना करता था। एक दिन पण्डित ने गीता के १८वें अध्याय के ४७ वें श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा कि अपना धर्म चाहे विगुण भी हो तो भी उसे छोड़कर दूसरे का अच्छा धर्म ग्रहण करना भयावह है। इस पर रतनजू ने पूछा, क्या मैं आपका धर्म ग्रहण नहीं कर सकता? पण्डित ने कहा—"बिलकुल नहीं"। इस उत्तर से हताश हो कर रतनजू ने निश्चय किया कि कल सवेरे जो भी व्यक्ति मुझे सब से पहले दृष्टिगोचर होगा, मैं उसी का धर्म ग्रहण कर लूँगा। उसके इस निश्चय का ज्ञान बुलबुल शाह नामक एक मुसलमान फ़क़ीर को भी हो गया। दूसरे दिन सवेरे तड़के वह लोटा

लिए रतनजू के महल के नीचे पहुँचा। उसे देख, रतनजू उसके निकट पहुँचा और बोला—

"क्या आप मुझे अपने धर्म में ले सकते हैं?"

"इस्लाम का द्वार मनुष्य-मात्र के लिये खुला है। एक प्रमुख राजाधिकारी मेरा धर्म-बंधु बनना चाहता है, इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात मेरे लिये और क्या हो सकती है?" बुलबुल शाह ने उत्तर दिया।

इस पर वह मुसलमान हो गया और उसने इस्लाम का खूब प्रचार किया। उसके पुत्र शाह मीर ने राजसिंहासन पर अधिकार कर के राजा सहदेव के पुत्र की रानी कोना को बलात् घर में डाल लिया। पर रानी ने पेट में छुरा भोंक कर आत्म-हत्या कर ली। कहते हैं, जिन काश्मीरी पण्डितों ने मुसलमान बनने से इनकार किया उनको रतनजू और शाह मीर ने बोरियों में बंद कर के झेलम नदी में डुबा दिया। श्रीनगर में जहाँ ये लोग डुबाए गए थे, वह स्थान अब तक भी "*वट मज़ार*" के नाम से प्रसिद्ध है।

यह तो कुछ पुरानी बातें हैं। अब ताज़ा घटनाएँ सुनिए—

५. कुछ वर्ष की बात है, डसका (पंजाब) के निकटवर्ती एक गाँव का निवासी परशुराम नाम का एक ब्राह्मण मुसलमान हो गया। कुछ काल के उपरान्त लाहौर (वच्छोवाली) आर्य समाज में उसका मुंडन करके उसे पुनः हिन्दू बना लिया गया। उसकी दो कन्याएँ थीं। उन को कन्या-महाविद्यालय, जालन्धर में भरती करा दिया गया। परशुराम भी वैदिक पाठशाला, गुजराँवाला में शिक्षा पाने लगा। परन्तु उसकी स्त्री को सँभालने का कोई प्रबन्ध न हो सका। उसके लिए किसी हिन्दू मुहल्ले में जगह न मिल सकी, जहाँ आर्यसमाजी अथवा हिन्दू स्त्रियाँ उसका स्वागत करने वाली हों। उस को आर्य समाज मन्दिर के निकट एक मुस्लिम मुहल्ले में मकान ले दिया गया। परशुराम पाठशाला में पाँच छः घंटे पढ़ कर रात को घर आता

था। परन्तु उसकी स्त्री की शिक्षा-दीक्षा का कोई प्रबंध न था। एक दिन उसकी स्त्री गुजराँवाला-गुरुकुल में गई। वहाँ उसे काँसे के बर्तन में पानी न दिया गया, उस से दुराव किया गया। इस बीच में उसका लड़का मर गया। उसके साथ समवेदना प्रकट करने के लिए मुहल्ले की मुसलमान स्त्रियाँ तो आईं परन्तु कोई हिन्दू स्त्री उसके पास तक न फटकी। इस से उसे बहुत रंज हुआ। उन्हीं दिनों उसके बच्चा होने वाला था। हिन्दू और आर्यसमाजी स्त्रियों का ऐसा रूखा व्यवहार देख कर वह पति से बोली—"तुम चाहे हिन्दू रहना चाहते हो तो बेशक रहो, परन्तु मैं तो हिन्दू रह कर अपनी मिट्टी खराब नहीं करना चाहती।" परशुराम ने विवश होकर अपनी दोनों लड़कियाँ जालन्धर से वापस बुला लीं और अपने गाँव में जा कर पुनः मुसलमान हो गया।

६. शेखूपुरा ज़िले के अंतर्गत शाहकोट नामक स्थान के निकट चक नंबर १८२ नाम का एक छोटा सा गाँव है। वहाँ मुहम्मद लक्खा नाम का एक सम्पन्न मुसलमान रहता था। वह अपने मित्र आत्मासिंह के उपदेश और संगति से सिक्ख बन गया। उसके दो लड़कियाँ और एक लड़का था। जब विवाह का समय आया तब उस प्रदेश का कोई हिन्दू-सिख उसकी लड़कियों को लेने के लिए तैयार न हुआ। परन्तु आत्मासिंह ने दौड़-धूप करके किसी दूसरे प्रदेश के दो हिन्दुओं के साथ उनका विवाह करा दिया। कुछ काल के उपरान्त उसका लड़का भी विवाह-योग्य हुआ। अब उसने आत्मासिंह से उसके विवाह के लिए कहा। परन्तु लाख यत्न करने पर भी उसके लड़के के लिए हिन्दू अथवा सिख लड़की न मिल सकी। आत्मासिंह के अपने परिवार में विवाह-योग्य लड़कियाँ थीं। मुहम्मद लक्खा ने उस से कहा कि उन में से एक मेरे लड़के के लिए दे दो। परन्तु आत्मासिंह को साहस न हुआ। वह घबरा गया। इस से मुहम्मद

लक्खा के हृदय पर बड़ी चोट लगी। उसने अपनी दोनों लड़कियाँ सुसराल से बुला लीं और सारे का सारा परिवार पुनः मुसलमान हो गया। मुहम्मद लक्खा का वह पुत्र, जिसका नाम शाह मुहम्मद है, आजकल कहीं तहसीलदार है?

७. उज्जैन में ग़ौसअली नाम के एक सज्जन थे। वे नज़रअली मिल्स में मैनेजर थे। जन्म से मुसलमान होने और इस्लामी नाम रखने पर भी वे विश्वास से आर्य समाजी थे। बीस-पचीस वर्ष तक वे अपने खर्च से आर्य समाज के वार्षिकोत्सव कराते रहे। अपनी लड़की, शान्ता, उन्होंने कन्या-महाविद्यालय जालन्धर में और लड़के शायद हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ाए थे। इतने पक्के आर्य समाजी को जब सन्तान की ब्याह-शादी का अवसर आया तब हिन्दुओं में उनको न लड़कियाँ मिल सकीं और न लड़का। विवश हो कर उनके दोनों लड़कों, ज़ाकरअली और अब्दुलसत्तार, को मुसलमानों में विवाह करना पड़ा। लड़की ने डाक्टर बन जाने पर भी शायद अभी तक विवाह नहीं किया है।

८. जिस वर्ष मौलाना मुहम्मद अली और शौक़त अली की माता का देहान्त हुआ, उसी वर्ष की बात है। श्री भाई परमानन्द जी मौलाना मुहम्मद अली के पास समवेदना प्रकट करने गये। उस समय बात-चीत में मौलाना मुहम्मद अली ने श्री भाई जी से कहा कि आप लोग व्यर्थ ही "शुद्धि" और "अछूतोद्धार" का रोड़ा अटका कर इस्लाम की प्रगति को रोकना चाहते हैं। इस में आप को कभी सफलता नहीं हो सकती। भाई जी ने पूछा, क्यों? मौलाना ने उत्तर दिया—देखिए, यह भंगिन जा रही है। मैं इसे मुसलमान बनाकर आज ही बेगम मुहम्मद अली बना सकता हूँ। क्या आप में या मालवीयजी में यह साहस है? मैं किसी भी हिन्दू को मुसलमान बना कर आज ही अपनी लड़की दे सकता हूँ। क्या कोई हिन्दू नेता

ऐसा कर सकता है ? मैं आज 'शुद्ध' होता हूँ। क्या कोई मेरी स्थिति का हिन्दू नेता मेरे लड़के को लड़की देगा ? यदि नहीं तो फिर आप 'शुद्धि' और 'अछूतोद्धार' का ढोंग रच कर इस्लाम के मार्ग में रोड़ा क्यों अटका रहे हैं ?

'९. कुछ वर्ष की बात है, ज्वालापुर (हरिद्वार) में एक मौलवी साहब और आर्य समाज के उपदेशक श्री० मुरारीलाल जी का वाद-विवाद हुआ था। मौलवी साहब इस्लाम को सर्वोत्तम धर्म बताते थे और मुरारीलाल जी वैदिक धर्म को। मौलवी महाशय उपदेशक महाशय की युक्तियों की ताब न ला सके। जनता में उन पर ताली पिट गई। तब मौलवी महाशय ने अपना अमोघअस्त्र निकाला। उन्होंने कहा, "पण्डित महाशय ! आप कहते हैं, वैदिक धर्म सच्चा है और मैं कहता हूँ इस्लाम। लीजिए इस का निर्णय अभी हो जाता है। मैं वैदिक धर्म को अच्छा समझकर इस्लाम को छोड़ता हूँ। मेरे लड़कियाँ हैं और लड़का भी। मेरे लड़के को आप अपनी लड़की दीजिए और मेरी लड़कियों के लिए योग्य हिन्दू वर ढूंढ़ दीजिए। मैं विवाह करने को तैयार हूँ। बोलिए, आप तैयार हैं ?" उपदेशक महाशय पर वज्रपात हो गया। वे सन्न से रह गये। पाँच मिनट तक उन से कुछ भी उत्तर न बन पड़ा। तब मौलवी महाशय ने ललकार कर कहा—"पण्डित महाशय ! आप क्या इसी बिरते पर वैदिक धर्म को सच्चा और सर्वोत्तम कह रहे थे ? आप आइए इस्लाम में। आप अपनी लड़की भी न दीजिए। मेरी लड़की आप के लड़के के लिए उपस्थित है।" बस, उपदेशक महाशय की सारी विजय एक क्षण में पराजय में परिणत हो गई।

१०. सुना है, नवाब छतारी ने भी किसी समय हिन्दू बनने की इच्छा प्रकट की थी। उन की शर्त यह थी कि मेरी लड़की और लड़के के विवाह के लिए मेरे जैसे ही किसी ताल्लुकेदार का लड़का

और लड़की मिलनी चाहिए। खेद है, हिन्दू उन की इच्छापूर्ति में असमर्थ रहे। नवाब छत्तारी के पूर्वज हिन्दू राजपूत थे। कहते हैं, इन के परिवार में जिस लड़की का पहले ही पहल मुस्लिम प्रथानुसार अपने निकट संबंधी से विवाह हुआ था, उसने आत्मग्लानि के कारण आत्म-हत्या कर ली थी।

मौलाना मुहम्मद अली कुरेशी, बाद को शान्ति स्वरूप जी, अब्दुल गफूर, बाद को धर्मपाल बी० ए०, मौलाना गुलाम हैदर, बाद को महाशय सत्यदेव जी, मौलवी अब्दुल कबीर, हिंदू नाम महाशय धर्मवीर, असग़री बेगम, हिन्दू नाम शान्तिदेवी जी और पचासों शिक्षित 'शुद्ध' किये गये सज्जनों, यहाँ तक कि महर्षि दयानन्द के करकमलों द्वारा शुद्ध किये गए, देहरादून के श्री अलखधारी जी और उनकी सन्तान की कैसी दुर्गति हुई है और आर्य समाजियों ने इन मामलों में अपनी कैसी कायरता तथा निःसारता दिखलाई है, यहाँ उसका उल्लेख व्यर्थ है। यह सब सुविज्ञ पाठक भली भाँति जानते हैं, क्योंकि ये सब ताज़ा घटनायें हैं।

ऊपर लिखी घटनाओं को पढ़ कर किस हिन्दू के हृदय पर चोट न लगेगी और कौन हिन्दू न चाहेगा कि हमारे समाज में भी विधर्मियों को पचाने की शक्ति हो? परन्तु विचार-पूर्वक देखने से पता लगेगा कि हिन्दू चाहें भी तो वे विधर्मियों को आत्मसात् नहीं कर सकते। इस का कारण उन की सदोष समाज-रचना है। ऊँच-नीच मूलक वर्ण-व्यवस्था को मानते हुए हम किसी भी अहिन्दू को हिन्दू नहीं बना सकते। जाति-भेद के कारण प्रत्येक हिन्दू अपनी ही जाति के संकीर्ण क्षेत्र के भीतर ब्याह-शादी करता है। जो पठान, मुग़ल, अँगरेज, यहूदी, जापानी हिन्दू बनना चाहेगा हिन्दुओं की कोई भी जाति उसे अपने में लेने को तैयार न होगी। इसलिए वह हिन्दू-समाज में न रह सकेगा। भीलों, गोंडों, सन्थालों और कोलों को भारत में रहते सहस्रों वर्ष हो गये। परन्तु हिन्दू उन्हें अपने समाज का

अंग न बना सके। वे आज तक भी जंगली अवस्था में ही हैं। जब तक ईसाई और मुसलमान इस देश में नहीं आए थे तब तक इन भील–गोंडों की ओर से हिन्दुओं को कोई भय नहीं था। परन्तु जब से इस्लाम और ईसाई मत ने अपना जाल इन लोगों में फैलाना आरम्भ किया है तब से वही भील-गोंड हिन्दुओं के लिये भय का कारण बनने लगे हैं। जो इस्लाम सब मोमिनों को भाई समझता है उस का सामना जन्ममूलक ऊँच-नीच वाला हिन्दू-समाज कैसे कर सकता है? नवीं शताब्दी तक काबुल में भी पालवंश के हिन्दू राजा राज्य करते थे। पर आज अमृतसर से आगे भी कोई हिन्दू मुश्किल से मिलेगा। हिन्दुओं के इस दिन पर दिन घटने और पीछे हटने का प्रधान कारण इन की अतिरिक्त पावित्र्य-भावना-मूलक जात-पाँत ही है।

हिन्दुस्थान और पाकिस्तान का बँटवारा हो जाने के बाद सहस्रों नहीं लाखों मुसलमान पूर्व पंजाब से पाकिस्तान जाना नहीं चाहते थे। वे रो रो कर कहते थे कि हमें हिन्दू बना लो; हम अपनी आवास-भूमि छोड़कर जाना नहीं चाहते; यहाँ की रूखी–सूखी रोटी हमें उस अज्ञात प्रदेश, पाकिस्तान, की चुपड़ी रोटी से कहीं अच्छी है; हमारे पूर्वज भी कभी ऐसे ही राजविप्लव के समय में मुसलमान हुए थे; अब इस राजविप्लव में हमें पुनः हिन्दू बना लो। पर हिन्दू उन्हें लेने को तैयार न हुए। अपनी असमर्थता को स्पष्ट स्वीकार न कर के हिन्दू बहाना यह करते थे कि ये मुसलमान शुद्ध हृदय से हिन्दू नहीं बन रहे हैं। मैंने इन भोले भाइयों को बहुतेरा समझाया कि पाकिस्तान में हमारे जो हिन्दू मुसलमान बने हैं क्या वे शुद्ध हृदय से बने हैं; ये लोग इस समय चाहे शुद्ध हृदय से हिन्दू धर्म को ग्रहण न भी कर रहे हों, पर इन की अगली पीढ़ी तो बिलकुल भूल जायगी कि हमारे पूर्वज कभी मुसलमान थे।

किसी दूसरे मनुष्य को अपने समाज का अंग बनाने के लिए

उसके साथ रोटी-बेटी-व्यवहार का होना आवश्यक है। जिस के साथ आप खान-पान और व्याह-शादी नहीं कर सकते वह कभी भी आपका रक्त-माँस नहीं बन सकता। यही कारण है कि हिन्दू बहु संख्यक दीखने पर भी अगणित अल्प मतों का असंगठित समूह है। केवल संख्या में बहुत अधिक होने से कुछ लाभ नहीं। लाभ तभी है जब उस समाज में संगठन भी हो। बहुधा देखा जाता है कि थोड़े से संगठित व्यक्ति भी भारी भारी असंगठत भीड़ों को मार कर भगा देते हैं। हिन्दुओं के संगठन में सब से बड़ी बाधा जात-पाँत ही है। इस के कारण हिन्दू-समाज नारङ्गी की भाँति ऊपर से एक दीखने पर भी भीतर से उस की फाँकों के सदृश पृथक् पृथक् जातियाँ हैं। इन बहुसंख्यक जातियों और उपजातियों का आपस में खान-पान और व्याह-शादी की दृष्टि से उतना ही संबंध है जितना चिड़िया-घर के पशु-पक्षियों का आपस में होता है।

इस में संदेह नहीं कि हिन्दू धर्म किसी समय मिश्नरी धर्म रहा है, अर्थात् वह अहिन्दुओं को अपने में पचाता रहा है। वेसनगर में प्राप्त शिलालेख से पता लगता है कि तक्षशिला-वासी दियम के पुत्र ग्रीक राजा हेलियोडोरस ने भागवत बन कर गरुड़ध्वज बनवाई थी। कनिष्क और हविष्क आदि राजा विदेशी थे। वे सब हिन्दू समाज में घुलमिल गये थे। काडवाइसस शैव या परम माहेश्वर बन गया था। ये तुरुष्कवंशीय राजा थे। इन्होंने शुष्कूल आदि देशों में मठ-चैत्य आदि बनवाए थे (राज-तरङ्गिणी १।१७०)। श्रीनगर के राजा मिहिरकुल ने मिहिरेश्वर महादेव की स्थापना की थी। नहपान का जमाई उषवदात दूसरी शताब्दी के आरम्भ में बड़ा धर्मी राजा था। इस प्रकार शक, हूण, यवन, कोची, मीना आदि लोगों के दल भारत में आ कर हिन्दू बनते रहे हैं। राजपूत और जाट लोग भी बाहर से ही आए हुए हैं। परन्तु इस संबंध में एक बात स्मरण

रखनी होगी। ये विदेशी दल के दल आए और हिन्दू-संस्कृति को ग्रहण कर अलग अलग जातियों के रूप में रहने लगे। इन को यहाँ के पुराने अधिवासियों के साथ खान-पान और ब्याह-शादी आदि सामाजिक संबंध स्थापित करने की आवश्यकता नहीं हुई। वे आपस में ही बेटी-व्यवहार कर लेते थे। उन के बाद जब थोड़े थोड़े लोग -- अकेले दुकेले व्यक्ति—हिन्दू-समाज में सम्मिलित होने के इच्छुक हुए तो हिन्दू-समाज रूपी विशाल भवन की छोटी-छोटी कोठरियों—जातियों-उपजातियों—में उन को कोई स्थान नहीं मिल सका। सब कहीं "प्रवेश वर्जित" का ही साइन बोर्ड लगा मिला। इस लिए बाहर से आनेवाले लोगों के लिये हिन्दू-समाज का द्वार बंद हो गया। हाँ, अतिरिक्त पवित्रता की भावना ने हिन्दू-समाज रूपी कुण्ड में जो छेद कर रक्खा है उस में से टपक टपक कर हिन्दू नर-नारियाँ दूसरे समाजों में बराबर जा रही हैं। आज हिन्दुस्थान और पाकिस्तान में जो दस करोड़ के लगभग मुसलमान हैं वे सब अरब, ईरान या तुरकिस्तान से आए हुए मुसलमानों की सन्तान नहीं। उन में १०० पीछे ६५ से भी अधिक हिन्दुओं से मुसलमान बने नर-नारियों के ही वंशज हैं। मलकाने राजपूत, मूले जाट, मेव, बोहरी, मेमन, खोजिए, इत्यादि लोग पहले सब हिन्दू थे।

जब तक हिन्दू जाति-भेद को नहीं छोड़ते तब तक न केवल यही कि उनका आपस में संगठन नहीं होगा, वरन् हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी कभी बंद न होंगे। इसका एक विशेष कारण है। समाज-शास्त्र का एक नियम है कि एक देश में रहनेवाले दो मनुष्य-समूह यदि आपस में खान-पान और ब्याह-शादी करने से इंकार करते हैं तो उन में एक दूसरे को ऊँच-नीच समझने का दूषित भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता है। उसका अनिवार्य परिणाम परस्पर का विद्वेष, ईर्ष्या और वैमनस्य होता है। जिन लोगों में आपस में खान-पान और ब्याह-शादी

होती है उनमें यदि लड़ाई-झगड़ा होता है तो वह कुछ काल के उपरान्त शान्त हो जाता है। भाई-भाई, पति-पत्नी, हिन्दू-सिख, अँगरेज़-जर्मन के झगड़े और फिसाद वर्ष, दो वर्ष, दस वर्ष रह कर अन्त में शान्त हो जाते हैं। कारण यह कि उनको आपस में जोड़ने वाली बातें उन को लड़ाने वाली बातों से अधिक होती हैं—उन का परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार होता है। आज के अँगरेज़ों के पूर्वज इँग्लेण्ड के "गुलाबों के युद्ध" और क्रामवेल के युद्ध में एक या दूसरे पक्ष की ओर से आपस में लड़े थे। पर एक पक्ष की ओर से लड़ने वालों के वंशजों का दूसरे पक्ष की ओर से लड़नेवालों के वंशजों के प्रति आज कोई विद्वेष-भाव नहीं है। वे उस लड़ाई-झगड़े को भूल गये हैं। परन्तु हमारे यहाँ भारत में आज के शूद्र, आज के ब्राह्मणों को क्षमा करने को तैयार नहीं, क्योंकि इन ब्राह्मणों के पूर्वजों ने इन शूद्रों के पूर्वजों पर नीचता या शूद्रता का कलंक लगाया था। हिन्दू राजपूतों ने मुसलमान राजपूतों के पूर्वजों को पुनः अपने में मिलाने से इंकार करके उनका जो तिरस्कार किया था उसे वे आज तक नहीं भूल सके और न भूलेंगे ही। इसी लिए हिन्दू-मुसलमान का फिसाद अनन्त काल तक नहीं बंद हो सकता। जो हिन्दू भय, लालच या धोखे से पतित होकर मुसलमान बने थे उन्हों ने उस समय बहुतेरा यत्न किया कि वे फिर हिन्दू बना लिए जाएँ। परन्तु हिन्दुओं ने न तो उनको रोटी-बेटी-संबंध द्वारा अपने में पचाना स्वीकार किया और न उन को नीच और अपवित्र समझकर उनका तिरस्कार करना ही छोड़ा। ऐसी दशा में उन मुसलमानों ने देखा कि यदि हमें भारत में स्वाभिमानपूर्वक रहना है तो उसके लिए एक ही उपाय है। वह यह कि जैसे भी हो, हम अपनी संख्या को इतना बढ़ा लें कि फिर ये बहुसंख्या वाले हिन्दू हमें कुचल न सकें, हमारे साथ अछूतों का जैसा दुर्व्यवहार न कर सकें। उन्हें भय बना रहता है कि यदि हम अल्प संख्या में रहे

तो जो ब्राह्मण हिन्दू शूद्र के साथ भी समता और बंधुता का व्यवहार करने को तैयार नहीं वह हम विधर्मियों के साथ समता और बंधुता का व्यवहार कैसे कर सकता है। इसी लिए प्रत्येक मुसलमान—स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध के—हृदय में इस्लाम को बढ़ाने की—हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की—चिन्ता सदा बनी रहती है। किसी गैर-मुस्लिम को मुस्लिम बनाना प्रत्येक मुसलमान एक पुण्य कर्म समझता है। इसी लिए वह लड़की देकर और लड़की लेकर, दोनों प्रकार से, इस्लाम का प्रचार करने में संकोच नहीं करता। कारण यह कि इस में उस की आत्म-रक्षा है। मस्जिद के सामने बाजा बजाने, हिन्दी भाषा और वन्दे मातरम् गीत का विरोध करने और बकराईद पर गौ का जुलूस निकालने का वह जो हठ करता है वह तो अपने भीतरी रोष को प्रकट करने का उसका केवल एक बहाना है। यदि हिन्दू और मुसलमान के सामाजिक संबंध अच्छे होते तो मुसलमान कभी इस प्रकार हिन्दुओं को चिढ़ाने की कुचेष्टा न करते। अब देश का विभाजन हो चुका है। इस से चार करोड़ के लगभग मुसलमान भारत में रह गये हैं। निस्सन्देह वे कुछ काल तक हिन्दुओं से दबकर चुप रहेंगे। पर विश्वास रखिए, यदि हिन्दुओं ने जाति-भेद को न छोड़ा और मुसलमानों से पूर्ववत् घृणा जारी रखी तो कुछ ही काल में हिन्दुस्थान को भी पुनः बाँटने की नौबत आ जायगी और इस देश में कभी शान्ति न रह सकेगी। स्वदेश की रक्षा और शान्ति के लिये यह आवश्यक है कि हिन्दू जाति-भेद को छोड़ दें, ताकि जो मुसलमान और ईसाई स्वेच्छा-नुसार इन में मिलना चाहें वे सरलतापूर्वक मिल सकें, और विभिन्न धर्म-विश्वास रखने वाले लोग भी आपस में प्रेम से रह सकें।

हिन्दुओं के धर्म में त्रुटि नहीं। इनका ब्रह्मवाद, इनका तत्त्वज्ञान, इन की संस्कृति आज भी संसार में अनुपम है। वह सदा संसार के बड़े बड़े विचारकों को आकर्षित करती रही है।

मुग़ल-काल खण्ड में हिन्दू धर्म ने बैरम खाँ के पुत्र रहीम खाँ खान खानाँ, रुस्तमखाँ उपनाम रसखान और ताज जैसे स्त्री-पुरुषों को आकर्षित किया था। इस का प्रमाण उनकी कविता में मिलता है। रहीम कहता है—

कमला थिर न रहीम कहिं, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होय॥
गहि सरनागति राम की भवसागर की नाव।
रहिमन जगत उधार कर और न कछू उपाव॥
धूलि धरत गज सीस पर कहु रहीम केहि काज?
जिस रज मुनि-पत्नी तरी सो ढूँढ़त गजराज॥

रसखान कृष्ण-भक्ति में लीन हो बोल उठा था—

या लकुटि अरु कामरिया पर,
राज तिहुं पुर को तजि डारौं।
आठहूँ सिद्धि नवों निधि को सुख,
नन्द की गाय चराय बिसारौं।
रसखान कवौं इन आँखन सों,
व्रज के वन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कल धौत के धाम,
करील के कुंजन ऊपर वारौं।

फिर परमेश्वर से प्रार्थना करता हुआ वह कहता है कि मरने के वाद मेरा दूसरा जन्म हो तो इस प्रकार हो—

मानुस हौं तो वही रसखान,
बसौं व्रज-गोकुल-गाँवके ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो,
चरौं नित्त नन्द की धेनु मँझारन।

पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो कियो व्रज-छत्र पुरन्दर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं,
वही कालिन्दी कूल कंदम्ब की डारन ।

फिर ताज तो इन दोनों से बढ़ गई है । वह कहती है—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं ।
देव-पूजा ठानी मैं निमाज़ हू भुलानी,
तजे कलमा कुरानी सारे गुनन गहूँगी मैं ।
साँवरा सलोना सरताज सर कुल्ला दिए,
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं ॥
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
हौं तो मुग़लानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं ।
कलमा कुरान छोड़, आई हूँ तिहारे पास,
भाव में भजन में दिलको लगाऊँगी ।
पाऊँगी विनोद मन भर के सुबह शाम,
गाऊँगी तिहारे गीत नेक न लजाऊँगी ।
खाऊँगी प्रसाद प्रभु-मंदिर में जाय जाय,
माथे पै तिहारी पद-रज को चढ़ाऊँगी ।
आशिक दीवानी बन पद पूजि-पूजि कै,
श्याम की तो तात मैं राधा बन जाऊँगी ।

इन मुसलमानों की ऐसी भक्ति को देखकर भारतेन्दु कवि हरिश्चन्द्र ने ठीक ही कहा है—

इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिए ।

स्वयं सम्राट् अकबर हिन्दू बनना चाहता था । उसने जहाँ अपना और अपने पुत्र का विवाह हिन्दू राजपूत स्त्रियों से किया था वहाँ राजपूत सरदारों का मुसलमान राजकुमारियों के साथ विवाह

कराने का भी यत्न किया था। राय मल्लिनाथ के लड़के कुंवर जगमल का विवाह सिंध की नवाव-नन्दिनी गीन्दोली से कराया गया था। अकवर ने अपने पुत्र सलीम को हिन्दी सिखलाई थी। अपने पोते खुसरो को छः वर्ष की आयु में भदन्त भट्टाचार्य के पास हिन्दी सीखने भेजा था। दारा ने संस्कृत उपनिषदों का अनुवाद कराया था। इस से वढ़कर वे हिन्दू-धर्म पर और क्या आस्था दिखला सकते थे ? पर खेद है, जात-पाँत के रोगी हिन्दू उनको पचाने में असमर्थ रहे। वैष्णव लोगों के प्रचार से बहुत से मुसलमान धर्म-विश्वास की दृष्टि से तो निस्सन्देह हिन्दू बन गए, पर रोटी-वेटी-व्यवहार की दृष्टि से वे अहिन्दू ही रहे ! फलतः वैष्णवों का सारा प्रचार निष्फल रहा।

पाकिस्तान के स्वप्न को साकार करने वाले श्री मुहम्मदअली जिन्नाह का जन्म काठियावाड़ की खोजा जाति में हुआ था। खोजा लोग मुसलमान हो जाने पर भी हिन्दू-संस्कार करते, झीना, बालजी, भगवान् जी, धर्मजी, पुरुषोत्तम, लालजी, मोतीलाल, इत्यादि हिन्दुओं के ही नाम रखते और हिन्दू रीति-रिवाजों का पालन करते थे। वे फिर से हिन्दू हो जाना चाहते थे। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में खोजा जाति के कितने ही कुटुम्ब फिर से हिन्दू धर्म पालने लगे थे। परन्तु अपनी जाति-प्रथा के कारण हिन्दू उन्हें पुनः अपने में न ले सके। फलतः अब वे कट्टर मुसलमान हो गए हैं। श्री किशोरीलाल मशरूवाला लिखते हैं कि "श्री जिन्नाह ने अपने जीवन का आधे से अधिक भाग शुद्ध हृदय से राष्ट्रीय भावना और साम्प्रदायिक एकता का समर्थन करते हुए देशसेवा में बिताया, परन्तु इस राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय एकता के क्षेत्र में लगभग पैंतालीस वर्ष बिताने के बाद उन के जीवन ने पलटा खाया। वे राष्ट्रवादी न रह कर संप्रदायवादी बन गए। इस के कारण पर क्या किसी हिन्दू ने विचार किया ?" श्री मशरूवाला इसका कारण हिन्दुओं की जाति-प्रथा को ही समझते हैं।

हिन्दुओं का धर्म जितना पवित्र है, इनकी समाज-रचना उतनी ही दूषित एवं गंदी है। वह एक प्रकार से हमारे पवित्र धर्मरूपी स्वादिष्ट खीर पर राख बखेर रखी है। हिन्दू शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक रूप से भी किसी से कम नहीं। इनमें बड़े बड़े वैज्ञानिक, दार्शनिक, व्यापारी और शूर उत्पन्न होते हैं। इन सब गुणों के रहते भी ये पनप नहीं पाते, इनका संगठन नहीं हो पाता। इसका कारण इनकी जाति-भेद-मूलक सामाजिक व्यवस्था ही है। इस्लाम में जहाँ सैंकड़ों त्रुटियाँ हैं वहाँ सामाजिक समता एवं बंधुता का एक ऐसा बहुमूल्य सद्गुण है जो उन सब त्रुटियों को दबा कर इस्लाम को संसार में बराबर फैलाता जा रहा है। इस के विपरीत हिन्दुओं में सैकड़ों देवदुर्लभ सद्गुण रहते हुए भी जाति-भेद का एक ऐसा घातक दुर्गुण है जो गत १३०० वर्ष से इन्हें दिन पर दिन डुबाता जा रहा है।

गुरु गोविंद सिंह ने हिन्दुओं कीं शूद्र जातियों में अपूर्व वीरता उत्पन्न कर दी थी। इन की कायरता को दूर करने के लिए एक जगह उन्हों ने अपने शिष्यों या सिक्खों को संबोधित करके कहा है—

यवनन के बाहु सहस्र नहीं,
मुख चार व नैन हज़ार नहीं ॥
नहिं सार के उनके शरीर बने,
बनी काठ की तेरी तलवार नहीं ॥
बल में वे अधिक नहीं तुम से,
वे सिंह नहीं तुम स्यार नहीं।
तुम सिंह हो सद्गुरु नानक के,
क्यों तुर्क को देत पछार नहीं ॥

निस्संदेह हिन्दुओं और मुसलमानों में उपर्युक्त बातों में कोई अन्तर नहीं। पर एक बात में भारी अन्तर था। हिन्दू और सिख

जात-पाँत के घातक रोग में ग्रस्त थे और तुर्क इस रोग से मुक्त। इसी से हिन्दुओं का पग आज तक पीछे और पीछे ही हटता आ रहा है।

जो लोग कहते हैं कि हिन्दुओं को संगठित करके इस लिए मज़बूत बनाना चाहिए कि जिस से फिर मुसलमान उपद्रव न कर सकें, उन्हें सोचना चाहिए कि शिवाजी, प्रताप और गोविन्दसिंह से बढ़कर मुसलमानों का बहिष्कार करना उनके लिए संभव नहीं। सर विलियम हण्टर लिखते हैं कि अंगरेज़ों ने भारत का राज्य मुग़लों से नहीं वरन् दो हिंदू संघों—सिक्खों और मराठों—से लिया था। पंजाब सिक्खों के पास था और हिंदुस्थान मराठों के पास। इस प्रकार यद्यपि हिंदुओं ने राजनीतिक रूप से इस्लाम को परास्त कर दिया था, तो भी सामाजिक रूप से इस्लाम बराबर बढ़ता रहा। वह सिक्खों के राज्य में भी बढ़ा और मराठों के राज्य में भी। हैदराबाद राज्य में मुसलमान शासक के अधीन भी इस्लाम बढ़ता रहा और नैपाल में हिंदू राजा के अधीन भी। कारण यह है कि इस्लाम की समाज-रचना समता और बंधुता-मूलक होने से ऊँच-नीच-मूलक हिंदू-समाज रचना से श्रेष्ठ और सुदृढ़ है। हिंदुओं को सुदृढ़ और संगठित बनाने के इच्छुक सज्जन अपने समाज के इस दोष को दूर करने का यत्न नहीं करते। वे यह नहीं देखते कि जिस हिंदुत्व की रक्षा की वे दुहाई देते हैं उसके प्रति द्विज को तो प्रेम हो सकता है, पर शूद्र और अछूत उसकी रक्षा के लिए प्राण देने को क्यों उद्यत हों? वे तो समझते हैं कि चाहे किसी का राज्य हो हम तो सदा शूद्र ही बने रहेंगे, हम तो द्विज कभी न बन सकेंगे। यदि हिंदू अपना वर्ण-भेद मिटा दें, तो जहाँ उनका अपना परस्पर संगठन सुदृढ़ हो जाय, वहाँ मुसलमानों का वैर-विरोध भी शांत हो जाय। लंका में बहुत से बौद्ध ईसाई हो गये थे। परन्तु

बौद्धों ने उनका सामाजिक वहिष्कार नहीं किया। वे उनके साथ पूर्ववत् खान-पान और व्याह-शादी करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही वर्षों में वे सब पुनः बौद्ध हो गये। यदि हिंदू भी मुसलमानों से भेदभाव छोड़ कर उनसे घनिष्ठता बढ़ाएँ तो दोनों का परस्पर प्रेम बढ़ सकता है।

परंतु जाति-भेद को रखते हुए हिंदुओं का मुसलमानों से खान-पान करना न संभव है और न हितकर ही। कारण यह कि हिंदुओं को डर लगता है कि कहीं हम मुसलमान न हो जायँ, कहीं मुसलमान हमारी लड़कियाँ न ले जायँ। यदि जाति-भेद न हो तो जहाँ मुसलमान हिंदुओं को पचा जाते हैं वहाँ हिंदू भी मुसलमानों को आत्मसात् कर सकते हैं। इस से दोनों दलों का परस्पर संदेह और भय दूर हो जाय। मुसलमान यदि एक हिंदू लड़की को ले जायँगे तो हिंदू दस मुस्लिम लड़कियों को पचा लेंगे। आपस में व्याह-शादी भी होने लगेगी। इस प्रकार धर्म एक व्यक्तिगत वस्तु हो जायगी। उसका समाज के साथ कोई संबंध न होगा। साकारवादी, निराकारवादी, एक ईश्वरवादी, वहुदेववादी, शैव, शाक्त, वैष्णव, ब्राह्म, देवसमाजी आदि की भाँति हज़रत मुहम्मद को मानने और रोज़ा-नमाज़ के पाबंद लोग भी मुहम्मदी हिंदू रहेंगे। इस से दोनों सम्प्रदाय भाई-भाई की भाँति आपस में मिल जायँगे। यदि हिंदुओं में कोई अच्छी और सुन्दर बात होगी तो मुसलमानों को उसे ग्रहण करने में तनिक भी संकोच न होगा। इसी प्रकार मुसलमानों की समता और बंधुता हिन्दुओं को लेने में लाभ ही रहेगा। इस समय हिन्दुओं का अपना दुर्व्यवहार ही दूसरों को उन से मिलने नहीं देता और इस दुर्व्यवहार का कारण उन का जाति-भेद है।

सन् १६३२ की बात है। लंका-निवासी बौद्ध हिन्दू श्री० ई० काँन्दी नामक एक इक्कीस वर्षीय नवयुवक साईकिल पर संसार--पर्यटन

के लिए निकला। भारत की सीमा के साथ साथ एशिया के बहुत से देशों की यात्रा के बाद जब वह भारत आया तो उसे बड़ा कटु अनुभव हुआ। उसने शिकायत करते हुए बताया कि मैं एशिया के इतने देशों में घूमा हूँ,पर मुझ से किसी ने नहीं पूछा—तेरी जात क्या है ? मेरा केवल इतना कहना कि मैं एक पर्यटक हूँ, दूसरे देशों के विधर्मी लोगों को मुझे अपने यहाँ ठहराने और सहायता देने के लिए पर्याप्त होता था। पर हिन्दुओं के हिन्दुस्थान में घुसते ही सब से पहला प्रश्न यह होता था—"तेरी जाति क्या है ?" इस से मुझे बहुत कष्ट होने लगा। मनुष्य को जिस वस्तु की आवश्यकता है, उस का पता लेकर उस को सहायता और शरण देने के स्थान में "तेरी जाति क्या है ?" यह मालूम करके किसी से घृणा और किसी पर प्रेम करना, यह हिन्दुओं का बहुत बड़ा दुर्गुण है। एक ब्राह्मणों के सिवा शेष सब लोगों का थोड़ा बहुत अपमान इस में अवश्य होता है। कई स्थानों में इस जात--पाँत के प्रताप से मुझे पीने के लिए पानी तक नहीं मिला। मुझे डबरों और जोहड़ों के ऐसे गंदे और सड़े हुए पानी से प्यास बुझानी पड़ी है जिसे पशु भी न पी सकते थे। भारत में ब्राह्मण जाति को शेष सब जातियाँ श्रेष्ठ मानती हैं, इस बात को दृष्टि में रखकर अन्त में मैंने बाज़ार से डेढ़ दमड़ी का जनेऊ मोल लिया और उसे अपने गले में ऐसे ढंग से लटकाया कि वह आसानी से अपने आन लोगों को दिखाई देता रहे। इस उपाय से मुझे अपमान और त्रास से छुटकारा मिला।

एक मनुष्य ने काँदी को समझाया कि गले में जनेऊ डाल रक्खो और जब कोई जाति पूछे तो बड़े गर्व से कह दो—"मलयाली ब्राह्मण हूँ।" पहले तो यह बात उसे अच्छी नहीं लगी। वह कहने लगा, मैं झूठ नहीं बोल सकता। पर कुछ दिन बाद पुनः विचार करने और दो तीन बार सड़े हुए जोहड़ का पानी पीने से उसने अपना सत्याग्रह

छोड़ कर मित्र का परामर्श मान लिया। फिर भी वह यथासंभव झूठ बोलने से बचता था। जब कोई उससे उस की जाति पूछता तो वह बड़ी अकड़ से अपना सफेद जनेऊ दिखा देता। पर यदि कोई अधिक खोजी मनुष्य उस के ब्राह्मण होने का विश्वास न करता, क्योंकि आज कल सभी शूद्र, अतिशूद्र जनेऊ पहन लेते हैं, तब वह काँदी एक विचित्र ढंग से हिन्दी--मिश्रित संस्कृत में ये दो शब्द बोलता—"मलयाली ब्राह्मण"। उस के ब्राह्मण होने में किसी को संदेह न हो, इस विचार से वह यथासंभव ब्राह्मणों के यहाँ ही उतरता। कारण यह कि वहाँ उसे बना बनाया भोजन मिल जाता। कायस्थ आदि ब्राह्मणेतरों के घर उतरने से उसे अपने हाथ से रसोई बनानी पड़ती थी। ब्राह्मण की जाति को भ्रष्ट करने का पाप कायस्थ आदि छोटी जाति के हिन्दू अपने सिर क्यों लेंगे ?*

कई हिन्दू कहा करते हैं कि मुसलमान गो-मांस खाते हैं, इस लिए उन के साथ हिन्दुओं का मिलना कठिन है। पर बहुत से हिन्दू सुअर भी तो खाते हैं। हमारा विश्वास है, यदि दोनों का आपस में मेल--मिलाप बढ़ जाय तो निश्चय ही मुसलमान गो-मांस खाना छोड़ देंगे। इस समय वे चिढ़कर कुरान की बात सुनने को भी तैयार नहीं। कुरान की प्रतिज्ञा नहीं कि वह सारे संसार के लिए है। कुरान का अरबी रीति--रिवाज और काबा की पूजा केवल अरब निवासियों के लिए है। कुरान स्पष्ट शब्दों में कहता है कि अरबी रसूल और अरबी कुरान अरब के लिए आया है। प्रत्येक देश और जाति का अधिकार है कि उस को उपदेश और पुस्तक उसकी अपनी भाषा में आए—

"कोई जाति नहीं, कोई देश नहीं जहाँ कि हम ने नबी उस देश या जाति की बोली के साथ नहीं भेजा—(कुरान)

* जनवरी १९३३ की "क्रान्ति" में उद्धृत मराठी "समता", बंबई से।

कुरान किसी देश या जाति में फूट नहीं डलवाना चाहता। रसूले अरबी हज़रत मुहम्मद साहब अरब को एकता के सूत्र में पिरोने आए थे। उन्होंने अपने देश को संगठित करने के लिए योरूशलम के कावे को छोड़कर मक्का को कावा बनाया था। वे कैसे पसंद कर सकते हैं कि भारत के अधिवासी भारत के कावे का परित्याग और अरब के कावे का स्वीकार करके आपस में सिरफुटौवल करें? हिन्दुओं की जात-पाँत ने ही मुसलमानों को भारत की संस्कृति और हिन्दी भाषा को अपनाने से रोक रक्खा है।

जो लोग जात-पाँत को रखते हुए अछूतपन को दूर करना चाहते हैं वे रोग के मूल को बनाए रखकर उसके बाह्य लक्षणों को छिपाना चाहते हैं। देखिए, महात्मा गाँधी द्वारा संस्थापित हरिजन सेवक संघ, दिल्ली के प्रधान मंत्री, बापा अमृतलाल ठक्कर, लिखते हैं—"अस्पृश्यता का जो स्वरूप इस समय भारत में प्रचलित है उसका सम्बन्ध यद्यपि मैला काम करने और मैला भोजन खाने के साथ है, परन्तु ये बातें उसका आधार नहीं। संस्था के रूप में अछूतपन जाति-भेद का ही युक्ति-संगत परिणाम है। यह जाति-भेद हिन्दू समाज-रचना का एक अंग प्रतीत होता है। इसलिए वर्तमान जाति-भेद को मिटाने या रूपान्तरित करने से ही अस्पृश्यता पूर्ण रूप से मिट सकती है। परन्तु हमारा संघ इन दोनों कामों में से एक भी नहीं कर रहा, क्योंकि हमारा लक्ष्य अधिक सीमित है।" (हरिजन सेवक संघ, दिल्ली, की रिपोर्ट १६३२–१६३३, पृष्ठ ११)

जाति-भेद एक क्रमबद्ध अछूतपन है। इस के कारण सब हिन्दू एक दूसरे के लिए अछूत हैं। अन्तर केवल अंश का है। कोई थोड़ा अछूत है और कोई बहुत। किसी के यहाँ आप भात खा सकते हैं पर बेटी-व्यवहार नहीं कर सकते। किसी के यहाँ आप दाल-भात नहीं पक्की रसोई ही खा सकते हैं। इस के भी आगे, किसी का खाना तो दूर

उसे आप छू भी नहीं सकते। जिन लोगों को आज अछूत कहा जाता है, वे जात-पाँत रूपी कोढ़ से पीड़ित हिन्दू-समाज का वह अन्तिम गलित अंग है जहाँ यह कोढ़ नासूर के रूप में बह रहा है। अन्यथा इस कोढ़ का विष तो सारे समाज में व्याप्त है।

जाति-भेद ने ब्राह्मण को श्रेष्ठ और शूद्र को नीच ठहरा कर मानवता का दिवाला निकाल दिया है। इस से एक ओर ब्राह्मण तो "भूदेव" बन गया है और परमेश्वर के समान पूजा जाता है, दूसरी ओर शूद्र इतना गिर गया है कि उस में आत्म-प्रतिष्ठा का भाव ही नहीं रहा। आगे कुछ घटनाएँ दी जाती हैं जिन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

शूद्र लोग द्विजों की दीर्घकालीन दासता के कारण इतने गिर गए हैं कि यदि द्विज उनकी स्त्रियों के साथ व्यभिचार करें तो वे क्रुद्ध होने के स्थान में इसे अपना सौभाग्य समझते हैं। अतएव, मलाबार में यदि नम्बूद्री ब्राह्मण नायर (शूद्र) जाति की स्त्रियों को रखेल बनाकर रखें तो नायर लोग इसे बड़ी प्रतिष्ठा की बात समझते हैं। वहाँ नम्बूद्री ब्राह्मण नायर लड़की से नियमपूर्वक विवाह नहीं करता। वह अपने घर रहता है और नायर लड़की अपने मायके में रहती है। नम्बूद्री रात को उसके घर जाता है और सवेरे चला आता है। इस प्रकार के विवाह को "संबंधम्" कहते हैं। ब्राह्मण नायर लड़की के घर खान-पान बिलकुल नहीं करता। कहते हैं, एक नम्बूद्री ब्राह्मण को रात को प्यास लगी। पर वह नायर लड़की के किसी बर्तन में पानी नहीं पी सकता था। अब करता तो क्या करता। उसे शास्त्राज्ञा का स्मरण हो आया। शास्त्र कहता है 'रत्न एवं स्त्री-मुख कभी अपवित्र नहीं होता।' इस लिए उसने नायर लड़की से कहा कि तू अपने मुख में पानी भर कर मेरे मुँह में डाल दे। स्त्री ने वैसा ही किया। इससे ब्राह्मण की प्यास भी बुझ गई और धर्म भी बच रहा।

मलावार की उन्नितिरी जाति में प्रथा है कि यदि किसी लड़की को नम्बूद्री ब्राह्मण अपनी स्त्री न बनाए तो उस का विवाह सीधे उन्नितिरी जाति के युवक से नहीं हो सकता। उसे पहले अपने से ऊपर की तिरुविप्पाड़ जाति के किसी पुरुष से चार दिन के लिए विवाह करना होता है। विवाह सयानी लड़कियों का होता है और वे चार दिन-रात एक कोठरी में पुरुष के साथ रहती हैं, नंगी होकर तेल की मालिश करती हैं। फिर तिरुविप्पाड़ भेंट-पूजा लेकर चला जाता है। अब उस कन्या का विवाह किसी उन्नितिरी से किया जा सकता है।

ट्रावंकोर का राजा शूद्र जाति का है। पर उसे क्षत्रिय बनाने के लिए एक सोने की गाय बनाई जाती है। उसके पेट में राजा को रखा जाता है। तब वह गाय के गर्भ से जन्म लेकर क्षत्रिय हो जाता है। बाद को वह सोने की गाय ब्राह्मणों को दान कर दी जाती है।

महाराष्ट्र के पश्चिम भाग में एक हिंदू स्वतंत्र राज्य की स्थापना करने के बाद जब शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक करना चाहा तो ब्राह्मणों ने वैदिक रीति से उन का संस्कार कराने से इंकार कर दिया। कारण यह कि वे शिवाजी को शूद्र समझते थे। उनका मत था कि कलियुग में कोई क्षत्रिय है ही नहीं। इस विषय में सब से अधिक विरोध शिवाजी के प्रधान मंत्री मोरोपन्त पिंगले नाम के ब्राह्मण ने किया। बाद को शिवाजी के निजी मंत्री बालाजी आवजी नाम के एक कायस्थ ने वाराणसी के गागभट्ट नामक एक ब्राह्मण को बहुत-सा रुपया देकर बड़ी कठिनाई से वेद-मंत्रों द्वारा राज्याभिषेक करने पर सम्मत कर लिया। अभिषेक पर शिवाजी ने ब्राह्मणों को इतना दान दिया कि जिस का कुछ लेखा नहीं। ६ जून १६७४ को शिवाजी का राज्याभिषेक था। उस दिन से उन्होंने अपना राज्याभिषेक संवत् चलाया। पर उनकी मृत्यु के बाद जब राजसत्ता ब्राह्मण पेशवा

के हाथ आई तो उसने यह संवत् बंद कर दिया और उसके स्थान में मुसलमानों की रीति से फसली संवत् रक्खा।

इतना ही नहीं, शिवाजी के मरने के बाद उनके दो पुत्रों को फिर शूद्र ठहरा दिया गया। दूसरे शाहू का उपनयन-संस्कार पेशवा के आदेश से पौराणिक अनुष्ठान से किया गया, वैदिक से नहीं।

शिवाजी के दूसरे पुत्र के वंशज कोल्हापुर में राज्य करते थे। सन् १६०२ ई० में कोल्हापुर के स्वर्गस्थ राजा शाहू महाराज ने अपने पुरोहित को वैदिक रीति से संस्कार कराने की आज्ञा दी। पर उसने ऐसा करने से इंकार कर दिया, क्योंकि वह कोल्हापुर के राजवंश को शूद्र समझता था। इस पर महाराजा ने आज्ञा दी कि जो ब्राह्मण हमें शूद्र समझते हैं वे हमारे राज्य से निकल जाँय, क्योंकि शास्त्र कहता है कि ब्राह्मण को शूद्र राजा के राज्य में नहीं रहना चाहिए। इस पर बहुत से ब्राह्मण अपना बोरिया-बिस्तर बाँध कर राज्य से निकल आए।

केरल में ब्राह्मणों ने क्षत्रियत्व का एक नया लक्षण गढ़ लिया है, अर्थात् राजवंशी नायर कन्या में ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ पुत्र। कोचीन के राजा की अपनी सन्तान केवल मेनन होती है और पत्नी केवल पत्नी। रानी होगी बहन जो किसी ब्राह्मण की पुत्री है और किसी ब्राह्मण की ही स्त्री भी और जिसका बेटा गद्दी पर बैठा है। प्रायः कोचीन में किसी माता को रानी बनने का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि राजवंश की बहनों, भांजियों और भांजियों की बेटियों के सभी लड़के आयु के अनुसार कोचीन की गद्दी पर बैठने का अधिकार रखते हैं।

साधारण लोगों की बात तो दूर रही, मलाबार में राजा भी जब विवाह करता था तो पहली रात अपनी नव विवाहिता पत्नी को ब्राह्मण के पास समागम के लिए भेजता था। लुडोविको डी वारथेमा

नामक एक पर्यटक अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारत आया था। मलाबार का वर्णन करते हुए वह लिखता है :—

"जब राजा विवाह करता है तो वह इन ब्राह्मणों में से योग्यतम और सब से प्रतिष्ठित मनुष्य को चुनता है और उसे पहली रात अपनी स्त्री के साथ सुलाता है ताकि वह उसके साथ समागम करे। मत समझिए कि ब्राह्मण यह काम प्रसन्नतापूर्वक करता है। राजा को उसे चार पाँच सौ डोकट (एक मुद्रा) देने पड़ते हैं।"—Voyage of Varthema, Vol. I, P. 14.

एक दूसरा पर्यटक, हमिलटन, लिखता है :—

"जब कालीकट का राजा ज़मूरण विवाह करता है तो उसके लिए आवश्यक है कि जब तक नम्बूद्री ब्राह्मण उसकी पत्नी का रसास्वादन न कर ले तब तक वह स्वयं उस के साथ समागम न करे। ब्राह्मण यदि चाहे तो स्त्री को तीन रात अपने पास रख सकता है, क्योंकि स्त्री के विवाह के प्रथम फल उस प्रभु की भेंट होने चाहिएँ जिसे वह पूजती है।"

बूचानन नाम का एक और विद्वान् लिखता है—"तिमूरी वंश की स्त्रियों को प्रायः नम्बूद्री ब्राह्मण ही गर्भवती करते हैं।"

एक समय था, जब शूद्र जाति का कोई मनुष्य ब्राह्मण का चरणामृत लिए बिना भोजन नहीं कर सकता था। चरणामृत उस पानी को कहते हैं जिस में ब्राह्मण ने अपना पैर धोया हो। सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने एक समय बताया था कि बाल्यकाल में वे देखा करते थे कि कलकत्ता में नीच जाति के बच्चे हाथ में प्याला लिए पंक्तिबद्ध सड़क के किनारे घण्टों खड़े रहते थे ताकि कोई ब्राह्मण आए तो उसका चरणामृत ले कर घर जायें और उनके माता-पिता इस चरणामृत को पीने के बाद भोजन कर सकें। शूद्र जातियाँ अब तक भी ब्राह्मण को पूज्य और पवित्र मानती हैं। वे अब तक भी अपढ़ से अपढ़ ब्राह्मण को "स्वामी" या "महाराज" कहकर पुकारती हैं।

इतना ही नहीं, पुराना हिन्दू कानून कहता है कि ब्राह्मण चाहे किसी की हत्या भी कर दे, तो भी उसे फाँसी नहीं दी जा सकती। ईस्ट इण्डिया कंपनी भी सन् १८१७ तक इस कानून पर आचरण करती रही। सुना है कि अभी हाल तक भी ट्रावंकोर और काश्मीर के रजवाड़ों में ब्राह्मण को फाँसी नहीं दी जाती थी।

"समाचार है, मलावार के उत्पलम नामक गाँव में इज़वा जाति का शिवरामनू नामक एक १७ वर्षीय लड़का एक सवर्ण हिन्दू की दूकान पर नमक मोल लेने गया। उसने मलयालम भाषा में "उप्पू" माँगा। मलावार में प्रथा है कि केवल सवर्ण हिन्दू ही नमक को उप्पू कह सकते हैं। अछूत होने के कारण शिवरामनू को "पुली चुटन" शब्द का प्रयोग करना चाहिए था। इस लिए सवर्ण दूकानदार को बहुत क्रोध हो आया। उसने लड़के को इतने ज़ोर से पीटा कि वह मर गया।" —"बम्बई समाचार," ४ नवम्बर १९३६।

"कालीकट के कुलाडी नामक ग्राम में एक नवयुवती का बच्चा कुएँ में गिर पड़ा। स्त्री ने शोर मचाया। पर जो लोग वहाँ उपस्थित थे उन में से किसी ने भी कुएँ में उतरने का साहस न किया। एक परदेसी पास से होकर जा रहा था। वह कुएँ में छलाँग मार कर बच्चे को निकाल लाया। बाद में जब लोगों ने उस परोपकारी से पूछा कि तुम कौन हो, तो उसने बताया कि मैं अछूत हूँ। इस पर उसे बहुत गालियाँ दी गईं और पीटा गया कि तू ने कुआँ भ्रष्ट कर दिया है।"— "बम्बई समाचार," १९ दिसम्बर १९३६.

"इलाहाबाद हाईकोर्ट ने एक नृशंस हत्या के अभियोग का निर्णय किया है—एक ब्राह्मण अपने अछूत भाइयों को उठाने का यत्न करता था। उस से अप्रसन्न हो कर दूसरे कट्टर पंथी ब्राह्मणों ने उस की स्त्री के सामने उसे पीट पीट कर मार डाला।"—"इण्डियन नैशनल हेरल्ड," ३०-४-२८

महाराष्ट्र में सुनार शताब्दियों से दैवज्ञ ब्राह्मण होने का दावा कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हमें जनेऊ पहनने और वैदिक संस्कार कराने का अधिकार है। १८वीं शताब्दी में ब्राह्मण पेशवाओं की आज्ञा से इन को सताया जाता था। उनके जनेऊ छीन लिए जाते थे। वैदिक कर्म-काण्ड करने पर उनको कठोर दण्ड दिया जाता था। और विवाह में दूल्हा को पालकी में बैठाने और उसके सिर पर छत्र लगाने से रोका जाता था। ये लोग विवश होकर रात को कहीं छिप कर विवाह करते थे। "ट्रायब्ज एण्ड कास्ट्स आफ़ बाम्बे," भाग ३, पृष्ठ ३३६।

वास्तव में हिन्दू-समाज में प्रचलित उपर्युक्त प्रकार की हानिकारक प्रवृत्ति का दायित्व उनकी स्मृतियों और शास्त्रों पर उतना नहीं जितना कि समझा जाता है। हम पीछे दिखा चुके हैं कि शास्त्र में सब प्रकार के विधि-निषेध वाक्य हैं और यह भी स्पष्ट आज्ञा है कि केवल किसी एक शास्त्र-वचन के आधार पर ही किसी विषय का निर्णय करना ठीक नहीं। पर समाज में जब एक बार कोई रूढ़ि चल पड़ती है, फिर लोग शास्त्र-वचन की भी परवाह न करके रूढ़ी से ही चिपटे रहते हैं। "पुरानी कोई बात छोड़ो नहीं, नई कोई बात जोड़ो नहीं।" हिन्दू समाज का यही सिद्धान्त चिरकाल से चला आ रहा है।

सन् १८०० के लगभग की बात है। पेशवा के सेनापति परशुराम भाऊ पटवर्धन की कोई आठ नौ वर्ष की लड़की दुर्गा विधवा हो गई। इस से सेनापति को बहुत दुःख हुआ। उसने पदत्याग का निश्चय किया। पर पेशवा ने यत्न किया कि उस कन्या का पुनः विवाह करा दिया जाए। उसने शंकराचार्य से अनुमति माँगी। पर शंकराचार्य ने अनुमति देने से इंकार कर दिया। तब पेशवा ने काशी के कई सौ

पण्डितों से पुनर्विवाह के पक्ष में व्यवस्था ले ली। यह देख शंकराचार्य भी सहमत हो गए। पर पूना के कुछ पण्डित दुर्गा की माता के पास जाकर गिड़गिड़ाए कि काशी के पण्डितों ने पुनर्विवाह के पक्ष में व्यवस्था वेशक दे दी है, पर आप जैसे उच्च कुल में विधवा-विवाह होने से बड़ा अनर्थ हो जाएगा; इसलिए आप सेनापति से कह कर विवाह रुकवा दीजिए। पण्डितों का जादू चल गया। दुर्गा का विवाह न हो सका।

इसी प्रकार जयपुर के राजा दूसरे जयसिंह ने विधवा-विवाह जारी करना चाहा। पर पण्डितों ने चालाकी से राजा की वृद्ध माता से धर्म-हानि की दुहाई देकर इसे बन्द कर देने को कहा। राजमाता ने पण्डितों की बात मान ली। उसने अपने पुत्र को रोकते हुए कहा कि किसी दूसरी विधवा का विवाह तो पीछे करना, पहले मेरा पुनर्विवाह कराओ। इन तीक्ष्ण शब्दों को सुन जयसिंह को अपना वह आन्दोलन बन्द कर देना पड़ा।*

* "हिन्दुओं की अवनति की मीमांसा," पृष्ठ १०९ और १२४

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

हिन्दुओं को जाति-भेद से क्या मिला

जाति-भेद सामाजिक रूप से हिन्दुओं के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ है। इसके कुछ कुप्रभावों का उल्लेख आगे किया जाता है। हिन्दुओं की संख्या-वृद्धि सन्तोषजनक नहीं। वह दूसरी जातियों, विशेषतः मुसलमानों की अपेक्षा बहुत कम है। इसका बड़ा कारण यह है कि हिन्दुओं में, विशेषतः उनकी कथित ऊँची जातियों में, गरीबों का विवाह नहीं हो पाता। ऊँचे वर्णों के दरिद्र हिन्दू प्रायः अविवाहित ही रह जाते हैं। दूसरे देशों का अनुभव बताता है कि प्रायः दरिद्र माता-पिता के ही अधिक सन्तान हुआ करती है। धनियों के यहाँ सब कहीं कम बच्चे होते हैं। इसका अर्थ यह है कि हिन्दुओं की वह श्रेणी जो संख्या-वृद्धि कर सकती है प्रायः बिन-व्याही ही रह जाती है।

इसका कारण हमारी सदोष समाज-व्यवस्था है। जाति-भेद के कारण हिन्दू लड़के-लड़कियों का विवाह अपनी तंग जाति-बिरादरी के भीतर ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त, जैसे मुसलमान समाज में चाचा-ताऊ और फूफा-मामा के बच्चों के विवाह आपस में हो जाते हैं, वैसे हिन्दुओं में नहीं होते। इस से विवाह की मंडी में जो प्रतियोगिता होती है उसके कारण निर्धन हिन्दू को कोई नहीं पूछता। पर जब कोई दरिद्र हिन्दू मुसलमान हो जाता है तो उधर उसका विवाह तुरन्त हो जाता है। कारण यह कि मुसलमानों में यह आवश्यक नहीं कि अपनी ही जाति-बिरादरी के भीतर विवाह हो। मुसलमान एक वैश्या तक से विवाह कर सकता है और वह विवाह उनके समाज में बिलकुल धर्म-संगत है। जाति-भेद के कारण ही विधवा-विवाह का प्रचार नहीं होता। बिरादरी-पद्धति के रहते बाल्य-विवाह का रुकना

भी कठिन है। कारण यह कि साधारण मनुष्यों को डर रहता है कि हमारे बच्चे कँवारे न रह जायँ। इसलिए वे शीघ्र से शीघ्र उनके विवाह करके अपने कर्तव्य-भार से मुक्त हो जाना चाहते हैं।

जाति-भेद के कारण ही हमारा "शुद्धि" आन्दोलन सफल नहीं हुआ। जब एक जाति का हिन्दू दूसरी जात के हिन्दू से भी बेटी-व्यवहार नहीं कर सकता तो दूसरे धर्म से आनेवाले के साथ कौन ब्याह-शादी करेगा? यदि जाति-भेद न हो तो बाहर से आनेवाले व्यक्ति, अच्छे-अच्छों में और बुरे बुरों में मिल जाँय।

भारत के मुसलमानों में हिन्दुओं में से निकले होने और उनके पड़ोस में बसने के कारण जाति-भेद का भाव थोड़ा-बहुत है अवश्य। पर वे इसको एक बुराई समझते हैं। जिस प्रकार हिन्दू जाति-भेद को अपने धर्म का अंग मानते हैं वैसे मुसलमान नहीं मानते। उनमें यदि कोई जाति से बाहर विवाह कर लेता है तो उसे बहिष्कृत नहीं कर दिया जाता। दोनों समाजों के भाव में यह बड़ा अन्तर है।

हिन्दू-समाज-रचना इस प्रकार की है कि इसमें निर्धन, पतित, आलसी और स्वतंन्त्र विचार वाले के लिए बहुत कम स्थान है। ऐसे ही हिन्दू अधिकतर ईसाई और मुसलमान बनते हैं। निर्धन को हिन्दू-समाज में स्त्री नहीं मिलती और न उसकी योग्यता एवं रुचि के अनुकूल काम मिलता है। जिस काम को वह कर सकता है, उसे उसका समाज पसन्द नहीं करता, और जिस काम को उसका समाज पसन्द करता है वह उससे हो नहीं सकता। फलतः वह भूखों मरता है। वह समझने लगता है कि यदि मैं ईसाई या मुसलमान हो जाऊँ तो न केवल मेरा विवाह ही हो जाएगा वरन् मुझे काम भी मिल जाएगा। इसी लालच में आकर बहुत से हिन्दू धर्म-परिवर्तन कर लेते हैं। हिन्दू रहते हुए वे चमड़े का व्यापार न कर सकते थे। वे मेहनत-मजदूरी करना अपना अपमान समझते थे। मुसलमान या ईसाई होकर वे

सब कुछ कर सकते हैं। मैं एक भङ्गी को जानता हूँ। वह टट्टी उठाने का काम छोड़कर ताँगा चलाना चाहता था। इसलिए उसे ईसाई बन जाना पड़ा। कारण यह कि वह समझता था कि उसके हिन्दू रहते, कोई सवर्ण हिन्दू उसके ताँगे में बैठना पसन्द न करेगा; ईसाई हो जाने पर यह बाधा दूर हो जाएगी। लायलपुर में एक आर्यसमाजी डाक्टर इसलिए मुसलमान हो गया कि वह मद्रास का रहने वाला था, पर पंजाब में बस गया था। मद्रास के हिन्दू को पंजाब के हिन्दू किस प्रकार अपना भाई समझते! उसके लड़के थे और लड़कियाँ भी। जब तक वह हिन्दू था उसके बच्चों का विवाह न हो सका। मुसलमान होते ही वे सब ब्याहे गए।

कोई हिन्दू स्त्री विवशता की दशा में वेश्या हो जाती है। इस दशा में वह हिन्दू नहीं रह सकती। वेश्या बनना तो बड़ी दूर की बात है। आप किसी हिन्दू स्त्री को किसी प्रकार बदनाम कर दीजिए। लोगों में फैला दीजिए कि वह व्यभिचारिणी है। वह अपने समाज से अवश्य निकल जाएगी। हिन्दू-समाज प्रतिबंधों पर आधारित है। यह काम न करो, वह काम न करो, इसके हाथ का न खाओ, उसके साथ न छुओ। ऐसी बातें आलसी और स्वतन्त्र विचार रखने वाले, दोनों प्रकार के मनुष्यों को हिन्दू समाज से बाहर ढकेल देने के लिए पर्याप्त हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज़ में रहना चाहता है और संमान-पूर्वक रहना चाहता है। यदि उसका समाज उसे सम्मान से न रखेगा तो वह उस समाज का परित्याग कर देगा।

कई हिन्दू केवल इसलिए मुसलमान हो गये हैं कि उनकी बिरादरी की बहुसंख्या मुसलमान हो गई थी। वे कहते थे कि हम हिन्दू रहना चाहते थे, पर हिन्दूओं की दूसरी बिरादरियाँ हमारे साथ बेटी-व्यवहार करने को तैयार न थीं।

हिन्दूओं की अनेक जातियाँ ऐसी हैं जिन में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हैं और कई अन्य जातियों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। पहली दशा में स्त्रियाँ बिकती हैं और व्यभिचार फैलता है। दूसरी दशा में बड़े बड़े दहेज माँगे जाते हैं और बहुत सी लड़कियाँ कुंआरी रह जाती हैं।

हिन्दुओं की अधिकांश संख्या कायर है। राजपूत आदि कुछ लोग जो भीरु नहीं भी हैं, वे भी दूसरी विदेशी जातियों के सामने हार खाते रहे हैं। इसका कारण क्या है ?

हिन्दुओं का पालन-पोषण और रहन-सहन एक ही संकुचित क्षेत्र के भीतर होता है। उसी संकीर्ण क्षेत्र के भीतर वे व्याह-शादी करते हैं। अब यह एक स्वाभाविक बात है कि जो जातियाँ शताब्दियों से दूकानदारी, नौकरी या दूसरे असैनिक काम करती आ रही हैं वे लड़ने का काम भूलकर डरपोक एवं भीरु बन जाएँगी। यदि बनिए के लड़के का विवाह राजपूत लड़की से और ब्राह्मण लड़की का विवाह जाट लड़के से हो तो यह दोष नहीं रहेगा।

दूसरी बात यह है कि बनियों के लड़के-लड़कियाँ एक ही प्रकार के वातावरण में पलते, एक ही प्रकार के खेल खेलते, एक ही प्रकार की डराने वाली बातें सुनते रहने से डरपोक बन जाते हैं। इसका कारण भी हमारी सदोष समाज-रचना ही है। जो बातें बनिए का लड़का अपने घर में सुनता है और जो संस्कार बाल्यकाल में उस पर पड़ते हैं उन्हीं के प्रभाव से वह कायर बन जाता है। जहाँ हमने व्याह-शादी के लिए पृथक्-पृथक् जनसमुदाय बनाने की भूल की है, वहाँ विभिन्न जातियों के काम बाँटने में भी भूल की है। कई जातियाँ ऐसी हैं जो शताब्दियों से कभी युद्ध में नहीं गई या जिन्हों ने कोई ऐसा काम नहीं किया जिस में लड़ने-भिड़ने या दूसरे से टक्कर लेने की आवश्यकता हो। इसी के परिणाम से वे जातियाँ या जन-समुदाय कायर हो गई हैं।

वीरता और कायरता का संबंध उतना जन्म से नहीं जितना कि प्रतिदिन के उन कार्यों से हैं जो हमारे स्वभाव को बनाते हैं। अर्थात् वीरता और डरपोकी हमारे दैनिक कार्यों का ही परिणाम है। आप राजपूतों को एक वीर जाति समझते हैं। आप इस जाति के एक व्यक्ति को ले लीजिए। उससे कहिए कि हम तुम्हें एक लाख रुपया देते हैं, तुम कोई वाणिज्य करो। वह साफ इंकार कर देगा, और कह देगा कि मुझे व्यापार से डर लगता है; मैं व्यापार करके अपनी नींद हराम नहीं करना चाहता। फिर उससे कहिए कि यदि तुम व्यापार नहीं कर सकते तो आओ राज (मेमार) के साथ काम करो। वह इस काम से भी इंकार कर देगा। वह कहेगा, मुझे थवई के साथ काम करने से डर लगता है। इसके विपरीत थवई साधारण सा बाँस का मचान बाँध कर उस पर बैठ जाता है; एक फुट चौड़ी दीवार पर बे-धडक चलता-फिरता है। पर 'वीर' राजपूत को इससे डर लगता है। अब राज के संबंध में यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि राज की भार्या केवल रात के समय सुहागिन होती है। दिन के समय जब राज काम पर जाता है तो वह डरती रहती है कि कहीं आज मेरा पति किसी मचान से या मकान से गिर कर मर न जाए। जब वह रात को लौट कर घर आता है तभी वह समझती है कि मैं सुहागिन हूँ।

यदि कोई राज से कहे कि आओ तुम्हें इस भयावह धन्धे से छुटकारा दिला दें; तुम सेना में भरती हो जाओ; युद्ध में मृत्यु की उतनी जोखिम नहीं जितनी तुम नित्य उठाते हो। वह स्पष्ट उत्तर देगा कि मैं सेना में भरती नहीं हो सकता; मुझे उससे डर लगता है।

अब किसी बनिए को बुलाइए और उससे कहिए कि लाख रुपया लो और व्यापार करो। वह कहेगा, यह तो साधारण-सी बात है। वह इस प्रकार की जोखिम का अभ्यस्त है। बात वास्तव में यह है

कि प्रत्येक प्रकार के काम में वीरता एवं साहस की अपेक्षा है। जो काम हम नहीं करते उस से हमें डर लगता है। और जो काम हम करने लग जाते हैं उसके हम अभ्यस्त हो जाते हैं। वीरता और कायरता का यही तत्वज्ञान है।

अब तनिक सोचिए कि क्या कारण है जो हमारे राजपूतों के इतना शूर, साहसी और निडर होने पर भी वे उत्तर-पश्चिम से होने वाले उजड्ड मुसलमानों के आक्रमणों को न रोक सके? सातवीं शताब्दी में सिंधु देश पर मुहम्मद बिन क़ासिम के आक्रमण से लेकर आज तक गत १३०० वर्षों में हिन्दुओं का पग दिन पर दिन पीछे ही क्यों हटता आ रहा है? नवीं शताब्दी में कावुल में भी हिन्दू राजे राज्य करते थे। पर आज अमृतसर से परे भी हिन्दू पैर नहीं धर सकता। ग़ज़नी का महमूद भारत को १२ वर्ष में १८ बार लूट कर ले गया और किसी राजा या क्षत्रिय जाति ने उसके दाँत खट्टे न किए! इस के उपरान्त भी मुसलमान शासक आपस में लड़ते-भिड़ते रहे। पर किसी हिन्दू को उन से राजसत्ता छीन लेने का साहस न हुआ।

इस का कारण भी हिन्दुओं की विभिन्न जातियों में बेटी-व्यवहार का न होना है। इस प्रतिबंध से जहाँ न लड़ने वाली जातियाँ डरपोक हो जाती हैं वहाँ लड़ने वाली उजड्ड और विचारहीन हो जाती हैं। पर विजय प्राप्त करने के लिए केवल वीरता एवं निडरता ही नहीं, उनके साथ बुद्धि और परिणाम-दर्शिता की भी आवश्यकता है। जो जातियाँ केवल लड़ती-भिड़ती रहती हैं वे उजड्ड, अदूरदर्शी और नीति-शून्य हो जाती हैं। राजपूतों के इतिहास में हम बार बार पढ़ते हैं कि वे बात बात में तलवार पर उतर आते थे; यह जानते हुए भी कि शत्रु की शक्ति अधिक है, केसरी बाना पहन युद्ध में मरने के लिए तैयार हो जाते थे। वे लोग केवल लड़ना-मरना जानते थे,

लड़ाई जीतने की कला उन को न आती थी। जौहर की प्रथा क्या थी? परले दर्जे की मूर्खता! इस प्रकार की प्रथा यद्यपि ऊपर से वीरोचित प्रतीत होती है, पर इस का फल शत्रु के पक्ष में निष्कण्टक राज्य और स्वदेश के लिए स्थायी दासता है। आजकल यदि कोई सेनानायक ऐसी परिस्थिति में सेना को पीछे हटने की आज्ञा न दे तो उस का कोर्ट मार्शल कर दिया जाए।

अपनी अपनी संकुचित जाति-बिरादरी के भीतर ही विवाह करते रहने का कुफल यह हुआ है कि मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनाने वाले सद्गुण अलग अलग जातियों में पुंजीभूत हो गये हैं। ब्राह्मण बुद्धिमान् तो है पर साथ ही वृथाभिमानी भी है। क्षत्रिय वीर तो है पर साथ ही अदूरदर्शी भी। वैश्य व्यापार-कुशल तो है पर साथ ही कायरता की सजीव प्रतिमा भी। शूद्र परिश्रमी तो है, पर साथ ही उस की आत्मा इतनी कुचली हुई है, उस की उमंग इतनी दबी हुई है कि उस में वह मानवी प्रतिष्ठा ही नहीं रह गई जिस के विना यह जीवन दूभर मालूम होने लगता है। भारत लड़ाइयों में इसलिए नहीं हारता रहा कि उसके सैनिक अयोग्य और निकम्मे थे। वरन् उस के हारते रहने का कारण उस के अयोग्य सेनानायक थे। विजयी सेनापति बनने के लिए राजपूत की वीरता और ब्राह्मण की दूरदर्शिता का मिलाप आवश्यक है। यदि ब्राह्मण और राजपूत का आपस में बेटी-व्यवहार हो, तभी इन दोनों गुणों वाली सन्तान उत्पन्न हो सकती है। पर जाति-भेद ने दोनों के विवाह पर रुकावट लगा दी है। इस लिए जात-पाँत को मानने वाला समाज अच्छे लड़ाके सिपाही तो चाहे उत्पन्न कर सके, पर विजयी सेनानायक उत्पन्न नहीं कर सकता। महाराजा रणजीतसिंह को भी अपनी सेना के लिए फ्रेंच सेनापति रखने पड़े थे। देखिए, पहले अँगरेजों ने उत्तर प्रदेश के लोगों की सेना से पंजाब के सिक्खों को जीता, फिर जब सन् १८५७ में उत्तर प्रदेश

की सेनाओं ने विद्रोह किया, तो अँगरेज़ों ने उन्हीं सिक्खों की सेना से विद्रोही सेना को नष्ट कर दिया। कहने का अभिप्राय यह कि जिस सेना का सेनापति अँगरेज़ होता था वही जीत जाती थी।

अपनी ही संकुचित जाति में विवाह करने और पैतृक व्यवसाय करते रहने से उस समाज में कई प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जो जाति सदा बौद्धिक व्यवसायों में लगी रहती है वह प्रायः घमण्डी हो जाती है, डरपोक हो जाती है। वह हाथ से काम करना भूल जाती है, और अन्ततः उस में मानसिक दुर्बलता भी बढ़ जाती है। कारण यह कि ज्ञान के साथ आचरण का होना भी आवश्यक है। ऐसी बौद्धिक जाति एक प्रकार की वितण्डावादी बेशक बन जाती है, पर उसका दृष्टिकोण विशाल नहीं होता। वे लोग सब प्रकार की बातें नहीं सोच सकते, वे लड़ाइयाँ नहीं लड़ सकते, वे किसी उद्योग-धंधे में सफल नहीं होते।

इसी प्रकार जो जातियाँ केवल लड़ने-भिड़ने में, या केवल वाणिज्य-व्यापार में, या केवल मेहनत-मज़दूरी में शताब्दियों से लगी हुई हैं, उन का भी एकांगीन विकास हुआ है। भला सोचिए तो सही, कि जो व्यक्ति आप भंगी, जिस का बाप-दादा भंगी, जिस की स्त्री-बच्चे भंगी, जिस के अड़ोसी-पड़ोसी भंगी और जिसकी आने वाली सन्तान भी भंगी हो, वह सिवा भंगी के और क्या हो सकता है? यदि उस में मानवता का भाव इतना लुप्त हो चुका हो कि वह एक हाथ से मल-मूत्र उठाता हुआ दूसरे हाथ से साथ ही साथ रोटी भी खाता जाए, तो इस में आश्चर्य ही क्या है?

जाति-भेद से हमारे उद्योग-धन्धों की भी बड़ी हानि हो रही है। देखिए, कोई वस्तु जितनी अधिक मात्रा में तैयार हो उतनी ही वह सस्ती पड़ती है। पर रहन-सहन की दृष्टि से भारत के विभिन्न प्रदेश एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए उनकी आवश्यकताएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। देश के एक ही भाग में बसने वाले विभिन्न वंशों एवं जातियों की

भी यही दशा है। इस अवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह है कि यद्यपि देश बहुत विशाल है तो भी माल छोटे पैमाने पर ही तैयार होता है। हिन्दुओं की आवश्यकताएँ मुसलमानों की आवश्यकताओं से भिन्न हैं। उनका पहनावा एक दूसरे से भिन्न है। और भारत के अनेक स्थानों में दोनों समाजों के दरज़ी भी भिन्न-भिन्न हैं। केवल हिन्दुओं को ही लीजिए। बम्बई जैसे नगर को देखिए। वहाँ दो बड़े समाज हैं—गुजराती और मराठी। इन दोनों का पहरावा अलग-अलग है। इसलिए उनके दरज़ी एक नहीं हो सकते। गुजराती के लिए गुजराती दरज़ी होना चाहिए और मराठे के लिए मराठा। तभी वह उनके, विशेषतः स्त्रियों के, कपड़े बना सकेगा।

फिर गुजराती और मराठा खाना एक नहीं। इसलिए दोनों को विभिन्न प्रकार के रसोइए चाहिएँ। उनके भोजनालय और निवास-स्थान भी एक नहीं हो सकते। केवल इसीलिए नहीं कि उनको विभिन्न प्रकार के आहार की आवश्यकता है, वरन् इसलिए भी कि उनके परोसने के ढङ्ग में भी थोड़ा-बहुत अन्तर है। बाहर से देखने पर ये प्रभेद चाहे तुच्छ प्रतीत हों, परन्तु वे बड़े प्रभावशाली हैं। जब किसी प्रदेश में बहुत से ऐसे समाज बसते हों जिनके खान-पान और रहन-सहन की रीति एक दूसरे से भिन्न हो और फलतः जिनकी आवश्यकताएँ भी भिन्न हों, तो उनके एक दूसरे में घुल-मिल कर एक समाज बनने में जितना भी विलम्ब होगा, देश के आर्थिक विकास में उतनी ही हानि होगी। माल को बहुत बड़े पैमाने पर तैयार करना और कार्य-सम्पादन में विशेषता प्राप्त करना उच्चतर आर्थिक जीवन के लक्षण हैं। वहाँ इन दोनों का अभाव हो जाता है।

जो लोग जाति-भेद को रखते हुए हिन्दू-समाज का सुधार करना चाहते हैं वे नहीं समझते कि वे क्या कर रहे हैं। कई लोग ऐसे हैं जिनका जन्म भङ्गी के घर हुआ है, पर उनकी प्रवृत्ति सैनिक बनने

की है। ऐसे लोगों को जाति-भेद सैनिक नहीं बनने देता। कई युवक ऐसे हैं जिनका जन्म ब्राह्मण के घर हुआ है, पर उनमें कोई बौद्धिक कार्य करने की न तो रुचि है और न योग्यता ही। वे बड़े सफल मोची या निपुण बढ़ई बन सकते हैं। पर यह जाति-भेद उनको अपना पैतृक धन्धा करने पर विवश करता है। इस से वे उसमें कोई उन्नति नहीं कर पाते। गले पड़ा ढोल बजाते हैं। इससे उनकी और समाज की, दोनों की, हानि होती है।

पैतृक व्यवसाय करने वाले की प्रगति रुक जाती है। पैतृक व्यवसाय करने वाला गायक मीरासी और भाट असफल है। सिनेमा में सफल गायक आपको एक भी ऐसा न मिलेगा जिसका पैतृक व्यवसाय संगीत हो। पैतृक व्यवसाय से चिपटा हुआ बढ़ई, लोहार और चमार वहीं खड़ा है जहाँ उसके पिता-पुरखे शताब्दियों पहले खड़े थे। भारत का पैतृक मोची आज भी तीन रुपये से अधिक मोल का जूता नहीं बनाता, जबकि यूरोप के मोची बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस रुपए के बूट बनाते हैं। इसका कारण यह है कि व्यवसाय को पैतृक बना देने से एक तो प्रतियोगिता का डर नहीं रहता, जिस से मनुष्य ढीला पड़ जाता है; दूसरे बाहर से नया रक्त न आने से व्यवसाय को उन्नत करने के लिए प्रतिभा का अभाव हो जाता है। जात-पाँत में फँसा हुआ हिन्दुओं जैसा समाज महात्मा गाँधी, राजगोपालाचार्य और मोतीलाल नेहरू तो उत्पन्न कर सकता है, पर स्टालिन, चर्चिल और माऊँट बेटन नहीं, जो सफल राज्य-प्रबन्धकर्त्ता होने के साथ-साथ विजयी सेनानायक भी हैं। जात-पाँत से मनुष्य का सर्वाङ्गीन विकास नहीं होता। इससे ऐसे मनुष्य उत्पन्न हो गए हैं जिनका सिर कद्दू के बराबर बड़ा है, तो पैर सींक की तरह पतले हैं; पेट कुप्पे की भाँति बाहर को निकला हुआ है, तो भुजाएँ तिनका तोड़ने में भी असमर्थ हैं। पूर्ण मनुष्य वही है, जिसके सब अंग ठीक अनुपात में हों।

समाज वही उत्तम कहला सकता है जिस के सदस्यों के सब अंग उन्नत और सुदृढ़ हों। आवश्यकता पड़ने पर जो सब के सब सिपाही, दूसरे अवसर पर सब के सब व्यापारी और तीसरे अवसर पर सब के सब अध्यापक बन सकते हों। यह नहीं कि यदि सैनिकों की आवश्यकता हो तो केवल राजपूतों में से भरती हो, व्यापारियों की आवश्यकता हो तो केवल बनियों में से, और जब अध्यापकों की आवश्यकता हो तो केवल ब्राह्मणों में से भरती करना पड़े। काम करने वालों की इस प्रकार की बाँट जहाँ भी होगी वहाँ सारी जाति दुर्बल हो जाएगी। अस्थायी विभाजन हानिकारक नहीं, पर स्थायी विभाजन प्राण-घातक हलाहल है।

विभिन्न काम करने वाले जन-समूह दूसरे देशों में भी हैं। पर वहाँ उनका समूहीकरण अस्थायी है, हमारे यहाँ की भाँति जन्म से या स्थायी नहीं। वहाँ जो आज श्रमजीवी है, वही कल किसान बन जाता है। उसका बेटा पादरी बन जाता है और भाई सेना-नायक। वहाँ अस्थायी श्रेणियाँ (Classes) हैं, स्थायी जातियाँ (Castes) नहीं। श्रेणी बदली जा सकती है, पर जाति नहीं। यही कारण है कि हमारे यहाँ सब भारत-वासियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों का साझा नहीं। जो बात जाट के लिए अमृत है वही बनिए के लिए विष है। जिन लोगों के साथ आपका खान-पान और ब्याह-शादी है उनके प्रति आपके हृदय में प्रेम होना स्वाभाविक है। जाति-भेद को बनाए रखकर जो लोग देश में एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं या साम्प्रदायिकता को मिटा देना चाहते हैं वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। जिस हिन्दू का सारा सामाजिक जीवन, जन्म से मरण पर्यन्त, बिलकुल साम्प्रदायिक है, जिस की छोटी सी संकीर्ण जाति ही उसका समूचा संसार है, उससे आप कैसे आशा कर सकते हैं कि वह राजनीतिक क्षेत्र में, अपनी जाति-वालों और दूसरी जातिवालों को बराबर समझने लगेगा ? यह बात

सर्वथा अस्वाभाविक है। विधान-सभाओं के चुनाव के दिनों में यह बात स्पष्ट हो जाया करती है। पंजाब का ब्राह्मण अपने पड़ोसी कहार को छोड़कर बिहार के भिन्न-भाषा-भाषी ब्राह्मण को अपना भाई क्यों समझता है? क्योंकि वह कहार के यहाँ बेटी-व्यवहार नहीं कर सकता, पर बिहारी ब्राह्मण के साथ कर सकता है। यह स्वाभाविक है। रक्त सदा पानी से गाढ़ा रहता है। जो व्यक्ति अग्रवाल-सभा या जाट-महासभा का मंत्री है और कांग्रेस की वेदी से कहता है कि सब भारतवासी मेरे राष्ट्र-बन्धु हैं, वह अपनी आत्मा को झुटलाता है और संसार को धोखा देना चाहता है। आपको संसार में ऐसा कोई स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं मिलेगा जिस के सदस्य, केवल जन्म के ही कारण, अपने दूसरे देश-भाई से खान-पान और ब्याह-शादी करने से इंकार करते हों। इस देश में इस समय जो गुप्त रूप से जाटस्थान, राजपूतस्थान, आदिवासियों का झारखण्ड आदि बनाने की चेष्टाएँ हो रही हैं, ये सब जाति-भेद का ही स्वाभाविक परिणाम हैं। जाति-भेद को मानने वाला हिन्दू बेशक डींग मारे कि मैं पहले हिन्दुस्थानी और बाद को हिन्दू हूँ, पर सचाई यह है कि वह पहले तो कहाँ बाद में भी हिन्दुस्थानी नहीं, हिन्दुस्थानी तो दूर वह हिन्दू भी नहीं। वह तो ब्राह्मण, अग्रवाल या जाट है। यदि जाति-भेद को न मिटाया गया तो यह जाति-भेद भारत की इस कथित स्वतन्त्रता को मिटा देगा। प्रकृति पहले भी कई बार—शिवाजी के समय, सिक्खों के समय, और सन् १८५७ में भारत को स्वतन्त्र होने का अवसर देती रही है। पर जाति-भेद का रोगी भारत उस स्वतन्त्रता को बनाए रखने में सदा असमर्थ रहा है। इतिहास से शिक्षा लेने की आवश्यकता है। राष्ट्र को बाहर के शत्रुओं से उतना भय नहीं, जितना अपने भीतर के इस बोदेपन से। हिन्दू की अपनी संकुचित जाति और उपजाति के प्रति भक्ति उस की विशाल राष्ट्र-भक्ति को दबा देती है।

जाति-भेद ने हिन्दू की महत्त्वाकांक्षा को मार डाला है। उस में उन्नति करने की उमंग ही उत्पन्न नहीं होती। भङ्गी समझता है, मैं तो सदा भङ्गी ही रहूँगा; उन्नति करके मैं ब्राह्मण नहीं बन सकता। ब्राह्मण समझता है, मेरी जन्म की उच्चता को कोई छीन नहीं सकता। इसलिए अपने को उन्नत करने की उस में कोई उमंग उत्पन्न नहीं होती। सुनार गहने गढ़ता है, चमार जूते बनाता है; पर साथ ही अनुभव करता है कि इस व्यवसाय के कारण ही समाज मुझे शूद्र और नीच समझता है। इसलिए उसका अपने काम में प्रेम नहीं होता। जिस काम से मनुष्य को प्रेम न हो, जिसे वह अपने अपमान का कारण समझे, उसे वह उन्नत नहीं कर सकता। इसीलिए हमारे शिल्पियों और कलाकारों की दशा सन्तोषजनक बहुत कम देखी जाती है।

हिन्दू समाज की रचना ऐसी है जिस से कोई बाहर से आकर हिंदुओं में मिल नहीं सकता है और जो इन में से निकल जाना चाहता है उसे रोका नहीं जा सकता। हिंदू समाज में केवल द्विज ही रह सकता है। भंगी, चमार, ढेढ़ आदि अस्पृश्य ही नहीं, कोई लोहार, नाई, माली, कुम्हार, तेली, कलवार, धोबी, जुलाहा आदि कारीगर-जाति का मनुष्य भी सम्मानपूर्वक नहीं रह सकता। वह चाहे जितना भी विद्वान्, सदाचारी, धनी और गुणी क्यों न हो, उस की जाति का पता लगते ही, एक कौड़ी का द्विज भी उस का तिरस्कार करने लगता है। जिस साहस के साथ रेल पर कुली का काम करने वाला ब्राह्मण बाज़ार में खड़ा होकर "मैं ब्राह्मण हूँ" कहता है उसी साहस के साथ एक नाई वकील कभी अपनी जाति नहीं बता सकता। वह सामाजिक तिरस्कार से डरता रहता है। इसलिए कायस्थ अपने को वर्मा, नाई अपने को कुलीन ब्राह्मण शर्मा, कलवार अपने को हैहय क्षत्रिय या अहलूवालिया, बढ़ई अपने को धीमान् ब्राह्मण और रामगढ़िया, सुनार अपने को मैड़ राजपूत, और कुम्हार अपने को

प्रजापति ब्राह्मण और वीर राजपूत, सिहोरे अपने को शिवहरे अथवा जायसवाल कहने लगे हैं। वास्तव में कथित नीच जातियों को कथित उच्च जातियों द्वारा होने वाला उनका सामाजिक तिरस्कार जितना दुःख देता है उतनी उनकी निर्धनता नहीं। भारत सरकार ने गत दस वर्ष से अछूतों और पिछड़ी जातियों को शिक्षा, सरकारी नौकरियों और विधान-सभाओं में विशेष सुविधाएँ दे रखी हैं। उनकी आर्थिक अवस्था को उन्नत करने के लिए भी वह यत्नवान् मालूम होती है। फिर भी आज ये लोग हिन्दू समाज के विरुद्ध विद्रोह करके लाखों की संख्या में बौद्ध, ईसाई और मुसलमान हो रहे हैं। इस का कारण क्या है? आपको मानना पड़ेगा कि ये लोग निर्धनता के कारण नहीं, वरन् सवर्णों द्वारा होने वाले सामाजिक अपमान के कारण ही धर्मान्तर और समाजान्तर करने पर विवश होते हैं।

अनपढ़, मूर्ख और निर्धन मनुष्य को आप चाहे गाली दे लें, वरन् दो जूते भी लगा लें, उस के मुँह में टुकड़ा डाल देने से वह उस अपमान को चुपचाप सहन कर लेगा। परन्तु उसके सुशिक्षित तथा शक्तिशाली हो जाने पर वह रोटी की अपेक्षा आत्म-संमान को अधिक महत्त्व देने लगता है। पहले उस में अपना अपमान करने वाले से बदला लेने की शक्ति नहीं थी। अब वह बदला ले सकता है। इसी कारण से पाकिस्तान बना है और इसी से अब शूद्र जातियाँ सवर्णों के विरुद्ध विद्रोह करने लगी हैं। इस का एक मात्र उपाय यह है कि जात-पाँत-मूलक ऊँच-नीच का समूल नाश कर दिया जाय। इस समय अछूत-पन का जो गलत इलाज हो रहा है उसका परिणाम यह भयंकर विद्रोह होना अनिवार्य है। क्या ब्राह्मणों में अपढ़ और कंगाल नहीं? फिर वे हिन्दू समाज के विरुद्ध विद्रोह क्यों नहीं करते?

एक चुटकुला प्रसिद्ध है। तीन मनुष्य रास्ता चलते चलते इकट्ठे हो गये। उन में से एक दूसरे से पूछने लगा कि तुम कौन होते हो?

वह बोला, अहलूवालिया। फिर दूसरे ने पहले से पूछा, तुम कौन जाति हो ? वह बोला, रामगढ़िया। तब उन्होंने तीसरे की जाति पूछी। इस पर वह बोला–"देखो भाई, यदि तुम अहलूवालिया हो और यह रामगढ़िया है, तो मैं बहावलपुरिया हूँ; पर यदि तुम कलवार हो और यह बढ़ई है, तो मैं जुलाहा हूँ।"

समाज की यह दशा अच्छी नहीं। जिन को केवल जन्म के कारण आप अछूत और शूद्र समझ कर घृणा करते हैं उन का आपके प्रति कभी सद्भाव नहीं हो सकता। कोई अछूत और कोई शूद्र उसे नीच समझने वाले द्विज से प्रेम कैसे कर सकता है ? थोड़ा सा भी दबाव पड़ने पर वह धर्मान्तर और समाजान्तर के लिए तैयार हो जायगा।

आज ईसाई मिश्नरियों के विरुद्ध हिन्दू समाचार-पत्र बड़ा हो-हल्ला मचा रहे हैं कि वे अछूतों और आदिवासियों को लालच देकर हिन्दू धर्म से पतित कर रहे हैं और कि इन मिश्नरियों को यूरोप और अमेरिका से करोड़ों रुपया आ रहा है। इन मिश्नरियों के धर्म-प्रचार को बंद करा देने के लिए इन पर विदेशों के गुप्तचर और राजनीतिक उपद्रवी होने का भी आरोप लगाया जाता है। परन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या केवल भारत के हिन्दू शूद्र ही निर्धन हैं ? क्या भारत में रहने वाले साढ़े चार करोड़ मुसलमान, यहूदी, पारसी और अरब तथा ईरान आदि देशों के सभी मुसलमान लखपति हैं ? उनमें रुपये के ज़ोर से ईसाई मिश्नरियों को सफलता क्यों नहीं होती ? इँग्लेण्ड के लोग भी ईसाई हैं और जर्मनी के भी। फिर इँग्लेण्ड के ईसाई देश-द्रोह कर के इंग्लेण्ड की अपेक्षा जर्मनी पर अधिक प्रेम क्यों नहीं करते ? भारत में मुसलमानों और ईसाइयों की देशभक्ति पर ही हिन्दुओं को क्यों संदेह होने लगता है ? ऊँचे वर्ण के हिन्दुओं का तो इस बात में हित हो सकता है कि अछूत और सछूत शूद्र तथा आदिवासी हिन्दू कहलाते हुए उन के दास बने रहें, परन्तु इन शूद्रों

और आदिवासियों का हिन्दू कहला कर उच्च वर्ण के हिन्दुओं का दास बना रहने में क्या हित हो सकता है? यदि ये लोग ईसाई या मुसलमान बन कर अपने मानवता के अधिकार प्राप्त कर सकते हैं तो वे क्यों धर्मान्तर न करें, वे क्यों हिन्दू धर्म से चिमटे रहें ? जात-पाँत के कारण ही रामचन्द्र से लेकर राणा प्रताप तक कोई भी हिन्दू महापुरुष आदिवासियों को नागरिकता के समान अधिकार देकर सहस्रों वर्ष में बराबर के भाई नहीं बना सका।

कुछ लोग कहा करते हैं कि जाति-बिरादरी का संबंध होने से मनुष्य का चरित्र बिगड़ने में देर लगती है; वह बिरादरी के डर से कोई कुकर्म नहीं करता; यदि किसी कारण वह गिर भी जाय तो बिरादरी के डर से फिर अपने को सँभाल लेता है। इस प्रकार का तर्क करने वाले लोग भूल जाते हैं कि जिस प्रकार कुछ अवस्थाओं में जाति--बिरादरी के संबंध किसी व्यक्ति को पतित होने से रोकते हैं, उसी प्रकार कई दूसरी बिरादरियाँ अपने सदस्यों को ऊपर उठने से रोकती हैं। क्या कारण है कि हिन्दुओं की कुछ श्रेणियाँ सदा से भिखमँगी बन गई हैं? उन को माँग कर खाने से ग्लानि क्यों नहीं होती? क्या कारण है कि नायक प्रभृति हिन्दुओं की कुछ जातियों में से अपनी लड़कियों से वेश्यावृत्ति कराने की लत्त नहीं छूटती? हिन्दुओं में साँसी, बाज़ीगर, डोम, गगड़े और कंजर आदि कई ऐसी मानव-श्रेणियाँ हैं जो केवल इसलिए अपनी बुरी लत्त को नहीं छोड़तीं, क्योंकि उन की चारों ओर की परिस्थिति, और उनके सगे-संबंधी सब के सब उसी पतित अवस्था में रहते हैं। उन को यह विचार तक नहीं होता कि वे नीच हैं। यदि जाति-बंधन न हो, और सब प्रकार के लोग आपस में व्याह-शादी करें तो न कोई जाति इतनी पवित्र हो जाय कि स्वयंपाकी ब्राह्मणों की भाँति लकड़ियाँ भी धोकर जलाए, और न कोई जाति इतनी गिर जाय कि भङ्गी की भाँति मल-मूत्र से

सने हाथों से ही रोटी खाती जाय। यह जाति-प्रथा सृष्टि-नियम के विरुद्ध युद्ध है। इसलिए समाज के लिए हानिकारक है। यदि यह बाँट प्रकृति को अभीष्ट होती तो भङ्गिन और ब्राह्मण के मेल से सन्तान न होती।

राष्ट्र का लक्षण विभिन्न विद्वान् विभिन्न रीतियों से करते हैं। पर यह एक अटल सत्य है कि जिस जन-समुदाय का या जिसदेश के अधिवासियों का रक्त साझा न हो, जो आपस में बेटी-व्यवहार न करते हों, वे कभी एक राष्ट्र नहीं बन सकते। भाषा-भेद और धर्म-भेद अन्त में मिट जाता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में विभिन्न भाषाएँ बोलने वाली जातियाँ जा कर बसीं और कालान्तर में एक राष्ट्र बन गई। इँग्लैण्ड में रोमन कैथोलिक और प्राटेस्टएट ईसाई धार्मिक मतभेद के रहते भी एक राष्ट्र बन गये। चीन में बौद्ध, मुसलमान और ईसाई एक राष्ट्र बन चुके हैं। इस से सिद्ध है कि भाषा और धर्म का भेद राष्ट्र-निर्माण के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकता। यह सौभाग्य हिन्दुओं को ही प्राप्त है कि उन्होंने एक ऐसी पद्धति निकाल ली है जिस से एक ही राष्ट्र बँट कर अनेक राष्ट्र बन गया है।

लोग पूञ्जीवाद की निन्दा करते हैं। पर पूञ्जीवाद जाति-भेद का सामना नहीं कर सकता। वहाँ कुछ मनुष्य धनी हैं और कुछ निर्धन। पर हो सकता है कि वही धनी किसी दिन दरिद्र हो जायँ और जो आज दरिद्र हैं वे कुछ वर्ष बाद धनी हो जायँ। पर भारत में जो पूञ्जीपति जाति है वह सदा पूञ्जीपति रहेगी। उस की पूञ्जी उसकी अपनी ही जाति में चक्कर लगाती रहेगी। वह अपने उसी जाति-गत वृत्त से बाहर नहीं जायगी। इस लिए सहस्रों वर्षों से बनिए एक जाति के रूप में धनी और कहार एक जाति के रूप में दरिद्र चले आ रहे हैं। इस जाति-प्रथा से सैनिक शक्ति भी एक ही जाति में और विद्या भी एक ही जन-समुदाय में सीमित रहेगी। इससे नीच जातियाँ

सदा नीच ही बनी रहेंगी। भङ्गी आज भी भङ्गी है, सहस्र वर्ष पहले भी भङ्गी था, एक सहस्र वर्ष बाद भी भङ्गी ही रहेगा। क्या हम हिन्दू इसी संस्कृति और सभ्यता पर गर्व करते हैं? इस प्रकार की इजारादारी प्रकृति को अभीष्ट नहीं। इस इजारादारी को पहले मुसलमान आक्रमणकारियों ने खड्ग के बल से तोड़ा और इसके बाद अँगरेज़ों ने।

हिन्दुओं में साठ लाख भिख-मँगे साधु होने का कारण भी जाति-भेद है। भारत के उत्तर प्रदेश में चातुर्वर्ण्य-पद्धति का सब से अधिक प्राबल्य है और वहीं शूद्रों, अछूतों और भिख-मँगों की संख्या सब से अधिक है। जिस समाज में मनुष्यों को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुकूल काम करने का अवसर न मिले और उनको ऐसे काम सौंपे जाएँ जिन में उन की रुचि न हो, तो समाज में दीर्घसूत्रता और उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। उसी आलस्य और उदासीनता का परिणाम हिन्दू-समाज में भिख-मँगों की इतनी अधिक संख्या है। यदि इन भिख-मँगों को उन की अपनी अपनी रुचि के अनुसार काम दिया जाता तो वे कदापि इस कुत्सित वृत्ति को ग्रहण न करते। एक ब्राह्मण का लड़का चमड़े का काम करना चाहता है। पर उस की जाति-बिरादरी इस काम को अच्छा नहीं समझती। ऐसी अवस्था में वह विवश होकर ब्राह्मण के लिए मनु का नियत किया हुआ व्यवसाय करने लगता है। पर वह काम उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के विरुद्ध है। इसलिए वह उसे छोड़कर साधु बन जाता है। जब उसे साधारण रीति से माँगने से पर्याप्त भिक्षा या दान नहीं मिलता, तो वह पाखंड रचता है। तीर्थों और मेलों में आपको बहुत से साधु ऐसे मिलेंगे जिनमें से किसी ने अपनी भुजा सुखा रखी है, किसी ने नाखून बढ़ा रखे हैं, कोई लोहे के काँटों पर लेटा है। ये सब पाखंड उनको इसी लिए करने पड़ते हैं।

सुना है माइसोर विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर डाक्टर सर ब्रजेन्द्रनाथ सील जाति से नाई हैं। यदि उन को उनका पैतृक व्यवसाय करने पर बाध्य किया जाता तो देश की प्रतिभा की कितनी बड़ी हानि होती? कलीराम नासक एक २० वर्षीय अहीर नवयुवक ने गतयुद्ध में विक्टोरिया क्रास प्राप्त किया था। क्या उसे उस का पैतृक व्यवसाय भेड़-बकरी पालने पर विवश करना हितकर होता?

कुछ लोग कहा करते हैं कि जाति-भेद न होता तो हिन्दू जाति नष्ट हो जाती। उनसे हम यही कहेंगे कि हिन्दू जाति जात-पाँत के कारण नहीं, वरन् धार्मिक सहिष्णुता, विचार-स्वातंत्र्य, श्रेष्ठ संस्कृति, उच्च तत्त्वज्ञान, और अद्वितीय ब्रह्मवाद जैसे अपने दूसरे सद्गुणों के कारण ही जीवित रही है, यद्यपि इसका यह जीवन जात-पाँत के रोग ने मृत्यु से भी बुरा बना रखा है।

सोलहवाँ परिच्छेद

भारत के राजनीतिक इतिहास पर एक दृष्टि

आज से कोई ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हमारे एक बहुत बड़े पूर्वज ने, वस्तुतः संसार के सब से बड़े महापुरुष ने, जाति-भेद की विषमताओं और हानियों के विरुद्ध अनवरत प्रचार किया था। कारण यह कि उसकी दूरदर्शी आँख ने जाति-भेद के भीतर हिन्दू-समाज के विनाश का बीज देख लिया था। सम्पूर्ण भरत-खण्ड उसका मतानुयायी बन गया था। जब तक भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा यह देश स्वतंत्र और सबल बना रहा। तब भी विदेशी आक्रमणकारियों के लिए यह देश उसी प्रकार खुला पड़ा था जैसा कि आज है। परन्तु यह इतना बलवान् था कि किसी को भी इसकी ओर आँख उठाकर देखने का साहस न होता था। कोई १२०० वर्ष तक भारत स्वाधीन एवं अखण्ड बना रहा। महाराज अशोक का साम्राज्य अराकान से हिन्दूकुश तक फैला हुआ था। इतना बड़ा प्रदेश भारत में अँगरेज़ों के अधीन भी नहीं था। भगवान् बुद्ध की शिक्षा के प्रभाव से जाति-भेद रूपी पिशाच दब गया था और फलतः हिन्दुओं में पराक्रम एवं पुरुषार्थ की ऐसी वृद्धि हुई थी कि सत्तर-सत्तर वर्ष के बुड्ढे बीहड़ बनों और दुर्गम पर्वतमालाओं को लाँघ कर तिब्बत, चीन और संसार के दूसरे देशों में धर्म-प्रचार के लिए पहुँचे थे। उस समय चीन, जापान, ब्रह्मा, लङ्का, अफ़गानिस्तान, खुतन और मध्य एशिया प्रभृति नाना देशों की समूची प्रजा भारत को अपनी पुण्य-भूमि समझ कर वन्दना करती थी। परन्तु ज्यों ही देश की शत्रु स्वार्थी पुरोहित-शाही ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध षड्यन्त्र रचकर जाति-भेद को फिर से प्रचलित किया और भारत का शासन-सूत्र पुष्यमित्र जैसी पुरोहित-शाही के हाथ की

कठपुतलियों के हाथ में आया त्यों ही देश अधःपतन की ओर अग्रसर होने लगा। भारत पर उत्तर-पश्चिम से आक्रमण होने लगे। रक्त की नदियाँ बह निकलीं। हिन्दू राष्ट्र उन नृशंस विदेशियों के प्रबल प्रहार को रोकने में असमर्थ हो गया। तब उस महान् हिन्दू-राष्ट्र की—हाँ, उस राष्ट्र की जिसकी आध्यात्मिक ज्योति अब तक भी समूचे एशिया महाद्वीप को आलोकित कर रही है और जो सुदूर नार्वे एवं मेक्सिको तक पहुँची थी—इस लज्जाजनक अधोगति का, इसकी चिरकाल-व्यापी दासता का, क्या कारण हुआ? भारत का जल-वायु वही है, वही हिमालय और वही गङ्गा है, वही हम हैं, वरन् हमारी संख्या तब से बहुत बढ़ गई है, फिर भी हम संसार में सब से अशक्त राष्ट्र हैं। अवश्य ही हमारी समाज-रचना में कोई दोष आ गया है, जिस से हम इतने अशक्त हो गए हैं। हमारे मानसिक दृष्टिकोण में अवश्य कोई भारी त्रुटि है, जिस से हम संख्या में बहुत अधिक होने पर भी मुट्ठी-भर विदेशियों से हार खाते रहे हैं।

अन्तर्मुख होकर थोड़ा भी विचार करने से हमारी दरिद्रता, हमारी राजनीतिक दासता और हमारी सामाजिक अधोगति का वास्तविक रहस्य हम पर प्रकट हो जाएगा। भारत अभी तक भी वही भारत है जो कभी समूचे संसार का गुरु था। समाज-रचना के सिवा हमारी और कोई भी चीज़ नहीं बदली। परन्तु इस समाज-व्यवस्था ने हमें घुन की तरह खा डाला है। उसने भारत की एकता के आधार को ही नष्ट कर डाला है। उसने भाई को भाई से लड़ा दिया है—भाई को भाई का द्रोही बना दिया है। हमारे जिस उच्च चरित्र की किसी समय भूमण्डल में धाक थी वह भ्रष्ट हो गया है। हमारा जीवन दुःखी हो गया है। हम कुत्ते और बिल्ली की भाँति लड़ रहे हैं।

भाई-भतीजा और चाचा-मामा आदि निकट सम्बन्धियों पर दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा मनुष्य का अधिक प्रेम होना एक स्वाभाविक बात

है। ऐसी बात सभी देशों में पाई जाती है। परन्तु इन निकट संबंधियों के बाद एक अँगरेज के लिए सभी अँगरेज बराबर होते हैं। वह उनमें से किसी का पक्षपात नहीं करता। उसका सारा प्रेम देश के अर्पित हो जाता है। इसके विपरीत, भारत के हिन्दू के प्रेम का पात्र पहले तो उसके भाई-भतीजे होते हैं। उन से जो प्रेम बचता है उसे वह अपने गोत्र और उपजाति वालों को देता है। उनके बाद उसकी जाति वालों की बारी आती है। इसके बाद जो प्रेम बचता है, वह उसके सम्प्रदाय और प्रान्त वालों के लिए होता है। यहाँ तक पहुँचते पहुँचते प्रायः उसका सारा प्रेम शेष हो जाता है। अब जो थोड़ा बहुत बचता है वही देश के भाग में आता है। हमारे देश में राष्ट्र-प्रेम की कमी का बड़ा कारण यही है। इसीलिए लोग जाति और सम्प्रदाय के लिए राष्ट्र-हित का बलिदान कर देते हैं। कोई हिन्दू राष्ट्रवादी होने की चाहे कितनी ही डींग क्यों न हाँके, यदि आप उसे थोड़ा खुरच कर देखेंगे तो वह आपको भीतर से ब्राह्मण, बनिया या कायस्थ ही मिलेगा। जिन लोगों के साथ आपका रोटी-बेटी सम्बन्ध है उनका आपको, उन दूसरे लोगों की अपेक्षा जिनके साथ आपका ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं, अधिक निकट लगना स्वाभाविक ही है। यदि जात-पाँत न हो तो सब लोग सब कहीं अपनी रुचि के अनुसार बेटी-व्यवहार कर सकें। एक हिन्दू को शेष सब देशवासी भी अपने बन्धु ही जान पड़ें और वह उनके दुःख-सुख को वैसा ही अनुभव करे जैसा कि वह आज अपनी जाति वालों के दुःख-सुख को करता है।

हम लोग अपने दोषों को आप नहीं देख सकते। हम उस पैशाचिक शक्ति के चंगुल में फँसे हुए हैं जिसने हमारे भीतर सामाजिक फूट और भेद उत्पन्न किए हैं और जो उस फूट और उन प्रभेदों को अपने नीच स्वार्थ के लिए सदा बनाए रखना चाहती है। परन्तु एक निष्पक्ष विदेशी, जिसे हमारी समाज-रचना से कुछ लेना-देना नहीं,

बता सकता है कि हमारे सामाजिक संगठन को छिन्न-भिन्न करने वाली एकमात्र चीज़ हमारी जात-पाँत है। यह एक ऐसी महाव्याधि है जिसका फलाफल इतिहास के पन्नों में पढ़ा जा सकता है। यह वह क्षयरोग है जिसने राष्ट्र को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर उसकी मिल-कर काम करने की शक्ति को नष्ट कर डाला है। वन के पशु भी शत्रु को देख कर उसका सामना करने के लिए इकट्ठे मिल जाते हैं। मेल की वह बुद्धि जो भेड़ियों और भैंसों तक में अब तक पाई जाती है, हम मनुष्य कहलाने वाले प्राणियों में लुप्त हो गई है। सोचिए तो सही, उत्तर-पश्चिम की ओर से मुट्ठी भर मुसलमान उठते हैं और अपने से कई गुना अधिक संख्या वाले हिन्दुओं को भगा देते हैं। इसका कारण क्या है ? देखिए, एक विदेशी विद्वान् क्या कहता है:—

"विभिन्न वर्णों और उपवर्णों को सदा के लिए एक दूसरे से पृथक् पृथक् रखने का परिणाम यह हुआ है कि रंग-रूप, आकार-प्रकार, और रहन-सहन की दृष्टि से हिन्दुओं का आपस में कुछ भी सादृश्य नहीं रहा। दूसरे देशों की भाँति यह धनी और निर्धन का, नगर और ग्राम का, स्वामी और सेवक का प्रश्न नहीं। इन का अन्तर तो उस से भी कहीं अधिक गहरा है। किसी एक ज़िले या नगर को ले लीजिए। वहाँ के लोगों को देखकर आपको ऐसा नहीं लगता कि वे सब एक ही राष्ट्र के हैं। वे आपको विभिन्न राष्ट्रों का—वरन् मनुष्य--जाति के विभिन्न वंशों का—समुदाय प्रतीत होंगे, जो एक दूसरे के साथ न खाते-पीते और न ब्याह–शादी करते हैं, और जिन का संसार केवल उन की अपनी ही छोटी-सी बिरादरी है। इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी, यदि हम कहें कि जाति-भेद ने भारत के अधिवासियों को २००० से भी अधिक जातियों में बाँट रखा है। इन जातियों की आपस में उस से बढ़कर संबंध नहीं जितना चिड़ियाघर के पशु-पक्षियों का आपस में होता है।

"जो देश सामाजिक रूप से इस प्रकार छोटी छोटी जातियों और उपजातियों में और राजनीतिक रूप से अनेक छोटे छोटे रजवाड़ों में बँटा हुआ था उसके भाग्य में पहले ही प्रबल आक्रमणकारी के सामने हार खा जाना स्पष्ट रूप से बदा गया था। यह आक्रमणकारी इस्लाम था। मुस्लिमों को एक बड़ा लाभ था। वे हिन्दुओं के विरुद्ध सब इकट्ठे हो जाते थे। इस्लाम हिन्दू-धर्म का बिलकुल उलट है। उसका सिद्धान्त है कि सब मोमिन (मुस्लिम) भाई हैं। इसने अछूत और नीच वर्ण की बहुत बड़ी संख्या को आकर्षित किया। इस्लाम ग्रहण कर लेने पर उन लोगों की स्थिति शासकों के बराबर हो जाती थी। भारतीय मुसलमानों की संख्या के इतना अधिक होने का कारण यही है। ये अधिकांश में उन हिन्दुओं के वंशज हैं जिन्होंने विभिन्न कालों में इस्लाम ग्रहण किया था।" (Clashing Tides of Colour, by Lothrop Stoddards. pp.285-286.

जिस राष्ट्र के भिन्न भिन्न समूहों के हितों की आपस में टक्कर हो और जो विकास की दृष्टि से विभिन्न स्तरों पर बैठे हों वहाँ लोकराज विफल हो जाता है। हमारे लोकराज की नैया इस समय जो डगमगाती दिखाई दे रही है इस का एक बड़ा कारण हमारी यही सामाजिक अवस्था है। लोकराज लोकतंत्रात्मक समाज में ही सफल हो सकता है।

अब तनिक इतिहास के पन्ने उलटिए।

सातवीं शताब्दी की बात है। सिंध-नरेश दाहर के पिता चच ने पण्डे-पुरोहितों की बहकावट में आकर सिंध के जाटों, मेड़ों और लुहाणों को शूद्र ठहरा दिया था। उन के लिए घोड़े की सवारी करने, शस्त्र-धारण करने, सुन्दर वस्त्राभूषण पहनने और सेना में भरती होने का निषेध कर दिया था। इस से देश में बड़ी द्वेषाग्नि फैल गई थी। अवसर पाकर जब दाहर के समय में अरब के अबुल क़ासिम

ने सिंध पर आक्रमण किया, तब दाहर ने प्रजा से देश-रक्षा के लिए लड़ने को कहा। परन्तु ब्राह्मणों ने कहा, हम आपकी विजय के लिए देवता से प्रार्थना कर सकते हैं, लड़ना हमारा काम नहीं। वैश्यों ने कहा, हम से रुपया-पैसा और खाद्य-सामग्री बेशक ले लीजिए; हम युद्ध करना नहीं जानते। शूद्रों ने कहा, हमें क्या, किसी का राज्य हो, हम तो सदा दास ही बने रहेंगे; हमारा काम तो शास्त्रों ने द्विजों की सेवा ही ठहराया है। बस लड़ने के लिए थोड़े से क्षत्रिय निकले। उन में भी आधी स्त्रियाँ थीं, कुछ बच्चे थे, कुछ बूढ़े थे और कुछ रोगी थे जो लड़ न सकते थे। फलतः राजा की हार हुई। वह युद्ध में मारा गया। उस की दो लड़कियाँ पकड़ी जाकर खलीफ़ा के अन्तःपुर में पहुँचाई गईं। (देखो "चच नामा" और डाक्टर ईश्वरीप्रसाद-कृत "मुस्लिम रूल इन इण्डिया।")

इस संबंध में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। अरब लोग इतने दिन तक सिंध पर चढ़ाई की तैयारी करते रहे। उन्होंने पहले अपने गुप्तचर सिंध में भेजकर यहाँ की वास्तविक दशा का पता लगा लिया और अनुकूल अवसर देखकर आक्रमण किया। इस के विपरीत दाहर ने यह जानने का कभी यत्न ही न किया कि उस के पड़ोसी देश, अरब, में क्या हो रहा है। वह यह यत्न कर भी नहीं सकता था। कारण यह कि धर्म-भ्रष्ट हो जाने के डर से कोई हिन्दू गुप्तचर बन कर अरब में जाने को तैयार न हो सकता था। जो ब्राह्मण हिन्दू कहार के हाथ का भोजन खाकर पतित हो जाता है वह मुसलमान के हाथ का या उसका छुआ खाकर हिन्दू कैसे बना रह सकता था?

२. शेरशाह सूरी के समय में हेमचन्द्र (हेमूँ बक्क़ल) नामक एक बनिए ने अपना नाम विक्रमादित्य रख कर हिन्दू-राज्य स्थापित करना चाहा। उसने दिल्ली आदि कई स्थानों पर मुग़ल सेनाओं को हराया। परन्तु राजपूतों ने उसकी सेना में भरती होने से इंकार

कर दिया। वे कहते थे कि हम क्षत्रिय होकर नीच वर्ण के वैश्य के अधीन काम नहीं कर सकते। फलतः जब हेमचन्द्र को बैरम खाँ से हार हुई तो उन्हीं राजपूतों को मुसलमानों का दास बनने में किसी प्रकार के अपमान का अनुभव न हुआ।

३. काठियावाड़—गुजरात का एक ढेढ़ (अछूत) जब तक हिन्दू रहा, वर्ण-व्यवस्था के ठेकेदारों ने उसे उठने न दिया। परन्तु ज्यों ही मुसलमान बनकर उसने अपना नाम नासिरुद्दीन खुसरो रखा त्यों ही उसने खिलजी वंश की सारी सत्ता अपने हाथों में ले ली। हिन्दू रहते हुए वह किसी क्षत्रिय स्त्री का स्पर्श तो दूर दर्शन भी न कर सकता था। मुसलमान बन कर उसने राजा कर्णराव की स्त्री देवल देवी के साथ, जिसे अलाउद्दीन ले आया था, विवाह कर लिया। उसने खिलजी राजघराने की स्त्रियाँ अपने बन्धु-बान्धवों में बाँट दीं। वह कुरान के ऊपर मूर्तियाँ रखाया करता था। वह चाहता था कि हिन्दू-राज्य की पुनः स्थापना करे। पर सवर्ण हिन्दुओं ने एक अछूत की सहायता करने से इनकार कर दिया। इसी प्रकार मलिक काफूर भी एक नीच जाति का गुजराती हिन्दू था जो मुसलमान हो गया था।

४. जब अहमद शाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया और पानीपत के मैदान में सदाशिवराव भाऊ ने उसका सामना किया, तब मराठों की वीरता और भाऊ के शौर्य को देखकर अब्दाली के छक्के छूट गए। उसने घोड़े पर से उतर कर ईश्वर से प्रार्थना की कि यदि इस बार मैं सकुशल स्वदेश को लौट सकूँ तो फिर कभी भारत की ओर मुँह न करूँगा। इसी बीच में, एक दिन रात्रि के समय, उसने मराठों की छावनी पर दृष्टि दौड़ाई तो क्या देखा कि सैकड़ों-सहस्रों स्थानों पर थोड़ी थोड़ी आगें जल रही हैं। उसने पूछा, ये क्या है? उसे बताया गया कि मराठा लोग एक दूसरे के हाथ का बना भोजन नहीं खा सकते; इसीलिए वे अपना अलग अलग भोजन बना रहे हैं।

यह सुन अब्दाली को ढाढ़स बँध गई। वह बोला, जो लोग आपस में इकट्ठा खा नहीं सकते उनको जीतना क्या कठिन है। दूसरे दिन जब बारह बजे तो मुसलमानों ने तो खुरजी में से निकाल कर, घोड़े पर बैठे-बैठे ही, रोटियाँ खा लीं। परन्तु मराठे अपना अपना खाना बनाने में लग गये। अब्दाली ने अवसर देख एक दम उन पर धावा बोल दिया। कोई मराठा नहीं रहा था, कोई दाल छौंक रहा था, कोई आटा गूँध रहा था, कोई खा रहा था। लाखों सिपाहियों में से दो सहस्र भी अब्दाली का सामना करने के लिए तैयार न हो सके। फलतः मराठा सेना में भगदड़ मच गई। भाऊ मारा गया।

भरतपुर के राजा सूरजमल ने भाऊ को परामर्श दिया था कि अब्दाली के साथ आमने-सामने होकर लड़ाई करना ठीक नहीं, उस पर छिप कर छापे मारने चाहिएँ। भाऊ ब्राह्मण था और सूरजमल जाट। भाऊ ने सूरजमल के परामर्श को ठुकराते हुए कहा था—

दोशालो फाटो भलो साबत भलो न टाट।
राजा भया तो क्या हुआ अन्त जाट का जाट॥

ठीक है, एक जाट शूद्र का दिया सत्परामर्श भी उच्च ब्राह्मण क्यों मानता?

गजनी के महमूद के समय में अपनी जात-पाँत और छूत-छात के कारण हिन्दुओं ने अपनी भूमि और स्वतन्त्रता दोनों खो दीं। राजा जयपाल का सुबुक्तगीन के साथ युद्ध हो रहा था। गजनी के जिस पहाड़ी जल-स्रोत का पानी हिन्दू सेना पीती थी तुर्कों ने उसमें मदिरा मिला दी। हिन्दुओं ने वह मुसलमानों का छुआ 'भ्रष्ट' पानी नहीं पिया और हार मान ली। महमूद के साथ खीवा का विद्वान् अलबेरूनी भी आया था। वह लिखता है—"मैंने सुना है कि युद्ध में बन्दी बने हिन्दू सिपाही जब भाग कर अपने देश तथा धर्म में वापस जाते हैं तो हिन्दू उन्हें प्रायश्चित्त कराते हैं। वे पहले उन से उपवास कराते

हैं, फिर गौ के गोबर, मूत्र तथा दूध में दबा रखते हैं। फिर उन्हें वही मल खिलातें हैं। मैंने ब्राह्मणों से पूछा कि क्या यह सत्य है ? परन्तु वे इससे इनकार करते और कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए कोई भी प्रायश्चित्त सम्भव नहीं। उसे जीवन की उसी स्थिति में लौट आने की कभी अनुमति नहीं दी जाती जिसमें वह बंदी बनाए जाने के पहले था।" कैसी हृदयहीनता थी !

अलबेरूनी फिर लिखता है—"हिन्दुओं को इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध करके फिर से ग्रहण कर लें।...मूर्खता ऐसा रोग है जिसका कोई दारू नहीं।... उनके पूर्वज ऐसे संकीर्ण विचार वाले न थे जैसी कि यह वर्तमान पीढ़ी है।" अलबेरूनी के मन में हिन्दुओं के लिए श्रद्धा तथा सहानुभूति थी। परन्तु जब वह देखता है कि उनकी अपनी जनता उनके पतन का कारण हो रही है, तब उसे ठेस लगती है।

इतिहास में ऐसे ही बीसियों और उदाहरण हैं जहाँ जाति-भेद के कारण हिन्दुओं की पराजय हुई। उन सब का उल्लेख करना यहाँ कठिन है। जिस मराठा राज्य की स्थापना महाराज शिवाजी ने इतने यत्न से की थी उसके विनाश का मुख्य कारण भी जाति-भेद ही था। पेशवा ऊँचे वर्ण के ब्राह्मण थे और होलकर, भोंसले, शिन्दे आदि सरदार शूद्र। सर यदुनाथ सरकार और लेथब्रिज आदि इतिहासकारों ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। सरकार ने अपनी पुस्तक "शिवाजी एण्ड हिज़ टाईम्स" में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ये शब्द उद्धृत किए हैं—

"शिवाजी के प्रयत्न से समूचे देश में एक अस्थायी उत्साह फैल गया और हमने समझ लिया कि देश संगठित हो गया। परन्तु समूचे समाज-रूपी शरीर में पड़ी हुई दरारें और छिद्र गुप्त रूप से कार्य

करते हैं। उनके कारण हम किसी उच्च आदर्श को चिरकाल तक बनाए नहीं रख सकते। शिवाजी ने इन दरारों को वैसी की वैसी बनाए रखना चाहा। वह मुग़लों के आक्रमण से एक ऐसे हिन्दू-समाज की रक्षा करना चाहता था जो जाति-भेद के विभाजन और अलगाव को ही जीवन का श्वास समझता है। वह विषमता से भरे हुए गङ्गा-जमुनी समाज को समूचे भारत का विजेता बनाना चाहता था। इसलिए मानो वह बालू की दीवारें तैयार कर रहा था। वह असंभव को सम्भव बनाने जा रहा था। जात-पाँत से बुरी तरह दबे हुए, भीतर से फटे हुए और बिखरे हुए हिन्दू-समाज का भारत जैसे विशाल महाद्वीप पर स्वराज्य स्थापित करना मनुष्य की शक्ति से बाहर और प्रकृति के नियम के विरुद्ध है।"—(पृष्ठ ४३०-४३१)

यह ठीक है कि १५ अगस्त १९४७ के बाद से पाकिस्तान और भारत दो अलग अलग देश बन गये हैं और अधिकांश मुसलमान भारत से निकल कर पाकिस्तान चले गए हैं, पर यह भारत की राजनीतिक समस्या का कोई हल नहीं। अब भी भारत में चार करोड़ के लगभग मुसलमान रह गए हैं। उनके अतिरिक्त ईसाई, यहूदी और पारसी आदि भी कई ऐसी जातियाँ हैं जिनका हिन्दुओं ने सामाजिक बहिष्कार कर रखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन कारणों से देश का विभाजन हुआ है वे अभी तक भी पूर्ववत् हिन्दुस्थान में वर्तमान हैं। यह कहना बड़े दुस्साहस की बात होगी कि भारत के किसी राजनीतिक दल विशेष ने अँगरेज़ों को भारत से निकाला है। यह तो अन्तःराष्ट्रीय स्थिति का परिणाम है कि भारत को स्वतन्त्र होने का अवसर मिला है। नहीं तो हम पूछते हैं कि पाकिस्तान ने कौनसा बलिदान किया था जो उसे स्वतन्त्रता मिली है? लंका, ब्रह्मदेश, इण्डोनेशिया, घाना, मलाया और फिलस्तीन की स्वतन्त्रता किस के बलिदानों का फल है? सन् १९४२ में जब अँगरेज़ों

की स्थिति बहुत ही भयावह थी, जब जर्मनी और जापान ने उनका नाक में दम कर रखा था, तब उन्होंने किसी दल के दबाव से भारत को न छोड़ा, तो विजयी होने के बाद वे कैसे किसी के डर से भारत छोड़ सकते थे ? भारत ने यदि अपने बल-बूते से स्वतंत्रता प्राप्त की होती तो १५ अगस्त ४७ के बाद देश की वह दुर्दशा न होती जो अब हुई है। धन-जन की जितनी हानि इस कथित अहिंसात्मक क्रान्ति में हुई है उतनी किसी बड़े से बड़े युद्ध में भी न हुई थी। हम देखते हैं कि जिस जाति से राजसत्ता छिनती है वह दुःखी होती है, जैसा कि सन् १८५७ में भारतवासी हुए थे, और जिस के हाथ में वह सत्ता जाती है वह जाति सुखी हो जाती है। पर हमारे यहाँ बिलकुल उलट हुआ है। हम तो दुःखी हुए हैं और अँगरेज़ सुखी। यदि हमने अपने बाहुबल से यह स्वतन्त्रता प्राप्त की होती, तो हम कभी इतने दुःखी न होते। स्वतन्त्रता रूपी अमृतफल प्राप्त करने के पहले ही हम इतने योग्य और समर्थ हो चुके होते कि हम उस अमृतफल को सरलता से पचा सकते। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले यदि देश को किसी राज्यक्रान्ति में से होकर निकलना पड़ता तो जात-पाँत, भ्रष्टाचार, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता आदि हमारे सभी दुर्गुण उस में जल कर भस्म हो जाते। इस से स्पष्ट है कि हमारी स्वतन्त्रता की नींव बहुत कच्ची है। यदि हमने अपने दोषों को दूर करके और अपने चरित्र को ऊँचा उठा कर अपने को स्वतन्त्रता का पात्र न बनाया तो यह बहुत दिन तक हमारे पास न ठहर सकेगी। हम फिर किसी की दासता में जा फँसेंगे।

सब से बड़ी चट्टान जिसके साथ टकरा कर हमारी स्वतन्त्रता रूपी नैया के चकनाचूर हो जाने का भय है वह साम्प्रदायिक समस्या है। जब तक भारत में बसने वाले विभिन्न सम्प्रदाय आपस में घुल-मिल कर एक नहीं हो जाते, तब तक यहाँ कभी सुख-शान्ति न रह सकेगी।

इन सम्प्रदायों और दलों के मिलकर रहने में उनका धर्म-विश्वास नहीं, वरन् सामाजिक बहिष्कार अर्थात् जातिभेद ही बाधक है। इस जाति-भेद के कारण मनुष्य को धर्मान्तर के साथ साथ समाजान्तर भी करना पड़ता है। मुसलमान हो जाने वाले हिन्दू को अपने भाई-बहन, और पुत्र-कलत्र को भी छोड़ देना पड़ता है। यदि जादि-भेद न हो, तो कलमा-कुरान को मानता हुआ भी वह अपने हिन्दू भाई-बन्धुओं के साथ ही रह सकता है।

हमारे राजनीतिक नेता एक बड़ी भूल करते रहे हैं। वे साम्प्रदायिक वैमनस्य का एकमात्र कारण आर्थिक समझते रहे हैं। वे यह नहीं देख सके कि यदि रोटी के लिए ही यह छीन-झपट होती, यदि धनी और निर्धन का ही यह प्रश्न होता, तो निर्धन लोग धनियों को मारते और श्रमिक लोग पूञ्जीपतियों को लूटते। पर हमने देखा क्या है ? निर्धन मुसलमान धनी मुसलमान को न मार कर निर्धन हिन्दू को ही मारता है और श्रमिक हिन्दू पूञ्जीपति हिन्दू को न लूट कर श्रमिक मुसलमान का ही घर जलाता है। आगे मैं कुछ ऐसी घटनाएँ उपस्थित करता हूँ जिन के प्रकाश में पाठक स्वयं देख सकेंगे कि सारे उपद्रव का मूल कारण क्या है।

१. कुछ वर्ष हुए मैंने स्वर्गीय श्री मुहम्मद अली जिन्ना से पूछा था कि चीन में भी मुसलमान बसते हैं और इँग्लैंड में भी लार्ड हेडले जैसे मुसलमान हैं। पर वे लोग कभी नहीं कहते कि "अँगरेज़ी हमारी भाषा नहीं, हमारी भाषा अरबी है; नेलसन और क्रामवेल हमारे महापुरुष नहीं, हमारे महापुरुष महमूद ग़ज़नवी और हारूँ रशीद हैं; हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता, हमारा इतिहास, हमारे सामाजिक और राजनीतिक हित सब ईसाई अँगरेज़ों से भिन्न हैं।" पर क्या कारण है कि भारत में ज्यों ही कोई हिन्दू इस्लाम धर्म ग्रहण करता है वह कहने लगता है कि "हिन्दी मेरी भाषा नहीं, मेरी

भाषा उर्दू-फारसी है; राम-कृष्ण मेरे महापुरुष नहीं, मेरे महापुरुष नादिरशाह और हारूँ हैं; मेरा इतिहास, संस्कृति, राजनीतिक और आर्थिक हित सब हिन्दुओं से अलग हैं ?"

इस का उत्तर देते हुए श्री जिन्ना ने कहा था कि "इसका कारण यह है कि इँग्लेण्ड में जब कोई व्यक्ति इस्लाम ग्रहण करता है तो उसका सामाजिक बहिष्कार नहीं कर दिया जाता, लोग उसे म्लेच्छ नहीं कहने लगते; पर भारत में तो जब से हम मुसलमान बने हैं, हमारा पूरा पूरा सामाजिक बहिष्कार है। इसी से हमारी भाषा, हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारा इतिहास सब कुछ हिन्दुओं से अलग हो गया है। जिस शिवाजी और प्रताप को हिन्दू अपना महापुरुष समझते हैं, हम उन को अपना शत्रु मानते हैं, और जिस औरङ्गजेब को हम अपना महापुरुष मानते हैं उसे हिन्दू अपना शत्रु समझते हैं। जो हिन्दुओं की हार है वह हमारी जीत है, जो हमारी हार है वह हिन्दुओं की जीत है। इस सामाजिक बहिष्कार से ही हमारे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक हित भी हिन्दुओं से भिन्न हो गये हैं।"

२. देहरादून की बात है। मैं एक मुसलमान हलवाई की दूकान पर गया और दो आने की मिठाई माँगी। हलवाई पाँच मिनट मुझे सिर से पाँव तक देखता रहा। फिर बोला कि मैं मुसलमान हूँ। मैंने कहा, आप मुसलमान हैं तब क्या हुआ, आप साँप तो नहीं हैं? वह बोला, नहीं, साँप तो नहीं। मैंने कहा, तो फिर मिठाई दीजिए। वह बोला—यह बात है! मैंने कहा, हाँ यही बात है। इस पर उसने अपने नौकर को वापस बुला लिया और कहा कि तू बैठ जा, मैं आप ही देता हूँ। तब वह उठा और कोई सेर भर मिठाई ला कर मुझे देने लगा। मैंने कहा, इतनी नहीं चाहिए, केवल दो आने की दीजिए। वह बोला, अजी पैसे की बात रहने दीजिए, आप मिठाई खाइए।

मैंने उसकी कृपा के लिए उस का धन्यवाद किया। वह बोला, इस विचार के क्या आप ही अकेले हिन्दू हैं या और भी हैं? मैंने कहा, और भी सैकड़ों हैं; हमारा जात-पाँत तोड़क मण्डल इस प्रकार की व्यर्थ छूत-छात को नहीं मानता। तब वह बोला कि यदि सब हिन्दू आप की बात मान लें तो फिर हिन्दू-मुसलमान का सारा झगड़ा ही समाप्त हो जाय।

३. एक समय की बात है, मैं रेल में लाहौर से अमृतसर जा रहा था। मेरे डिब्बे में एक आर्यसमाजी पण्डित, एक सिख भाई और एक मुसलमान वकील बैठे थे। वकील महाशय बड़ी क्लिष्ट उर्दू बोल रहे थे। मैंने उन से कहा कि आप आकार-प्रकार और रंग-रूप से पंजाबी लगते हैं, आप पंजाबी में बात क्यों नहीं करते? वे बोले, मैं पंजाबी नहीं, मैं अलीगढ़ी हूँ। मैंने कहा, आपका उच्चारण अलीगढ़ का नहीं, पंजाबी है। इतने में पण्डितजी बोल उठे, "उर्दू लिपि बहुत सदोष है, उस में एक ही ध्वनि 'स' के लिए 'सीन', 'सुआद' और 'से' तीन अक्षर हैं।" वकील महोदय ने उत्तर दिया—"नहीं' तीनों की ध्वनि में अन्तर है; अरब और ईरान के लोग उन का ठीक उच्चारण कर सकते हैं; हम भारतीय नहीं।" इस पर मैंने कहा, पंजाबियों को आपस में पंजाबी भाषा में ही बात-चीत करनी चाहिए। इस पर वकील महाशय बोले—"पंजाबी गँवारू भाषा है।" यह सुन सिख भाई क्रोध से बोल उठे "गँवारू तुम्हारी माँ की होगी, तुम्हारी बहन की होगी, हमारी पंजाबी तो बहुत अच्छी है।" झगड़ा बढ़ते देख, उसे शान्त कराने के लिए मैंने वकील महोदय से कहा—"छोड़िए इस भाषा के प्रश्न को। मैं आप से पूछता हूँ कि "यदि हिन्दू मुसलमानों से छूत-छात छोड़ दें और दोनों का खान-पान इकट्ठा हो जाय तो क्या आप समझते हैं कि, इस से साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ेगा या कम हो जायगा?" सच जानिए कि कहाँ तो वे अरबी-फ़ारसी

शब्द-मिश्रित क्लिष्ट उर्दू बोल रहे थे और कहाँ वे एकदम मेरे गले से लिपट गये और पंजाबी भाषा में प्रेम से बोले—"एह गल्ल हो जाय तो बाक़ी रह ही की जाय ?" अर्थात् "यदि यह बात हो जाय तो फिर बाक़ी झगड़ा ही क्या रह जाय ?" उस दिन मुझे ज्ञात हुआ कि मुसलमानों की ओर से हिन्दी के विरोध का मूल कारण क्या है।

४. सन् १९४६ की बात है, बहावल नगर कालिज के मुसलमान प्रिंसिपल महोदय को मैंने अपने यहाँ भोजन के लिए सपत्नीक निमंत्रित किया। जब वे आए तो मैंने कहा कि "देखिए, मेरी धर्म-पत्नी आप से परदा नहीं करती; आप की पत्नी तो बुरक़ा पहने हैं ? क्या आपको मुझ पर विश्वास नहीं ?" वे बोले—"अविश्वास की कोई बात नहीं; पर मेरी स्त्री को बुरके के बिना चलने का अभ्यास नहीं। ग़नीमत समझिए, वह आपके घर आ गई है; अगली बार आप की आपत्ति भी दूर हो जायगी।" जब हम सब इकट्ठे एक मेज़ पर खाने बैठे तो वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि "यह पहला अवसर है कि जब मैं किसी हिन्दू-घर में अपने को अछूत अनुभव नहीं कर रहा हूँ; नहीं तो सब कहीं हमें दूर-दूर ही किया जाता है।" वे फिर मुझ से पूछने लगे कि पाकिस्तान के विषय में आपका क्या मत है ? मैंने कहा, "सिद्धान्त रूप से मैं इसे हानिकारक समझता हूँ, क्योंकि भारत के दो टुकड़ों में खण्डित हो जाने से पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों निर्बल हो जाएँगे और कोई भी शत्रु उन को सुगमता से दबा सकेगा।" इस पर वे बोले, "तो आप चाहते हैं कि मुसलमान आपके साथ रहें ? पर हमारे लिए आपके समाज में स्थान कहाँ है ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण और पाँचवें अछूत तो आप में पहले ही हैं, हमें क्या आप छठे स्थान पर म्लेच्छ बना कर रक्खेंगे ?"

५. सन् १९४७ की बात है। एक दिन रात्रि को भोजन के

उपरान्त में लाहौर की लोअरमाल सड़क पर टहल रहा था। दो मुस्लिम युवक भी आपस में अँगरेज़ी भाषा में बातें करते हुए जा रहे थे। उन में से एव युवक नैश्नलिस्ट अर्थात् राष्ट्रवादी मुसलमान था और दूसरा मुस्लिम लीगी। नैश्नलिस्ट, लीगी से कह रहा था, "आप कैसे कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग अलग राष्ट्र हैं, क्या धर्म-भेद होने से ही राष्ट्र-भेद हो जाता है? हाँ, आप चाहें तो पंजाबी बोलने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक अलग राष्ट्र कह सकते हैं।" इस पर लीगी युवक बोला—'मैं तो हिन्दू और मुस्लिम केवल दो ही राष्ट्र कह रहा था, पर आप तो भारत को भाषा की दृष्टि से पाँच--सात राष्ट्रों में बाँट देना चाहते हैं। आप जानते नहीं, आपको किस जाति से वास्ता पड़ा है। ये वे लोग हैं जिन्होंने छः करोड़ मनुष्यों को अछूत बना रखा है। ये हम मुसलमानों को अछूतों से भी बुरा बना देंगे। देखिए, मैं आर्य नगर में रहता हूँ। मेरे सब पड़ोसी हिन्दू हैं। पर उनका मेरे साथ कोई मेल-जोल नहीं, मेरे मरने--जीने का उन को कुछ पता नहीं। क्या ऐसे लोग एक राष्ट्र कहला सकते हैं?"

लाहौर से "ज़मज़म" नामक एक पत्र निकला करता था। वह लीगी मुसलमानों का नहीं, राष्ट्रवादी मुसलमानों का पत्र था। उसने अपने फ़रवरी १९४७ के एक अंक में लिखा था कि "पाकिस्तान मुस्लिम लीग का ध्येय इसलिए बना कि हिन्दू ने मुसलमान का सामाजिक बहिष्कार किया और शताब्दियाँ बीत जाने के बाद भी उसे होश न आया कि वह क्या कर रहा है"। भारत के मुसलमानों का हिन्दुओं की अपेक्षा विदेश के मुसलमानों को अपने अधिक निकट और भाई समझने का कारण भी स्वयं हिन्दुओं का अपना व्यवहार ही है। हिन्दुओं की कड़ी जात-पाँत के कारण ही मुसलमान को हिन्दू अपना भाई नहीं लगता। यही बात पाकिस्तान के विदेश मंत्री सर

मुहम्मद ज़फ़रुल्ला ने लेक सकसेस की सुरक्षा समिति में और श्री जिन्ना के व्यक्तिगत प्रतिनिधि श्री इस्फ़हानी ने अमेरिका में कही थी।*

आप पूछेंगे कि जात-पाँत को मानते हुए जब हिन्दुओं की विभिन्न जातियाँ इकट्ठी रह सकती हैं तो मुसलमान हिन्दुओं के साथ क्यों नहीं रह सकते? इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सब कोढ़ी—जिन में से किसी की नाक में कोढ़ है, किसी के पैर में, किसी के हाथ की उँगलियों में—इकट्ठे रह सकते हैं, पर कोई नीरोग व्यक्ति उन कोढ़ियों के साथ मिलकर नहीं रह सकता, उसी प्रकार हिन्दुओं की जातियाँ—जो सब की सब जात-पाँत रूपी कोढ़ से पीड़ित हैं—इकट्ठी रह सकती हैं, पर मुसलमान, जिन में जात-पाँत का रोग नहीं, इनके साथ रहना स्वीकार नहीं कर सकते। द्विज ने शूद्र की आत्म-प्रतिष्ठा को ही कुचल डाला है। वह द्विज के हाथों होने वाली मानहानि का अनुभव करने में असमर्थ हो गया है। पर मुसलमान को यह अपमान अखरता है।

कुछ हिन्दू अपनी बड़ाई छाँटते हुए कहा करते हैं कि हम अध्यात्मवादी हैं और पश्चिमी लोग जड़वादी; भारत त्याग-भूमि है और यूरोप भोग-भूमि। पर उनका यह कथन भी सत्य नहीं। मानव-जीवन का संगठन, धन का वितरण, जीवन के लिए जिन भौतिक

* He said that the real roots of the trouble in India were in the Hindu caste system, which resulted in discrimination against Muslims in every walk of life.—U. N. Debate on Kashmir, Jan. 24, 1948.

पदार्थों की आवश्यकता होती है उनकी उन्नति के लिए जनता की संगठित तत्परता—ये सब प्रकृति की बातें हैं, आत्मा की नहीं। भौतिक पदार्थों पर ध्यान देने से ही इन बातों की उन्नति हो सकती है। यदि प्राचीन भारत धन-धान्य से भरपूर था तो निस्सन्देह प्राचीन हिन्दू भौतिक बातों पर ध्यान देते थे। यह ठीक है कि प्राचीन आर्य ऋषियों ने ब्रह्मज्ञान में बहुत उन्नति की थी। उन्होंने उपनिषदों जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ संसार को दिए। पर प्रश्न यह है कि उपनिषदों की वह शिक्षा हिन्दू जनता के दैनिक जीवन में कहाँ तक स्थान पा रही है? वे लोभ, मोह अहंकार, क्रोध आदि का कहाँ तक दमन कर सके हैं? कितने हिन्दू यश, ख्याति और स्वार्थ को छोड़कर मानव-समाज की निष्काम सेवा कर रहे हैं? पाश्चात्त्य लोगों में दूसरे देशों को जीतने, साम्राज्य स्थापित करने और धनोपार्जन की लालसा अवश्य देखी जाती है। परन्तु उनमें निष्काम सेवा करने वाले नर-नारियों की संख्या भी हिन्दुओं से बहुत अधिक है। उन में सैकड़ों-सहस्रों नर-नारी ऐसे हैं जो कोढ़ियों की सेवा में लगे हुए हैं, जो बीहड़ वनों में बसने वाले जंगली लोगों को लिखा-पढ़ा कर उत्तम नागरिक बनाने का यत्न कर रहे हैं, जो भारत के अछूतों का सच्चे अर्थ में उद्धार कर रहे हैं, जो मानव-समाज को प्लेग एवं यक्ष्मा जैसे भयंकर रोगों से मुक्ति दिलाने के लिए अपने जीवन को जोखिम में डालकर प्रयोग-शालाओं में काम कर रहे हैं। उन लोगों का-सा त्याग और निष्कामभाव आधुनिक हिन्दू-समाज में देखने को नहीं मिलता। यहाँ आज रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज और सेवा-समिति प्रभृति जो संस्थाएँ परोपकार भाव से काम करती देख पड़ती हैं उनको भी पाश्चात्त्य लोगों की प्रथाओं से ही अनुप्रेरणा मिली है।

बात वास्तव में यह है कि दोष हिन्दू धर्म में नहीं। आवश्यकता

हिन्दू-धर्म के परिष्कार की नहीं। आवश्यकता है हिन्दू समाज के सुधार एवं परिष्कार की। सामाजिक संगठन का मूलतः धर्म के साथ कोई संबंध नहीं, यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से इसका धर्म के साथ संबन्ध जोड़ दिया गया है। इसलिए धर्म से स्वतन्त्र रख कर समाज का पुनः संगठन करने की आवश्यकता हैं। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् मेक्स मुलर भट्ट का मत है कि मनुस्मृति का जाति-भेद वेद में बिलकुल नहीं। वेद में ब्राह्मण की श्रेष्ठता और शूद्र की नीचता का कोई उल्लेख नहीं। उसमें परस्पर खान-पान और व्याह-शादी का भी कोई निषेध नहीं।*

प्रोफैसर वाडिया कहते हैं कि जाति-भेद के अत्याचार के कारण उपनिषदों का उच्च ब्रह्मज्ञान और गीता की आचार-नीति केवल बातें रह गई हैं। भारत ज़ोर तो देता है समूचे जड़ और चेतन जगत् की एकता पर, किन्तु उसने पोषित किया है एक ऐसी समाज-रचना

* "If then, with all the documents before us, we ask the question, does caste, as we find it in Manu and at the present day, form part of the ancient religious teachings of the Vedas? We can answer with a decided No There is no authority whatsoever in the hymns of the Vedas for the complicated system of castes, no authority for the offensive privileges claimed by the Brahmins, no authority for the degraded position of the Shudras. There is no law to prohibit the different classes of the people from living together, from eating and drinking together, no law to prohibit the marriage of people belonging to different castes; no law to band the offspring of such marriages with an indelible stigma."--Max Muller, "Chips from a German Workshop," II (1867). pp. 307-308.

को, जिसने इस के बच्चों को शताब्दियों से अलग अलग कोठरियों में बन्द कर दिया है। इसी समाज-रचना के कारण इस को विदेशी आक्रमणकारियों से हारें खानी पड़ी हैं। इनसे यह दरिद्र और दुर्बल हो गया है। सब से बुरी बात यह है कि इस समाज-रचना ने भारत में ऐसे मनुष्य उत्पन्न कर दिए हैं जो अस्पृश्य माने जाते हैं, जिनको देखने से ही हिन्दू अपवित्र हो जाता है। इसने भारत में भाई को भाई का हत्यारा बना दिया है।*

* The high metaphysics of the Upanishadas and the ethics of the Gita have been reduced to mere words by the tyranny of caste. Emphasising the unity of the whole world, animate & inanimate, India has fostered a social system which has divided her children into watertight compartments, divided them from one another, generation to generation, for endless centuries. It has exposed her to foreign conquests, which have left her poor & weak. And worst of all, she has become the home of untouchability and unapproachability, which have branded her with curse of Cain,"— Contemporary Indian Philosophy. p. 368.

सत्रहवाँ परिच्छेद

प्रजातंत्र और जाति-भेद

क्या सिद्धान्तों की दृष्टि से और क्या प्रवृत्तियों की दृष्टि से लोक-राज्य और जाति-भेद में बड़ा भारी वैपरीत्य है। दोनों पद्धतियों के आदर्शों, अन्तरों, रीतियों और सामाजिक जीवन पर उनके प्रभावों की परीक्षा करने के पूर्व यह बताना परम आवश्यक है कि लोक-राज्य या प्रजातंत्र कहते किसे हैं। यहाँ हमारा सम्बन्ध उन आदर्शों एवं सिद्धान्तों से है जिन पर समाज की लोकतंत्र-धारणा आधारित है, उन संस्थाओं से नहीं—चाहे वे पार्लिमेण्टरी, फ़ासिस्ट, या सोवियत हों—जिनके द्वारा विभिन्न राष्ट्रों ने उन आदर्शों एवं सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने का यत्न किया है।

ऐसे समाज की भावना, जिस में सब मनुष्य बराबर और अपनी सरकार के लिए उत्तरदायी हों, सभी देशों में वर्तमान रही है। अब यह बात भली भाँति प्रतिष्ठित हो चुकी है कि एक समय स्वयं भारत में भी प्रजातंत्र और गणतंत्र परम्पराएँ बहुत प्रबल थीं। यूरोप में प्रजातंत्री संस्थाओं का विकास ग्रीक और रोमन परम्पराओं से हुआ था। परन्तु ग्रीक और रोमन दोनों अपने अपने शासक-वर्गों में ही प्रजातंत्री थे, जिस प्रकार कि भारत में ब्राह्मण थे। यूरोप में वर्ग-भेद धीरे धीरे अन्तर्धान हो गये और उनके राजनीतिक कार्यों के प्रतिनिधि-स्वरूप प्रजातंत्री समाज एवं राष्ट्र-राज्य क्रमशः प्रधान हुए। इसके विपरीत भारत में समय के साथ साथ वर्ग-भेद अधिकाधिक बड़े होते गये। यूरोप में समाज ने विशाल बन कर राज्य की समूची जनता को अपने में ले लिया। उदाहरणार्थ, इँग्लेण्ड में पहले राज-नीतिक समाज केवल उन्हीं प्रधान मुज़ारों (टेनेण्टस) का था जिन को प्रत्यक्ष रूप से राज्य से भूमि मिली हुई थी। इस समाज

को विशाल बना कर उसमें सब माफ़ीदारों को भी सम्मिलित कर दिया गया। इस संस्था के लचकदार होने से समाज प्रगतिशील बना रहा। ये माफ़ीदार और उनके साथ नगरों के अधिवासी मिलकर राष्ट्र बनाते थे। फिर कालान्तर में इस संस्था को और भी विशाल कर दिया गया, जिस से उन्नीसवीं शताब्दी में पट्टेदार, इजारेदार और अन्य भी इस के भीतर आ गये। फिर ट्रेड यूनियन और मज़दूर आन्दोलन प्रकट हुए। यह राष्ट्र के निम्नतम वर्गों की दूसरों के साथ समान अधिकार की अभिकामना थी। प्रतिनिधित्व के आधार रूप में प्राप्त वयस्कों को मत-प्रकाश की क्षमता मिल जाने से समाज का पूर्ण प्रसार हो गया।

एक बड़े विद्वान् ने प्रजातंत्र का लक्षण इस प्रकार किया है—"जनता का शासन, जनता के लिए शासन, और जनता द्वारा शासन।" 'जनता' शब्द का लक्षण इतिहास के विभिन्न कालों में मौलिक रूप से परिवर्तित होता रहा है। अब से कुछ ही काल पहले तक 'जनता' में स्त्रियाँ नहीं समझी जाती थीं। दक्षिण अफ्रीका में अब भी वहाँ के मूल अधिवासियों को 'जनता' नहीं माना जाता। सोवियत रूस में मज़दूर वर्ग के सिवा किसी दूसरे को राजनीतिक अधिकार नहीं हैं। यही दशा इटली की भी है। इन सब परस्पर विरोधों के रहते हुए भी इस से इंकार नहीं किया जा सकता कि कम से कम सिद्धान्त रूप में अब 'जनता' शब्द उन प्राप्त-वयस्क लोगों के समूचे समाज को प्रकट करता है, जो अपने और दूसरों के लिए सोच सकते हैं। इस परिभाषा का अब और अधिक विस्तार संभव नहीं।

इसलिए प्रजातंत्र का पहला स्वतःसिद्ध मत यह है कि राज्य वास्तव में सारे समाज—जनता—की संगठित शक्ति को दिखलाता है। राजनीतिक शक्ति और सामाजिक अधिकार व्यक्तियों, परिवारों या

दलों में नहीं, वरन् सामूहिक समाज में हैं। तब प्रजातंत्र का अर्थ होगा समाज की एक ऐसी अवस्था, शासन का एक ऐसा संगठन, सामाजिक सम्बन्धों की एक ऐसी पद्धति जिस में किसी भी एक व्यक्ति को अपने दूसरे मनुष्य-बंधुओं पर कोई सहजात अधिकार नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'जनता' का शासन प्रजातंत्र के लक्षण के रूप में केवल आंशिक सत्य है। प्रजातंत्र इस से कुछ अधिक वस्तु है। प्रजातंत्र इस मूलभूत एवं अतर्कनीय सिद्धान्त की अनुभूति है कि मनुष्य अपने आप में एक चरम फल है। और समाज के संगठन का मौलिक सिद्धान्त है मनुष्यों की समष्टि के रूप में, समाज में अधिक से अधिक गतिशक्ति को, प्रत्येक मनुष्य पर एक व्यक्ति के रूप में, कम से कम रुकावट के साथ, उत्पन्न करना।

यह सत्य प्रजातन्त्र का आधार है। इसे भली भाँति स्वीकार कर लेने के बाद, मानवी समता का भाव बिलकुल स्पष्ट हो जायगा। सब मनुष्य बराबर हैं, यह कोई नवीन सिद्धान्त नहीं। मानवी विचार के आरम्भ से ही यह किसी न किसी रूप में सब धर्म-मतों में प्रकट होता रहा है। महान् मनीषी रूसो का मत था कि मानवी विषमता सभ्यता का परिणाम है। समता का सिद्धान्त सामाजिक प्रगति के सभी विचारों का आधार है। इसे एक महान् सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करने का श्रेय रूसो को ही है। वास्तव में रूसो आधुनिक लोकतन्त्र का जनक है।

समता के शत्रुओं का आज भी अभाव नहीं। इसके सस्ते समालोचक कहा करते हैं कि यह सबलों के विशेषाधिकार लेने के लिए दुर्बलों की चिल्लाहट है। वैज्ञानिक बताते हैं कि समता शारीरिक रूप से असंभव है। कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजों का, देश-परम्परा का, पारिवारिक अवस्थाओं और सहज गुणों का परिणाम मात्र होता है। फिर कई दूसरे कहा करते हैं कि व्यक्तियों, राष्ट्रों

और जातियों में असमता इतनी अधिक है कि समता का विचार—यदि समता का अर्थ यह है कि मनुष्य समान योग्यता और समान चरित्र वाले हैं या उनको ऐसा होना चाहिए—स्पष्ट रूप से न्याय-विरुद्ध है। इन प्रत्यक्ष सचाइयों से किसी को इंकार नहीं। मानवी समता का विचार वंश-परम्परा, चरित्र और उन सब असंख्य हेतुओं की महत्ता से इंकार नहीं करता जो मनुष्य के जीवन को ढालते हैं। यह तो केवल इस बात पर बल देता है कि यदि मानव-समाज को अपना पूर्णतम विकास करना है, तो प्रत्येक मनुष्य का आत्मगत निर्धारित मूल्य एक-सा है अथवा एक-सा होना चाहिए। यह वर्गों, उपवर्गों और व्यवसायों की असमता को, जन्म या अपरिवर्तनीय धंधों पर आधारित असमता को, स्वीकार करने से इंकार करता है। प्रजातन्त्र जिस बात को दृढ़तापूर्वक कहता है वह अधिकारों, विशेष सुविधाओं और सुयोगों की समता है, प्रतिभा या चरित्र की समता नहीं। यह कोई नहीं कहता कि सब मनुष्य एक-से मोटे-लम्बे और एक-से बुद्धिमान होने चाहिएँ। लोकतन्त्र यह कहता है कि सब को उन्नति के समान अवसर मिलने चाहिएँ।

प्रजातन्त्री आदर्शों का महान् कूटतार्किक नेपोलियन समता का लक्षण प्रतिभा के लिए खुला अवसर या व्यवसाय बताता है। परन्तु यह केवल अर्द्ध सत्य है। प्रजातन्त्र में समता प्रतिभाशाली व्यक्तियों के लिए खुले अवसर के साथ ही समाप्त नहीं हो जाती। इस में राष्ट्रीय चरित्र पर बहुत बड़ा प्रभाव रखने वाला राजनीतिक अधिकारों और वैधानिक स्थिति का महत्वपूर्ण सिद्धान्त काम करता है। कुछ मनुष्यों के जीवन का मूल्य अधिक और कुछ का कम लगाना अनिवार्य रूप से उन लोगों को पतित कर देता है जिनके जीवन का मूल्य कम समझा जाता है। यह वह सिद्धान्त है जिस के प्रजातन्त्र स्पष्ट रूप से विरुद्ध है।

परन्तु जाति-भेद एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण को बहुत हलका और शूद्र को बहुत कठोर दण्ड देता है। उदाहरणार्थ, यदि द्विज किसी को गाली दे तो उसे केवल थोड़ा सा जुर्माना करना ही पर्याप्त है। पर यदि शूद्र द्विज को गाली दे तो उस की जीभ काट डालने का और उसके मुँह में जलती हुई दस उँगल की कील ठोंकने का दण्ड है।

कोई भी व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता और फलतः व्यवसाय पर आधारित पद-मर्यादा के विचार का प्रबल प्रतिवाद समता के सिद्धान्त से उत्पन्न होने वाला प्रजातंत्री समाज का एक दूसरा नियम है।

परन्तु जाति-भेद विभिन्न जातियों के लिए विभिन्न काम निश्चित करता है। और इन कामों के साथ ऊँच-नीच का भाव बड़ी दृढ़ता से चिपटाए हुए है। जाति-भेद में काम की बाँट नहीं, काम करने वालों की बाँट है। जो ब्राह्मण का बेटा है उसे वेद को पढ़ने और पढ़ाने का ही काम करना चाहिए, चाहे उस में इस काम की योग्यता न भी हो। भङ्गी के बेटे को मैला उठाने का ही काम करना होगा, चाहे उसमें डाक्टर बनने की ही क्षमता क्यों न हो। इस से स्पष्ट है, जाति-भेद राष्ट्र की सारी जनता को उन्नति के समान अवसर नहीं देता। इसलिए वह लोकतंत्र का उलट है।

तब, प्रजातंत्र समाज का एक ऐसा संगठन है जिस में सारी सत्ता—क्या राजनीतिक और क्या दूसरी—समाज की अखण्ड समष्टि के हाथ में रहती है। समता इसका प्रधान सिद्धान्त है। इस के प्रमुख नियमों का आधार यह निश्चित नैतिक सूत्र है कि प्रत्येक मनुष्य अपने आप में चरम फल है और राज्य स्वयं वहीं तक वांछनीय है जहाँ तक वह व्यक्ति को आत्मानुभूति का सर्वोत्तम अवसर देता है। यह जन्म या संपत्ति पर आधारित किसी भेद के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। यह सब मनुष्यों को समान अवसर देने के पक्ष में है।

इसकी प्रधान सामाजिक प्रवृत्ति समूहों की रुकावटों को तोड़कर प्रगति करते हुए उनको अधिक बड़े समाज में परिणत कर देना है।

प्रजातन्त्र पद्धति दूसरी पद्धतियों के सदृश अपनी धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी नीतियों द्वारा कार्य करती है। क्योंकि राज्य समाज की संपूर्ण समष्टि से अभिज्ञ होता है, इसलिए प्रजातन्त्र का शिक्षा-सम्बन्धी आदर्श जाति-भेद से पूर्णतः भिन्न है। प्रजातन्त्र निःशुल्क, अनिवार्य और सार्वभौमिक शिक्षा, समान सुविधाओं, सदोष व्यक्तियों के लिए विशेष प्रशिक्षण और कम समझदारों पर अधिक मनोयोग देने के पक्ष में है। यह किसी भी प्रकार की वर्ग-शिक्षा की किसी ऐसी पद्धति को स्वीकार नहीं करता, जो पद-मर्यादा पर आधारित आत्मीयता को उत्साहित करती हो। इसके विपरीत, वर्ण-भेद का आदर्श शिक्षा को विशेष वर्णों तक सीमित रखना और उनमें अपने वर्ण की श्रेष्ठता की चेतना को विकसित करना है। वर्ण-व्यवस्था में शूद्रों और स्त्रियों के लिए ज्ञान का निषेध है। यह शिक्षा का इजारा केवल एक विशेष वर्ण को ही सौंपती है।

अपनी धर्म-संबन्धी नीति में भी प्रजातन्त्र पद्धति पुरोहित के प्रभाव के विरुद्ध है, क्योंकि सत्य केवल एक ही धर्म तक सीमित नहीं, और संसार में अनेक धर्म हैं और रहेंगे। इसलिए प्रजातन्त्र की प्रवृति सदा लौकिक होने की ओर रहती है। इसके पुरोहित के प्रभाव के विरुद्ध आक्रमण को वहुधा धर्म पर आक्रमण समझ लिया जाता है। जहाँ प्रतिष्ठित धर्म दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता एवं अभिमत की स्वतन्त्रता की अनुमति नहीं देते और जहाँ पुरोहितों ने लौकिक अधिकारों को भी हथिया रक्खा है वहाँ प्रजातन्त्र को उनका विरोध करना पड़ता है। क्योंकि प्रजातन्त्र का आदर्श प्रत्येक व्यक्ति को उसके स्वतन्त्र विकास के लिए स्वतन्त्र रखना है। इसलिए व्यक्तिगत धर्म में हस्तक्षेप करना इस के आधारभूत सिद्धान्तों के

विरुद्ध है। वर्ण-भेद अपने को धर्म पर आधारित करता है और पुरोहितशाही के प्रभाव को बढ़ाने में प्रवृत्त है। इसलिए यह प्रजातन्त्र के सर्वथा विपरीत है।

प्रजातन्त्र शासन-पद्धति में मनुष्य को दूसरे मनुष्यों के मामलों का वहाँ तक ही निर्णय करने का अधिकार रहता है, जहाँ तक कि दूसरों को उसके मामलों में निर्णय करने का है। इसलिए प्रजातन्त्र में व्यक्ति में सामान्य कल्याण की अधिक बुद्धि विकसित होती है। इसे अनुभव हो जाता है कि व्यक्तिगत स्वधीनता सामाजिक संगठन द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। इस से उसके अपने सामाजिक बंधनों के सच्चे नियम सम्यक् रूप से उस की समझ में आ जाते हैं। दूसरी जगह इन बंधनों का आधार या तो धर्म-व्यवस्था अथवा भय होता है, जैसा कि जाति-भेद की दशा में, या समूहों का, जैसा कि धनिक-तंत्र शासन-पद्धति में, या राजा का, जैसा कि राजतंत्र में। इस प्रकार प्रजातंत्र शासन-पद्धति का पहला परिणाम आत्म-संमान और किसी विशेष वर्ग से भिन्न संपूर्ण जनता में उत्तरदायित्व के भाव का विकास है।

प्रजातन्त्री आदर्श का दूसरा और समान रूप से महत्त्वपूर्ण परिणाम विभिन्नता की उन बाढ़ों को तोड़ डालने की प्रबल प्रवृत्ति है जिन्होंने संकीर्ण घरेलू दीवारों से संसार को टुकड़े टुकड़े कर रखा है। वह अपने कार्य-क्षेत्र को सदा प्रसारित करता रहता है। इस से वंश और राष्ट्र के क्षुद्र विभाग मिटते जाते हैं। यूरोप में जिस अन्तःराष्ट्रीय भावना का विकास हुआ है वह प्रजातन्त्र का ही परिणाम है।

प्रजातंत्र और जाति-भेद दो परस्पर विरुद्ध चीजें हैं। प्रजातन्त्र का आधार समता पर है और जाति-भेद का जन्ममूलक ऊँच-नीच पर। प्रजातंत्र में दूसरों को अपने में मिलाने का सिद्धान्त

काम करता है और जाति-भेद में अपने से बाहर निकालने का। प्रजातन्त्र वर्ग एवं श्रेणी के बंधनों को तोड़ने का प्रयत्न करता है, पर जाति-भेद उनको स्थायी बनाता है। लोकतन्त्र सब लोगों को विद्या देता है जिससे श्रेणी और वर्ग का भाव मिट जाय। पर जाति-भेद केवल ऊँचे वर्णों के लिए ही शिक्षा पाने का अधिकार मानता है। सारांश यह कि प्रजातन्त्र और जाति-भेद सब बातों में एक दूसरे के विरुद्ध हैं। आग और पानी की भाँति इनका आपस में मिलाप असंभव है।

स्मृतियों में वर्ण-भेद का जो आदर्श उपस्थित किया गया है, उस का प्रभाव हिन्दूसमाज पर बड़ा ही गिराने और चरित्र को हीन करने वाला हुआ है। इस का सार और रूप जर्मन दार्शनिक नीत्शे के सिद्धान्त का-सा है। नीत्शे के बहुत पहले मनु ने अतिमानव (Superman) के सिद्धांत का उपदेश किया था। वर्ण-भेद का उद्देश्य स्वाधीनता, समता, और बंधुता स्थापित करना नहीं। वह ऐसा वाद है, जो सब हिन्दुओं को अतिमानव—ब्राह्मण—की पूजा का प्रत्यादेश देता है। वह कहता है कि अतिमानव और उसके वर्ण के लोग ही जीने और शासन करने के लिए उत्पन्न हुए हैं, शेष सब हिन्दू उनकी सेवा करने के लिए संसार में आए हैं, और किसी काम के लिए नहीं। उनका अपना कोई जीवन नहीं, उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास का कोई अधिकार नहीं। वर्ण-धर्म का यही उपदेश चला आ रहा है। हिन्दूदर्शन, चाहे वह वेदान्त हो या सांख्य, न्याय हो या वैशेषिक, अपने ही वृत्त के भीतर घूमता रहा है। उसने हिन्दू-समाज-रचना पर कोई प्रभाव नहीं डाला। हिन्दुओं का यह तत्वज्ञान कि सब कुछ ब्रह्म ही है," केवल बुद्धि की ही बात रहा है। उस ने कभी सामाजिक दर्शन का रूप धारण नहीं किया। हमारे दार्शनिकों ने एक हाथ में दर्शन को थामे रखा है और दूसरे में मनु को। दायें

हाथ को पता नहीं कि बायें में क्या है। हमें इस असंगति से कभी कष्ट नहीं हुआ।

अब अपनी समाज-पद्धति को लीजिए। क्या इस से भी बुरी कोई दूसरी चीज़ हो सकती है? जात-पाँत चातुर्वर्ण्य का ही भ्रष्ट रूप है। इस चातुर्वर्ण्य को हम लोग आदर्श समझते हैं। पर क्या जन्मसिद्ध भोन्दू के सिवा कोई दूसरा मनुष्य भी कभी चातुर्वर्ण्य को समाज का आदर्श रूप स्वीकार कर सकता है? व्यक्ति एवं समाज दोनों की दृष्टि से यह मूर्खता और अपराध है। एक वर्ण और केवल एक ही वर्ण को शिक्षा एवं विद्या का अधिकार है। एक वर्ण और केवल एक ही वर्ण को व्यापार का अधिकार है। एक वर्ण और केवल एक ही वर्ण को सेवा करने की आज्ञा है। व्यक्ति पर होने वाले ऐसी समाज-पद्धति के कुफल स्पष्ट हैं। ऐसा मनुष्य आपको कहाँ मिलेगा, जिसके पास आजीविका का कोई साधन न हो और वह अपनी शिक्षा को गिरा न दे? आपको ऐसा सैनिक कहाँ मिलेगा, जिसके पास न विद्या हो और न संस्कृति, फिर भी जो अपने शस्त्रों का उपयोग विनाश के लिए नहीं, रक्षा के लिए करे? आपको ऐसा वणिक् कहाँ मिलेगा, जिसके पास परम्परागत सहजज्ञान के सिवा मार्ग दिखाने वाली कोई चीज़ न हो और फिर भी जो गिर कर पशु न बन जाए? ऐसा सेवक कहाँ मिल सकता है, जिसे विद्याध्ययन का, शस्त्रधारण का, और आजीविका का कोई दूसरा साधन रखने का अधिकार नहीं, फिर भी जो वैसा मनुष्य हो, जैसा कि उसका स्रष्टा उसे बनाना चाहता था? यह चातुर्वर्ण्य-पद्धति जहाँ व्यक्ति के लिए हानिकारक है, वहाँ समाज को भी भेद्य बनाती है। समाज-रचना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि वह सुदिन के लिए ही अच्छी हो। उसे आँधी-पानी का सामना करने के योग्य भी होना चाहिए। क्या यह

वर्ण-व्यवस्था आक्रमण के तूफ़ान को रोक सकती है ? स्पष्ट है कि कदापि नहीं।

आत्मरक्षा के लिए हो या आक्रमण के लिए, समाज इस योग्य होना चाहिए कि वह अपनी सैनिक शक्तियों को युद्ध के लिए बुला सके। जिस समाज-पद्धति में जनता को विभिन्न वर्गों में बाँट कर एक दूसरे से बिलकुल पृथक् कर दिया गया हो, जिस में प्रत्येक वर्ण के काम और कर्तव्य बिलकुल पृथक् हों, जिस में एक वर्ण का काम दूसरे वर्ण के लिए वर्जित हो, वहाँ युद्ध के लिए सब की लाम-बन्दी कैसे की जा सकती है ? हिन्दुओं की ६० प्रति सैकड़ा प्रजा को—ब्राह्मण वैश्य और शूद्र को—वर्ण-व्यवस्था के अनुसार शस्त्र-धारण करने का अधिकार नहीं। फिर किसी देश की रक्षा कैसे की जा सकती है, यदि विपत्ति के समय उस की सेना बढ़ नहीं सकती ?

इस में कोई सन्देह नहीं कि भारत के राजनीतिक नेता देश में सुशासन चाहते हैं और उनका लक्ष्य लोकराज्य स्थापित करना है। परन्तु उन्होंने क्या कभी सोचा कि सच्चे अर्थ में यहाँ लोकराज्य संभव भी है या नहीं ? प्रजातन्त्र शासन-पद्धति केवल वहाँ संभव हो सकती है, जहाँ पहले समाज का रूप भी प्रजातंत्री हो। यदि सामाजिक प्रजातंत्र (Social democracy) नहीं, तो प्रजातंत्र शासन-प्रणाली का रिवाजी गठन कुछ मूल्य नहीं रखता और उस समाज के अयोग्य होता है। इन राजनीतिज्ञों ने कभी अनुभव ही नहीं किया कि प्रजातंत्र शासन-प्रणाली कोई शासन का रूप नहीं, वरन् मूलतः समाज का विकसित एवं संस्कृत रूप है। प्रजातन्त्र समाज में आवश्यक नहीं कि एकता हो, उद्देश्य का साँझापन हो, परस्पर सहानुभूति हो, या सार्वजनीन चरम फल के लिए अनुराग हो। परन्तु उस में दो बातें निस्सन्देह रहती है। पहली बात है मन का भाव, अपने दूसरे साथियों के प्रति संमान एवं समता का भाव। दूसरी बात है, कड़ी

सामाजिक रुकावटों से रहित एक सामाजिक संगठन। एक ओर तो समाज में वर्ण-व्यवस्था बना कर हिन्दूसमाज के विभिन्न समुदायों को अलग-अलग कोठरियों में बंद कर दिया गया है, शूद्रों और ब्राह्मणों का रोटी-बेटी-व्यवहार निषिद्ध ठहरा दिया गया है, जिस का परिणाम विशेषाधिकार-भोगी द्विज और अधिकार-रहित शूद्र का भेदभाव है, और दूसरी ओर लोकतंत्र शासन-प्रणाली की दुहाई दी जा रही है। ये दो बातें सर्वथा असंगत और बेमेल हैं।

हिन्दू-समाज का विवेक रुग्ण हो गया है। इस में नवशक्ति का संचार करने की आवश्यकता है—एक सच्चा सामाजिक प्रजातंत्र उत्पन्न करने की आवश्यकता है। इस के बिना निश्चित एवं स्थिर राजनीति संभव ही नहीं। झगड़ा इस बात का है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता अधिक महत्व रखती है या सुदृढ़ नैतिक तन्तु। इतिहास का महापण्डित लेकी कहता है—"राष्ट्र की शक्ति और समृद्धि की आधार-शिला शुद्ध गार्हस्थ्य-जीवन, वाणिज्य में पवित्रता, नैतिक गुण के उच्च आदर्श, लोक-संग्रह, सरल स्वभाव, साहस, निष्कपट नहीं, विवेक की विशेष निर्दोषिता एवं परिमितता में रक्खी जाती है। यह विवेक जितना बुद्धि से उतना ही चरित्र से उत्पन्न होता है। यदि आप किसी राष्ट्र के भविष्य के संबन्ध में सुविवेचित मत बनाना चाहते हैं, तो ध्यानपूर्वक देखिए कि उपर्युक्त गुण उस में बढ़ रहे हैं या घट रहे हैं। सावधानतापूर्वक देखिए कि सार्वजनिक जीवन में कौन गुण सब से अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। क्या चरित्र का महत्त्व बढ़ रहा है या घट रहा है। जिन लोगों को राष्ट्र में उच्चतम पद मिल रहे हैं, क्या वे ऐसे मनुष्य हैं, जिन की चर्चा, निजी जीवन में, क्षमताशाली विचारक सच्चे सम्मान के साथ करते हैं? क्या उनका विश्वास निष्कपट, जीवन स्थिर और पवित्रता निश्चित है? इस स्रोत को सावधानी के साथ देखने से

आप किसी भी राष्ट्र की जन्म–पत्रिका सर्वोत्तम रीति से तैयार कर सकते हैं ?"

तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारतीय जनता जाति-भेद को बनाए रखना चाहती है या लोक-राज्य स्थापित करना ? क्या वह शेष संसार के साथ चलना चाहती है या पीछे घिसटते रहना ? यह बात निश्चित है कि हम दोनों को एक साथ नहीं रख सकते। जब तक जाति-भेद का भाव प्रबल है प्रजातंत्री संस्थाएँ सामाजिक अत्याचार का ही दूसरा नाम हो जाएँगी। स्वराज्य जनता के लिए प्रभुओं का परिवर्तन मात्र ही सिद्ध होगा। अँगरेज़ों के स्थान में अब ऊँचे वर्णों के मुट्ठीभर लोग उन के शासक बन जाएँगे। उच्च वर्णों ने जो बहुत बड़े अधिकार और स्वत्व ले रखे हैं, उन की वर्तमानता में लोक-राज्य प्रायः असंभव है। जातिगत अधिकारों को स्थायी बनाने के लिए यह लोकतंत्र ऊँचे वर्णों को एक हथियार का काम देगा। यदि आप नहीं चाहते कि लोकतंत्र सामाजिक अत्याचार का रूप धारण करे, तो इस जाति–भेद को पूर्णतः नष्ट कर डालना होगा, नहीं तो प्रतिनिधि संस्थाओं का अर्थ उन लोगों के लिए केवल विशेषाधिकार हो जायगा जो वर्ण–व्यवस्था रूपी सीढ़ी के सब से ऊँचे पग पर खड़े हुए राजनीतिक उद्देश्यों के लिए जाति-भेद की महाशक्ति का उपयोग कर सकते हैं।

जाति-भेद को मानने वाले समाज में मनुष्य के चरित्र, योग्यता एवं सेवा-भाव का कुछ मूल्य नहीं। वहाँ मूल्य जाति का है। जिस प्रदेश में जाट अधिक बसते हैं वहाँ से कोई ब्राह्मण और जहाँ बनियों की संख्या अधिक है वहाँ से कोई जाट, चाहे वह कितना ही विद्वान्, त्यागी और देश-सेवक क्यों न हो, कभी किसी विधान-सभा या ज़िला-बोर्ड चुनाव में सफल नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी बिरादरी के वोट बहुत कम हैं। प्रजातंत्री देशों में बहुमत और अल्पमत राजनीतिक

विश्वासों के आधार पर होता है, और वह बदल सकता है। जो आज बहुमत है वह कल अल्पमत हो सकता है। धर्म भी बदला जा सकता है। पर जन्ममूलक जाति पर आधारित बहुमत और अल्पमत अपरिवर्तनीय है। कुम्हारों के वोट ब्राह्मणों से और बढ़ैइयों के वोट राजपूतों से बढ़ने की कभी संभावना नहीं हो सकती। हिन्दू-मुसलमान का उपद्रव, भूमिहार और कायस्थ का वैमनस्य, ब्राह्मण और अब्राह्मण का सिर-फुटौवल सब जाति-भेद के ही विभिन्न रूप हैं और लोकतंत्र के लिए हलाहल विष है।

पंचायतों, विधान सभाओं और संसद् के चुनाव में लोग योग्यता अयोग्यता का कुछ विचार न करके अपनी ही जाति के उम्मीदवार को मतदान करते हैं। मद्रास में क्योंकि ९७ प्रति सैकड़ा अब्राह्मण और ३ प्रति सैकड़ा ब्राह्मण हैं, इसलिए ब्राह्मण उम्मीदवार कहता है—"अरे, मैं ब्राह्मण कैसा ? मैंने तो जनेऊ-चोटी आदि ब्राह्मणपन के सभी चिह्नों का परित्याग कर दिया है। संयोग से ब्राह्मण माता-पिता के यहाँ मेरा जन्म हो गया है अवश्य, परन्तु जन्म लेना मेरे अपने बस की बात न थी। मैं माता-पिता बदल नहीं सकता। इसलिए मुझे वोट दो। मैं तुम्हारे जैसा ही एक मनुष्य प्राणी हूँ।" इसके विपरीत अब्राह्मण उम्मीदवार कहता है—"अरे, मैं नायकर हूँ। नायकरो, मुझे वोट दो; अरे मैं मुदलियर हूँ, मुदलियरो, मुझे मतदान करो।" इस प्रकार जब और जैसे जिस को जात रखने और छोड़ने का ढोंग करने से लाभ है वह वैसा ही करता है। पहले ब्राह्मणों को जात रखने से लाभ था। वे भूदेव बने हुए थे। ३ प्रति सैकड़ा होते हुए भी ९७ प्रति सैकड़ा सरकारी नौकरियाँ उन के पास थीं। अब ब्राह्मणेतरों को जात मानने से लाभ है। अपनी अधिक जन-संख्या के बल पर वे ब्राह्मणों को न तो विधान सभा का सदस्य बनने और न सरकारी नौकरियाँ लेने देते हैं। इस प्रकार यह छीना-झपटी चल रही है।

भारत के सोशलिस्ट अर्थात् समाजवादी लोग, यूरोप के समाज-वादियों के अनुकरण में, कहते हैं कि मनुष्य एक आर्थिक प्राणी है। उसकी चेष्टाएँ और आकांक्षाएँ आर्थिक तथ्यों से बँधी हुई हैं। उन के मत से संपत्ति ही एक मात्र शक्ति है। इसलिए वे प्रचार करते हैं कि राजनीतिक और सामाजिक सुधार भारी भ्रम मात्र हैं और किसी भी दूसरे सुधार के पूर्व साम्पत्तिक समता द्वारा आर्थिक सुधार का होना परमावश्यक है। पर प्रश्न होता है कि क्या एक मात्र आर्थिक उद्देश्य से ही मनुष्य सब काम करता है? क्या रुपया-पैसा ही एक मात्र शक्ति है? यह बात मानव-समाज का अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति मानने को तैयार नहीं।

साधु-महात्माओं का सर्वसाधारण पर जो शासन होता है, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी बहुधा शक्ति और अधिकार का कारण बन जाती है। भारत में करोड़ों लोग कंगाल साधुओं और फ़क़ीरों की आज्ञा क्यों मानते हैं? भारत के करोड़ों कंगाल अपना अँगूठी-छल्ला बेचकर भी काशी और मक्का क्यों जाते हैं? भारत में पुरोहित का शासन दण्डाधिकारी से भी बढ़कर है। भारतीय समाजवादियों की भूल इस बात में है कि वे मान लेते हैं कि क्योंकि यूरोपीय समाज की वर्तमान अवस्था में धन एक प्रधान शक्ति है, इसलिए भारत में भी वह प्रधान शक्ति है अथवा अतीत काल में भी वह प्रधान शक्ति थी। धर्म, सामाजिक स्थिति और सम्पत्ति, ये सब शक्ति एवं प्रभुता के स्रोत हैं। इनसे एक मनुष्य दूसरे की स्वतंत्रता का निग्रह करता है। इन में से एक का एक अवस्था में प्राधान्य रहता है और दूसरे का दूसरी अवस्था में। बस इतना ही अन्तर है। प्रसिद्ध समाज-शास्त्री डाक्टर मीज़* कहता है कि पश्चिमी देशों में जैसे

*The art of the power may differ widely between different groups. In the West the power is largely econo-

सारी शक्ति धन में मानी जाती है, यहाँ तक कि वहाँ धर्म भी धन से दबा हुआ है, वैसे ही भारत में प्रधान शक्ति जाति में है। यह जाति-प्रथा अधिकतर ब्राह्मणों और क्षत्रियों की सत्ता का परिणाम है। यदि यूरोप का समाज धन को और भारत का समाज जाति को महत्त्व देना छोड़ दे, तो ये दोनों चीजें समाज को पीड़ित न कर सकें।

यदि स्वाधीनता आदर्श है और यदि उस स्वाधीनता का अर्थ उस प्रभुता का नाश है जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर रखता है, तब यह स्पष्ट है कि इस बात पर आग्रह नहीं किया जा सकता कि आर्थिक सुधार ही एक मात्र ऐसा सुधार है जो करने के योग्य है। यदि किसी विशेष समय में अथवा किसी विशेष समाज में शक्ति एवं प्रभुता सामाजिक और धार्मिक हो तो सामाजिक सुधार और धार्मिक सुधार को आवश्यक सुधार मानना पड़ेगा।

यह बात स्पष्ट है कि जो आर्थिक क्रान्ति समाजवादी लोग लाना

---

mical (money is crystallised power) predominating even over the power of the Church. In India it is the power of caste, largely the product of the power of Brahmans and of the ruling classes.

In the West the social mind is obsessed by the idea of economical power and in India by the idea of caste power. The orthodox Brahmans are afraid of nothing but an attack on their position in relation to the lower castes and untouchables, on their social and religious privileges. If the social mind did not attach its seal to the economic power in Western society and to the power of caste in India, these different kinds of power could never tyranise society as they do by obstructing the freedom of the individuals.—Dharma and Society, by Gualtherus H. Mees, p. 145.

चाहते हैं, वह तब तक नहीं आ सकती जब तक कि किसी क्रान्ति के द्वारा शक्ति हाथ में न ले ली जाय। उस शक्ति को हथियाने वाला आवश्यक रूप से सर्वहारा (Proletariat) मनुष्य होगा। तब पहला प्रश्न यह होता है—क्या भारत की सर्वसाधारण जनता ऐसी क्रांति लाने के लिए इकट्ठी हो जायगी? इस काम के लिए कौन बात उसको प्रेरित करेगी? एक मात्र चीज़ जो मनुष्य को ऐसा काम करने की प्रेरणा कर सकती है, वह यह भाव है कि जिन दूसरे मनुष्यों के साथ मिलकर वह काम कर रहा है, वे समता, बंधुता और, सबसे बढ़कर, न्याय के भाव से प्रेरित होकर काम कर रहे हैं। संपत्ति के समीकरण के लिए लोग किसी क्रान्ति में तब तक सम्मिलित नहीं होंगे जब तक उन्हें यह मालूम न होगा कि क्रांति हो चुकने के बाद उनके साथ समता का व्यवहार होगा और जात-पाँत एवं सम्प्रदाय का कोई भेद-भाव नहीं रखा जायगा। कार्ल मार्क्स स्वयं कहता है कि "राजनीतिक समता सामाजिक समता की एक दशा है, इसकी गारण्टी नहीं" *यूरोप में समाज-वाद एकदम नहीं फैल सका। वहाँ इसके पहले दो क्रांतियों ने इसके लिए भूमि तैयार की थी। महात्मा मार्टिन लूथर की धार्मिक क्रांति ने पुरोहित की सत्ता को नष्ट कर दिया था। उसने सब के लिए आप बायबिल पढ़ने का अधिकार देकर धार्मिक दृष्टि से सब को बराबरी का अधिकार दिला दिया था। जैसे हमारे यहाँ स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं, वैसे वहाँ भी, लूथर से पहले, पादरी के सिवा साधारण मनुष्य को बायबिल बाँचने का अधिकार न था। लूथर ने पुरोहित की इस इजारादारी को तोड़ डाला। उसके बाद फ्राँस की राज्य क्रान्ति ने भूपति राजाओं और बड़े बड़े जागीरदारों का नाश

*Political equality is a condition, not the guarantee of social equality.

करके सर्वसाधारण जनता को स्वतंत्र कर दिया। पहले साधारण मनुष्य की अपनी कोई भूमि नहीं होती थी। वह किसी बड़े भूस्वामी के यहाँ प्रजा (टेनेण्ट) के रूप में काम करता था। उसका कोई वोट न था। भूस्वामी का मत ही उस का मत होता था। वह चाहे जब मुज़ारा को अपनी भूमि से निकाल भूखों मार सकता था। फ्राँस की राज्यक्रान्ति से सब लोग स्वतन्त्र हो गए। वे बड़े बड़े कारखानों और फेक्टरियों में जाकर काम करने लगे। वे काम करते और अपनी मज़दूरी लेकर घर आ जाते थे। इस औद्योगिक क्रान्ति से वे भूस्वामी की दासता से मुक्त हो गये। पर इस पद्धति में भी एक दोष आ गया। सहस्रों श्रमजीवी फेक्टरी में काम करते थे। उनको थोड़ी थोड़ी मज़दूरी मिलती थी, पर फेक्टरी का स्वामी उन से सहस्रों गुना अधिक लाभ उठाता था। वह करोड़पति हो जाता था, मज़दूर दरिद्र ही बने रहते थे। इस दोष को दूर करने के लिए कार्ल मार्क्स ने समाजवाद का प्रचार किया।

हमारे देश में अभी ब्राह्मण पुरोहित का इजारा वैसे का वैसा ही बना हुआ है। वह "भूदेव" अर्थात् पृथ्वी पर ईश्वर का एजेण्ट माना जाता है; जन्ममूलक ऊँच-नीच पूर्ववत् वर्तमान है; राजे-महाराजे उसी प्रकार "भूपति"—भूमि के मालिक—और "नरेश"—लोगों के स्वामी—बने बैठे हैं। इन पहली दो आवश्यक मंज़िलों को तय किए बिना ही, यूरोप के अंधे अनुकरण में, भारत का समाजवादी दल तीसरी आर्थिक क्रान्ति लाना चाहता है। उसे अपने उद्देश्य में तब तक सफलता नहीं हो सकती, जब तक वह जाति-भेद का उन्मूलन नहीं कर लेता। भारत तो अभी तक भी मूलतः ग्रामों का देश है। यहाँ बड़े बड़े कारखाने हैं ही कितने ? यहाँ पूञ्जीवाद का रोग उतना दुःखदायक नहीं जितना कि जाति-भेद का है।

कुछ सज्जन कहा करते हैं कि जन्ममूलक जाति-भेद तो मान

लिया कि बुरा है पर गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था तो अच्छी है। इस सम्बन्ध में प्रश्न यह होता है कि यदि चातुर्वर्ण्य में व्यक्ति को उसके गुणों के अनुसार ही स्थान मिलेगा, तो लोगों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लेबिल लगाने की क्या आवश्यकता है? ब्राह्मण का लेबिल लगाए बिना भी एक विद्वान् सम्मान पाता रहेगा। क्षत्रिय का नाम दिए बिना भी सिपाही का आदर होगा। यदि यूरोपीय समाज अपने विद्वानों और योद्धाओं पर स्थायी लेबिल लगाए बिना भी उनका आदर-सत्कार कर सकता है तो हिन्दुओं को ही लेबिल लगना क्यों आवश्यक जान पड़ता है? ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि के इन लेबिलों को बनाए रखने के विरुद्ध एक और भी आपत्ति है।

यह अनुभव सिद्ध बात है कि जो भावनाएँ और संस्कार किसी नाम के साथ एक बार जोड़ दिए जाते हैं, वे हमारा एक अंश ही बन जाते हैं। वे कड़े होकर ऐसी मनोवृत्ति का रूप धारण कर लेते हैं कि जिससे मुक्त होना सुशिक्षित व्यक्ति के लिए भी कठिन हो जाता है। प्राचीन कुसंस्कारों की मानसिक दासता से छुटकारा पाना उतना सुगम नहीं, जितना कि प्रायः समझा जाता है। आचरण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य हो सकता है, परन्तु यदि नाम वही रहें, तो उन नामों के साथ लगी हुई भावनाएँ, न केवल संस्कार रूप में, वरन् आचरण में भी, बनी रहती हैं।। 'ब्राह्मण' शब्द के साथ श्रेष्ठता और 'शूद्र' शब्द के साथ निकृष्टता का जो भाव लगा दिया गया है, उसका संस्कार बड़े से बड़ा हिन्दू सुधारक भी दूर नहीं कर सका। भारतीय इतिहास में सदा से यह चातुर्वर्ण्य-विभाग ब्राह्मण को पूज्य, और शूद्र को जघन्य बताता आया है। इसे सब किसी ने लोकतंत्र का विरोधी माना है। चातुर्वर्ण्य को गुण-कर्म-स्वभाव-मूलक बता कर लोगों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र के दुर्गन्धयुक्त लेबिल लगाना एक प्रकार का महा पाखण्ड-जाल फैलाना है। शूद्रों और अछूतों को चातुर्वर्ण्य शब्द से ही घृणा है। उनकी आत्मा इस के विरुद्ध विद्रोह करती है। इतना ही नहीं, सामाजिक संगठन की पद्धति के रूप में भी यह चातुर्वर्ण्य असाध्य एवं हानिकारक है और बहुत बुरी तरह से असफल हो चुका है।

विद्वद्वर डाक्टर बी. आर. अम्बेडकर अपनी पुस्तक "एनिहिलेशन ऑफ़ कास्ट" में लिखते हैं कि चातुर्वर्ण्य तभी साध्य माना जा सकता है जब पहले यह मान लिया जाय कि समूची जनता को चार निश्चित श्रेणियों में बाँटना संभव है। इस दृष्टि से चातुर्वर्ण्य-मर्यादा प्लेटो की सामाजिक व्यवस्था से बहुत मिलती है। प्लेटो मानता था कि प्रकृति से मनुष्य-समाज तीन श्रेणियों में बँटा हुआ है। उसके विरुद्ध एक बड़ी आपत्ति यह है कि वह समझता है कि व्यक्तियों का थोड़ी-सी बिलकुल अलग अलग श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है। उसे इस अपूर्व बात का अनुभव न था कि कोई भी दो व्यक्ति एक दूसरे के समान नहीं, अर्थात् किन्हीं भी दो व्यक्तियों को एक ही श्रेणी में इकट्ठा नहीं रखा जा सकता। एक व्यक्ति में जो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं, वे दूसरे व्यक्ति की प्रवृत्तियों से बहुत अधिक विभिन्न हैं। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

तमाशागाहे आलम में हर इक इन्सान यक्ता है।
तिलस्माबादे कसरत में यही वहदत कहलाती है॥

प्लेटो समझता था कि व्यक्ति की रचना में विशिष्ट नमूनों की क्षमताएँ या शक्तियाँ रहती हैं। पर आधुनिक विज्ञान ने यह दिखला दिया है कि स्पष्ट रूप से जुदी जुदी दो चार श्रेणियों में व्यक्तियों का वर्गीकरण करना मनुष्य के सम्बंध में बहुत उथले ज्ञान का प्रदर्शन करना है। व्यक्तियों को थोड़ी-सी श्रेणियों में बाँटकर उनके गुणों का उपयोग नहीं किया जा सकता। कारण यह कि व्यक्तियों के स्वभाव-गुण

सदा अस्थिर एवं परिवर्तनीय होते हैं। जिस कारण से प्लेटो की सामाजिक व्यवस्था सफल नहीं हो सकी, चातुर्वर्णीय की विफलता का भी वही कारण है, अर्थात् मनुष्यों को श्रेणियों में स्थिर कर देना संभव नहीं। जो आज पण्डित है वह कल योद्धा हो सकता है; जो आज योद्धा है वह कल सफल व्यापारी बन सकता है। बुद्धि की तीव्रता पाणिनि-सूत्रों के रटने, 'खण्डन खण्ड-खाद्य' के घोटने, कविताओं के बनाने, लेखों एवं पुस्तकों के लिखने से ही प्रमाणित नहीं होती। रणभूमि में सेनापति को, सागर-युद्ध में सागर-सेनापति को, व्यापार में सफल व्यापारी को और अपने काम को चतुराई के साथ करने में श्रमजीवियों को भी बुद्धि से काम लेना पड़ता है। अब भला यह कौन और कैसे निर्णय करे कि किस की बुद्धि कितनी सम्मान के योग्य और किस दरजे की है। बुद्धि की तौल की कौनसी तराजू है? इसी प्रकार एक सैनिक और एक मल्लाह में भी वीरता, तितिक्षा और परिश्रम की शक्ति एक समान ही वर्तमान हो सकती है। केवल गोली चलाना, क़वायद करना, और प्राणियों का वध ही वीरता के प्रधान लक्षण नहीं कहे जा सकते। विशिष्ट गुणों और धर्मों का वर्गीकरण स्वेच्छा से कर लेना और बात है, पर विज्ञान की कसौटी पर प्रमाणित करना दूसरी बात है। प्लेटो और मनु की दुहाई देने से ही वैज्ञानिक सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

इस के अतिरिक्त, चातुर्वर्ण्य को सफल बनाने के लिए एक ऐसे दण्ड-विधान का होना आवश्यक है, जो डण्डे के ज़ोर से जनता से इसका पालन करा सके। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के सामने इसको तोड़ने वालों का प्रश्न सदा ही बना रहना अनिवार्य है। जब तक लोगों के सिर पर दण्ड का भय न होगा, वे अपनी अपनी श्रेणी के भीतर नहीं रहेंगे। मनुष्य-प्रकृति के विपरीत होने के कारण, यह सारी व्यवस्था खड़ी न रह सकेगी। चातुर्वर्ण्य के अपने भीतर कोई

ऐसा सहज सद्गुण नहीं, जिस के बल-बूते पर वह स्थिर रह सके। इस को जीता रखने के लिए कानून का होना आवश्यक है। रामचन्द्र द्वारा शम्बूक शूद्र की हत्या इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि क़ानून के डण्डे के बिना वर्ण-व्यवस्था नहीं चल सकती। शम्बूक की हत्या के लिए राम को दोषी ठहराना सारी स्थिति को ठीक ठीक न समझना है। राम-राज्य का आधार चातुर्वर्ण्य था। राजा होने के कारण चातुर्वर्ण्य-मर्यादा की रक्षा करना राम के लिए अनिवार्य था। शम्बूक ने अपने वर्ण के कर्म का व्यतिक्रम किया था, इसलिए उसे मारना राम का कर्त्तव्य था। इससे स्पष्ट है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को बनाए रखने के लिए न केवल राज-दण्ड का होना, वरन प्राण-दण्ड का होना भी आवश्यक है। इसी लिए राम ने शम्बूक को मृत्यु से कम दण्ड नहीं दिया। और इसी लिए वेद-मन्त्र को सुनने या उसका उच्चारण करने वाले शूद्र के लिए कान में पिघला हुआ सीसा भर देने या उसकी जिह्वा काट डालने की आज्ञा दी गई है। वर्ण-व्यवस्था के पक्षपातियों को जनता को विश्वास दिलाना होगा कि वे मनुष्य-समाज की जाँच-पड़ताल करके उसे सफलता-पूर्वक चार वर्णों में विभक्त कर सकते हैं और इस २० वीं शताब्दी में आधुनिक समाज को मनुस्मृति की दण्डाज्ञाएँ पुनः प्रचलित करने के लिए तैयार कर सकते हैं। ऐसी अवस्थाओं में, जन्मसिद्ध गावदी के सिवा दूसरा कोई भी समझदार मनुष्य कभी यह आशा और विश्वास नहीं कर सकता कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था पुनः जीवित हो सकती है।

संसार में दूसरा कोई भी ऐसा देश नहीं, जिसने अपनी ही निर्माण की हुई बुराइयों से भारत के समान दुःख और हानि उठाई हो। दुःख झेलते हुए भी लोग सामाजिक बुराइयों को क्यों सहन करते रहे हैं? संसार के दूसरे देशों में सामाजिक क्रान्तियाँ होती रही हैं।

वैसी ही क्रान्तियाँ भारत में क्यों नहीं हुई ? इस का केवल एक ही उत्तर है। और वह यह कि इस राक्षसी वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दू-जनता को क्रान्ति करने में पूर्णरूप से असमर्थ बना दिया था। सर्वसाधारण जनता शस्त्र धारण नहीं कर सकती थी और शस्त्रों के बिना विद्रोह करना संभव न था। वे सब हलवाहे थे या उन्हें नीच ठहरा कर हलवाहा बना दिया गया था। उन्हें हल छोड़ कर तलवार पकड़ने की आज्ञा न थी। उन के पास संगीनें न थीं। इस लिए जो कोई भी चाहता था, उन की छाती पर बैठ सकता था और बैठ जाता था। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के कारण वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते थे। वे अपने उद्धार का उपाय सोच अथवा जान नहीं सकते थे। उनको नीच ठहराया गया था। उन को न छुटकारा पाने की रीति मालूम थी और न उनके पास उद्धार का कोई साधन ही था। इसलिए उन्होंने समझ लिया था कि परमेश्वर ने ही हमारे भाग्य में सदा की दासता बदी है।

चातुर्वर्ण्य से बढ़ कर दूसरा कोई अनादर और दुर्गति नहीं। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जो लोगों को निर्जीव, पंगु एवं लूला बनाकर उन्हें उपकारक कार्यों के लिए असमर्थ कर देती है—इस कथन में रत्ती भर भी अतिशयोक्ति नहीं। इतिहास में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। भारतीय इतिहास में केवल एक ही ऐसा काल-खण्ड है, जिसे स्वतंत्रता, महत्ता और कीर्ति का काल कह सकते हैं। वह मौर्य-साम्राज्य का काल है। शेष सब कालों में देश पराजय और अंधकार से ही पीड़ित रहा। परन्तु मौर्य-काल वह काल था जब कि चातुर्वर्ण्य का पूर्ण विध्वंस हो चुका था, जब कि शूद्र, जो प्रजा का अधिकांश थे, होश में आ गये थे और देश के शासक बन गये थे। पराजय और अंधकार के वे काल-खण्ड थे, जब कि चातुर्वर्ण्य खूब ज़ोरों पर था और देश की अधिकांश प्रजा शूद्र के रूप में धिक्कारी जाती थी।

स्मरण रहे कि शरीर या तो सारे का सारा स्वस्थ होता है या सारे का सारा अस्वस्थ। यह नहीं हो सकता कि आधा शरीर स्वस्थ हो और आधा अस्वस्थ। इसी प्रकार भारतीय राष्ट्र आधा स्वतंत्र और आधा परतंत्र नहीं रह सकता। कथित उच्च वर्ण के लोग नीच वर्ण के लोगों को दबाए रख कर आप भी स्वतंत्र नहीं रह सकते। मुसलमानों और हिन्दुओं का मिलाप भी तभी राष्ट्र के लिए हितकर हो सकता है जब कि दोनों सामाजिक रूप से एक हो जाएँ। नहीं तो दोनों की पीठें आपस में बाँध कर दोनों को इकट्ठा कर देने से राष्ट्र पहले से भी अधिक दुर्बल हो जायगा। इस प्रकार इकट्ठा बाँध देने से उनके हाथ-पैर दो के बजाय चार तो बेशक हो जाएँगे, पर जब उन में से एक पूर्व की ओर चलने लगेगा तो दूसरा उसे पश्चिम की ओर घसीटेगा। फलतः उनमें से कोई भी किसी ओर न बढ़ सकेगा। यह संयोग हानिकारक ही सिद्ध होगा।

अठारहवाँ परिच्छेद

कुछ शंकाएँ और उनके समाधान

जाति-भेद को मिटाने पर प्रायः लोग जो शंकाएँ किया करते हैं उन में से कुछ उनके समाधान-सहित आगे दी जाती हैं। बहुत सी शंकाओं के उत्तर विस्तार के साथ पिछले परिच्छेदों में आ भी चुके हैं।

शंका—हमारे जिन पूर्वजों ने जाति-भेद बनाया था क्या वे मूर्ख थे ?

समाधान—हमारे पूर्वज मूर्ख न थे। उन्होंने समाज के लिए जो व्यवस्था बनाई थी वह अपने समय और परिस्थिति को देख कर बनाई थी। समय और परिस्थिति के बदलने के साथ वे अपने सामाजिक नियमों को भी बदलते रहते थे। नाना स्मृतियाँ इस बात का प्रमाण हैं। यदि वे आप जीते होते तो वे आज की परिस्थिति के अनुकूल सामाजिक प्रथाओं में अवश्य परिवर्तन कर देते। जो लोग समझते हैं कि हमारे पूर्वजों में काल की गति को पहचानने और उसके अनुसार अपने आप को ढाल कर उन्नति करने की बुद्धि न थी, वे ही उन को मूर्ख समझते हैं। सभी पुरानी प्रथाएँ अच्छी और सभी नई बातें बुरी नहीं। हमें पुरानी बातों में से जो इस युग में हमारे लिए हितकर हैं रख लेनी चाहिएँ और जो हानिकारक बन गई हैं उन के साथ चिमटे रहकर मृत्यु को नहीं बुलाना चाहिए।

शंका—जाति-भेद मिट जाने से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नाम भी मिट जाएँगे। यह अच्छी बात नहीं।

समाधान—संसार की सभी भाषाओं में फेर-फार होता रहता है। पुराने शब्दों का लोप होकर नये शब्दों की सृष्टि होती रहती है।

परिवर्तन जीवन का लक्षण है। देखिए, शब्दों के अर्थ संस्कृत में भी किस प्रकार बदले हैं। "असुर" आरम्भ में बहुत अच्छा अर्थ रखता था। अर्थात् सुरा न पीने वाला, परोपकार के लिए अपने प्राण तक दे देने वाला, कुशाग्र बुद्धि मनुष्य ही असुर कहलाता था। अतएव वेद में परमेश्वर को "असुर महत्' अर्थात् बड़ा असुर कहा गया है। वही 'असुर महत्' पारसियों का "अहुर मुज़्द" बन गया है। पर आज किसी को असुर कह कर तो देखिए। इसी प्रकार "चाण्डाल" का मौलिक अर्थ था—"अत्यन्त प्रचंड तेजस्वी पुरुष" (देखिए, यजुर्वेद अध्याय ३०) और "राक्षस" शब्द का अर्थ था "रक्षा करने वाला"। पर क्या कोई आज अपने को चाण्डाल और राक्षस कहलाने को तैयार है? इस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि शब्दों के साथ ऊँच-नीच का, बड़े-छोटे का, और पवित्र-अपवित्र का भाव ऐसी बुरी तरह चिमट चुका है कि अब उसे दूर करना असंभव-सा है। इसलिए समता, बंधुता और लोकतंत्र के घातक इन शब्दों का यदि लोप हो जाय तो समाज की कोई हानि नहीं। वरन् इन चार शब्दों के नाश से ही जात-पाँत की बुराई का अन्त हो सकेगा। चातुर्वर्ण्य के मिट जाने से जातियों में ऊँच-नीच का भाव न रह जाएगा। सब काम करने वाले लोग सामाजिक रूप से बराबर होंगे। इससे उन में बेटी-व्यवहार होने लगेगा, जैसे पश्चिमी देशों में होता है।

शंका—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का १२वाँ मंत्र—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्'—कहता है कि ब्राह्मण उस (विराट पुरुष) का मुँह था, राजन्य (क्षत्रिय) दोनों भुजाएँ था, वैश्य उसकी रानें था, पैर से शूद्र का जन्म हुआ। फिर ब्राह्मण को ऊँचा और शूद्र को नीचा मानने में आपको संकोच क्यों होता है?

समाधान—इस मन्त्र का वर्ण-व्यवस्था से कोई संबंध नहीं।

यहाँ वेद न तो यह कहता है कि चार वर्ण होने ही चाहिएँ। वह न जन्म से वर्ण की व्यवस्था देता है और न कर्म से। सूक्त का पहला मन्त्र कहता है कि विराट् सहस्रशीर्षा (हजार सिर वाला), सहस्राक्ष (सहस्र नेत्र वाला) सहस्रपात् (सहस्र पैरों वाला) पुरुष है। सभी जड़-चेतन उसके अन्तर्गत हैं। केवल हिन्दुओं के ही नहीं, संसार के सभी प्राणियों के शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण उसके अंग हैं। क्या यूरोप और जापान के विद्वानों को हमारे ब्राह्मण ब्राह्मण और वहाँ के योद्धाओं को हमारे क्षत्रिय क्षत्रिय मानकर उन के साथ बेटी-व्यवहार करने को तैयार हैं ? कोई ब्राह्मण मुसलमान हो जाय तो वह विराट् शरीर में कहाँ स्थान पाता है ? म्लेच्छ, राक्षस और किन्नर आदि विराट् का कौन-सा अंग है ? सूक्त के पहले मन्त्र के अनुसार जब सभी प्राणियों के सिर विराट् के सिर हैं, सब के हाथ उस के हाथ हैं, सब के पैर उस के पैर हैं, तब ब्राह्मण विराट् के किस सिर से निकला ? यदि वह सभी मुँहों से निकला, तो उसमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चाण्डाल, म्लेच्छ, हाथी, घोड़ा, गधा, प्लेग के कीटाणु आदि सभी गुणावगुण आ गए होंगे। फिर कौन किसी से श्रेष्ठ रह जायगा ? गीता के शब्दों में—'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'—एक शरीर के अंग होने के नाते सभी मनुष्य बराबर हैं, न कोई बड़ा है और न कोई छोटा है। एक को दूसरे की आवश्यकता और समाज को सब की आवश्यकता है। नहीं तो विराट् लूला-लंगड़ा हो जायगा।

शंका—जात-पाँत प्रत्येक देश में है। इँग्लेंड में भी लार्ड और मजदूर अलग अलग हैं। लार्ड अपनी लड़की मजदूर को नहीं देता।

समाधान—पश्चिम में श्रेणियाँ हैं, जातियाँ नहीं। इन दोनों में बड़ा अन्तर है। जाति-भेद में जुदाई का भाव भरा हुआ है। वह एक जाति के दूसरी जाति से अलग रहने को एक अच्छी बात समझता

है। श्रेणी-भेद में जुदाई तो है, पर वह इस अलगाव को न तो कोई सद्गुण समझता है और न सामाजिक मेल-मिलाप का निषेध करता है। यह सच है कि श्रेणी-भेद से दल उत्पन्न हो जाते हैं, पर ये दल-जात-पाँत के दलों के समान नहीं। श्रेणी-भेद में दल केवल अ-सामाजिक (non-social) है पर जाति-भेद में वे अपने पारस्परिक संबंधों में स्पष्ट रूप से समाज-विरोधी (anti social) हैं। इस लिए जाति-भेद श्रेणी-भेद से भिन्न है। एक श्रमजीवी अपने पराक्रम से लार्ड बन सकता है, पर भारत में कोई भंगी कितना ही पराक्रम दिखलाने पर भी ब्राह्मण या राजपूत नहीं बन सकता।

शंका—भारत में जाति-भेद का मिटना संभव नहीं। यहाँ बहुतेरे सुधारक सिर पटक कर मर गये। वे जाति-भेद का कुछ न बिगाड़ सके। यह बहुत पुराना है। इसका संचार हिन्दुओं के रक्त में हो चुका है। इसे मिटाने का प्रयास व्यर्थ है।

समाधान—हताश होने की कोई बात नहीं। जब दास-प्रथा थी, और जब सती प्रथा थी, तब क्या कोई कह सकता था कि ये किसी दिन उठ जायँगी? जब मुग़ल राज्य था, तब कौन कहता था कि इस का किसी दिन अन्त हो जायगा? प्लेग, यक्ष्मा और विशूचिका आदि रोग बहुत पुरानी व्याधियाँ हैं। पर क्या इनको दूर करने का यत्न करना मनुष्य ने छोड़ दिया?

पुराने समय में और इस समय में बड़ा अन्तर है। पूर्व काल में हिन्दुओं की विभिन्न जातियों की शिक्षा-दीक्षा अलग अलग प्रकार की थी। ब्राह्मण संस्कृत पढ़ते थे, यज्ञ-यागादि की क्रिया सीखते थे, मांसाहार नहीं करते थे। इससे उनकी संस्कृति और रहन-सहन दूसरी जातियों से भिन्न था। इस विभिन्नता के कारण दूसरी जातियों के साथ उनका व्याह-शादी होना कठिन था। पर अब वह बात नहीं रही। अब राष्ट्र के सभी बच्चों को एक-सी शिक्षा मिलती है।

सब इकट्ठे पढ़ते हैं। रहन-सहन और खान-पान का ढंग सबका एकसा हो रहा है। इस से परस्पर ब्याह-शादी में उतनी अड़चन नहीं रही। पहले लड़कियों का विवाह उनके माता-पिता बहुत छोटी आयु में कर दिया करते थे। अब लड़के-लड़कियाँ कालेजों में इकट्ठी पढ़ती हैं। वहाँ उनको एक दूसरे के साथ प्रेम हो जाने के बहुत सुयोग हैं। प्रेम जाति-कुजाति नहीं देखता। फिर लड़कियाँ भी माता-पिता पर पूर्ववत् आश्रित नहीं रहीं। वे स्वयं कमा सकती हैं। इसलिए उनको अपनी पसंद का पति पाने से रोकना उतना सरल नहीं रहा।

तीसरी बात यह है कि जाति-भेद की भावना पर आधारित हिन्दुओं का फ़ौजदारी क़ानून बिलकुल निकाल डाला गया है और उसका स्थान लोकतन्त्री दण्ड-विधान ने ले लिया है। इस दण्ड-विधान का मौलिक नियम यह है कि क़ानून की दृष्टि में सब मनुष्य बराबर हैं। इस में ब्राह्मण को कम और शूद्र को अधिक दण्ड नहीं दिया जाता। जाति-भेद के कठोर चंगुल में फँसे हुए त्रिवाङ्कुर जैसे कुछ हिन्दू रजवाड़ों में ब्राह्मण को प्राण-दण्ड नहीं दिया जाता था। परन्तु भारत-संघ-सरकार का क़ानून इस विषय में ब्राह्मण और भंगी दोनों के साथ समान व्यवहार करता है। इस बात ने जाति-भेद की आधारभूत भावना को खोखला कर दिया है।

चौथी बात यह है कि अब जाति-बिरादरी की पंचायतें किसी व्यक्ति को दण्ड नहीं दे सकतीं। काशी की पण्डित-सभा भी अब किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सकती। अब सरकारी न्यायालय पंचायतों और पण्डितों की व्यवस्था नहीं मानते।

पाँचवी बात यह है कि जात-पाँत तोड़कर होने वाले विवाह अब क़ानून की दृष्टि में अवैध या नाजायज़ नहीं रहे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के आरम्भिक काल में केवल स्मृतियों के ज्ञाता ब्राह्मण ही हिन्दुओं के लिए कानून बनाया करते थे। अब धारा-सभाओं के सदस्य अधिकतर वही लोग हैं जिनकी राजनीतिक एवं

व्यवस्थापक पृष्ठभूमि निश्चित रूप से अँगरेजों या लोकतन्त्र-परम्परा से ली गई है। परिणाम यह है कि देश के प्रत्येक राज्य में ऐसे क़ानून बन रहे हैं जो जाति-भेद के मूल पर कुल्हाड़ा चलाते हैं। इसके अतिरिक्त, मद्रास और महाराष्ट्र में ब्राह्मणेतर आन्दोलन, आर्य समाज, ब्राह्म समाज, जात-पाँत तोड़क मण्डल और अस्पृश्य जातियों की राजनीतिक जाग्रति और स्कूलों में लौकिक शिक्षा ने जनता के जात-पाँत-संबंधी दृष्टिकोण को बहुत कुछ बदल डाला है। ब्राह्मणों को अब कोई अलग ऐसी शिक्षा नहीं दी जाती जो उन को दूसरों से श्रेष्ठ होने का विश्वास कराती हो। स्कूल जाने वाले दूसरी जातियों के बालकों को अब यह नहीं सिखाया जाता कि ब्राह्मण की पूजा करना प्रत्येक व्यक्ति का परम धर्म है। इसके विपरीत वर्तमान शिक्षा-पद्धति एक ओर समता पर और दूसरी ओर वर्णों एवं वर्गों की श्रेष्ठता से इंकार पर आधारित है। इस से भी जाति-भेद की भावना को धक्का पहुँच रहा है।

हिन्दू-समाज के सुधार और जाति-भेद के उच्छेद के लिए पहले भी कई आन्दोलन चले हैं। पर भाषा-भेद, दूरी, प्रथाओं की विभिन्नता और राजनीतिक एकता के अभाव ने ऐसे सब प्रयासों को एक ही स्थान तक सीमित रखा था। इन्ही कारणों से न बुद्ध, न रामानुज, न कबीर, और न नानक जाति-भेद को पूर्ण रूप से नष्ट कर सके। ब्राह्म समाज, आर्य समाज और पिछली शताब्दी के दूसरे सुधार आन्दोलन भी सारतः स्थानीय ही रहे थे। कारण यह कि राजनीतिक मशीनरी को सार्वजनिक भावना का सहयोग प्राप्त न था। परन्तु वर्तमान आन्दोलन इस प्रकार के पहले सभी प्रयासों से मूलतः भिन्न है। जात-पाँत तोड़क मण्डल ने जिस प्रकार जाति-भेद पर सीधी चोट की है, वैसी पहले किसी ने नहीं की थी। मण्डल के पहले भारत में कभी कोई ऐसी संस्था नहीं बनी जिसका एक मात्र उद्देश्य जाति-भेद को मिटाना रहा हो।
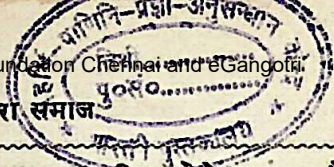
भारत में अब लोकतंत्र शासन-स्थापित होने जा रहा है। पर लोकतंत्र और जाति-भेद दो परस्पर-विरोधी चीजें हैं। ज्योंही हिन्दू-समाज अपने को प्रजातंत्र-आदर्शों के अनुकूल बनाने का यत्न करेगा, जाति-भेद का नाश अनिवार्य हो जायगा। अछूतपन को दूर करना इस समय देश का एक प्रमुख प्रश्न बन गया है। पर यह अस्पृश्यता जाति-भेद का ही एक अनिवार्य परिणाम है। वस्तुतः जाति-भेद एक क्रमबद्ध अछूतपन है। इसलिए अछूतपन तभी मिटेगा जब जाति-भेद को मिटा दिया जायगा। हिन्दू-जनता ने भलीभाँति अनुभव कर लिया है कि दो बातों में से उसे एक को चुनना है। एक ओर तो जाति-भेद है, जिसके साथ सामाजिक अत्याचार एवं राजनीतिक दुर्बलता है, और दूसरी ओर प्रजातंत्री संस्थाएँ हैं, जिनके साथ सामाजिक प्रगति और राजनीतिक शक्ति की संभावना है।

नहीं कह सकते प्रजातंत्री आदर्श हिन्दू जनता में पर्याप्त रूप में व्याप्त होने में कितना लम्बा समय लेगा। हिन्दुओं का सामाजिक समता के सिद्धांत को अपनाना एक बड़ा भारी सामाजिक विप्लव होगा। परन्तु हिन्दू-समाज में जो परिवर्तन इस समय हो रहे हैं वे इतने तीव्र और इतने मौलिक हैं कि हम उन्हें क्रान्तिकारी कह सकते हैं। प्रजातंत्र ने शूद्र और अछूत जातियों में समता के आदर्श की जाग्रति उत्पन्न कर दी है। अब वे अपने को द्विजों के जन्मसिद्ध दास मानने को तैयार नहीं। एक बात निश्चित है। हिन्दू-समाज कुठाली में पड़ा हुआ है। हो सकता है कि शताब्दियों की अन्याय्य वश्यता से कठिन बनी हुई धातु केवल असाधरण ताप से ही पिघले। परन्तु वह पिघल रही है। और जब पिघली हुई धातु पुनः जमकर ठोस बनेगी तो उस में जाति-भेद और प्रजातंत्र के बीच का परस्पर विरोध कहाँ मिलेगा? सामाजिक बहिष्कार और जन्ममूलक असमता

अन्तर्धान हो जायगी; कोई अधिक पवित्र एवं अधिक श्रेष्ठ वस्तु उसका स्थान लेगी। और उसमें भारत का भविष्य निहित रहेगा।

शंका—हिन्दू समाज में इस ससय जो चार सहस्र के लगभग जातियाँ और उपजातियाँ हैं उनको तोड़कर यदि केवल चार वर्ण बना दिए जायँ तो आप को क्या आपत्ति है?

समाधान—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र श्रेणियाँ, जिस प्रकार ब्राह्मण एक अलग और अखण्ड श्रेणी है, उस प्रकार अलग और अखंड श्रेणियाँ नहीं रह गई हैं। इस विषय में बड़ा मतभेद है कि किस जाति को इन तीनों वर्णों में से किस वर्ण में रखा जाय। यदि इसका शांतिपूर्वक निर्णय हो भी जाय तो भी अछूतों और आदि वासियों की समस्या बराबर बनी ही रहेगी। इनको जिस भी जाति या वर्ण में मिलाने का यत्न किया जायगा उस जाति और वर्ण के लोग बहुत चिल्लायँगे। यदि किसी व्यक्ति का असली व्यवसाय ही उसके वर्ण की कसौटी मानी जायगी तो इस चातुर्वर्ण्य की बहुत पुरानी कल्पना में अगणित नवीन व्यवसाय कहाँ रखे जायंगे? यदि किसी प्रकार इस काम में सफलता हो भी जाय तो प्रश्न यह रह जाता है कि क्या इन श्रेणियों के परस्पर रोटी-बेटी-व्यवहार पर प्रतिबंध रहेगा? हिन्दू-समाज को पुनः चार वर्णों में बाँटना हमें तो असंभव जान पड़ता है। यदि यह संभव भी हो जाय तो इस से हमारी अतीत की बपौती की याद दिलाने के सिवा और कोई लाभ न होगा।

छोटी छोटी उपजातियों को तोड़कर धीरे धीरे एक बड़ा वर्ण बना देने से भी असली समस्या हल न होगी। बंबई में इस उपाय का बीस पचीस वर्ष तक प्रयोग करके देखा गया है। उसके परिणाम बड़े ही घातक हुए हैं। उपजातियाँ जो इकट्ठी मिल कर एक बड़ा संगठन बनाती हैं उनमें जुदाई का भीतरी भाव बड़े प्रबल रूप में बना रहता है। यह नवीन संगठन दूसरी जातियों के विरुद्ध, विशेषतः

उनके जिनको कि प्रायः उनकी जाति से ऊँचा या नीचा समझा जाता है, बात बात पर झगड़ा करने वाला बना देता है। इस से जाति-भाव अधिक प्रचण्ड और दृढ़ हो जाता है। जो जातियाँ राजनीतिक उद्देश्य के लिए इकट्ठी कर दी गई हैं उनमें भी जब आपस में अधिकारों की बाँट का प्रश्न आता है तो वे भी एक दूसरे से अलग होने से नहीं झिझकतीं। उनका राजनीतिक लाभ का साझा उनको एक होने में सहायता नहीं देता।

जात-पाँत का प्रश्न अधिकतर अपनी जाति-बिरादरी की भक्ति से उत्पन्न होता है। यह जाति-बिरादरी की भक्ति ही है जो दूसरी जाति-बिरादरियों से घृणा उत्पन्न करती है और राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए प्रतिकूल वातावरण बनाती है। इस जाति-भक्ति के विरुद्ध ही हमें युद्ध करना है, इसे ही जड़ से उखाड़ना है। दूसरे, यदि सहस्रों उपजातियों को चार बड़े समूहों में इकट्ठा कर देने में किसी प्रकार सफलता भी हो जाए तो जाति-भक्ति को कम करने का प्रश्न और भी कठिन हो जायगा। इससे ये समूह या वर्ण एक दूसरे को हानि पहुँचाकर अपने स्वार्थ को आगे बढ़ायँगे। इसका एक मात्र परिणाम बड़ी भयंकर मुठभेड़ होगा। जो लोग ब्राह्मण सभा और कायस्थ पाठशाला बनाते हैं, जो भूमिहार और जाट लड़कों के लिए छात्रवृत्तियाँ रखते हैं वे जाति-बिरादरी की भक्ति बढ़ाकर राष्ट्रोन्नति को रोकते हैं।

प्रत्येक सुशिक्षित हिन्दू और देशहितैषी नेता का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी भी जाति-बिरादरी की सभा में भाग न ले, चाहे वह सभा उसके सदस्यों की थोड़ी बहुत भलाई भी क्यों न कर रही हो। कारण यह कि उसे स्मरण रखना चाहिए कि किसी आधारभूत बुराई से होने वाली भलाई इतनी अधिक विषाक्त होती है कि उसमें भलाई की नैतिक विशेषता का अभाव हो जाता है। इन बिरादरी की

सभाओं में प्रायः देखा जाता है कि लोग अपनी जाति की चर्चा तो बड़े गर्व से करते हैं और दूसरे की जाति को बड़े बुरे शब्दों में याद करते हैं।

शंका—जाति-भेद को शीघ्र से शीघ्र मिटाने के लिए क्या क्या उपाय होने चाहिएँ ?

समाधान—जाति-भेद को मिटाने के लिए निम्नलिखित उपाय उपयोगी होंगे—

(१) जात-पाँत तोड़कर विवाह करने वाले जोड़ों और उन की सन्तान को सरकारी नौकरियों में प्राथमिकता दी जाए।

(२) स्कूलों और कालेजों की पाठ्य-पुस्तकों में जात-पाँत के विरुद्ध पाठ दिये जावें।

(३) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन जन्मना ऊँच-नीच मूलक चारों नामों को धरा-धाम से मिटा दिया जाए। लोग अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, सवर्ण, अछूत समझना छोड़कर केवल भारतीय समझने लगें। नामों के साथ शर्मा, वर्मा, गुप्त, ठाकुर, चौधुरी, लाला, पण्डित आदि जातिसूचक शब्दों का प्रयोग बन्द कर दिया जाय। और जाट कालेज, कायस्थ पाठशाला, कान्यकुब्ज विद्यालय प्रभृति जात-पाँत की संस्थाओं को न तो सरकारी अनुदान दिया जाए और न इन को शिक्षा-विभाग मान्यता ही दे।

(४) भारत सरकार और राज्य सरकारें जात-पाँत के विरुद्ध छोटी छोटी पुस्तिकाएँ विभिन्न भाषाओं में लिखवा और छपवा कर बहुत बड़ी संख्या में मुफ्त बाँटें।

(५) कुटीर-उद्योग को बढ़ावा देने से जाति-प्रथा के पूर्ववत् बने रहने का डर है। इस के बजाय देश का औद्योगीकरण होना चाहिए। जमशेदपुर और कानपुर जैसे औद्योगिक नगरों की मिलों में सभी जातियों के हिन्दू—चमार, भंगी और ब्राह्मण—कंधे से कंधा भिड़ा

कर काम करते हैं। वे एक दूसरे की जाति जानते हुए भी कारखाने में मिलने वाले अच्छे पैसों के लालच से अपने जाति के परम्परागत पक्षपातों को छोड़ देते हैं। गाँवों में चमारों, जुलाहों, कुम्हारों और भंगियों को कुटीर उद्योग के नाम पर अपने अपने जातिगत व्यवसाय करने के लिए प्रोत्साहित करना एक प्रकार से जाति-भेद को प्रोत्साहित करना है। समाजवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स† ने भी पैतृक व्यवसाय करने की इस प्रथा को और औद्योगीकरण के बजाय देश को कृषि-प्रधान बनाए रखने को भारत की प्रगति में भारी बाधा बताया है। इसलिए जातिभेद को मिटाने के लिए देश का औद्योगीकरण किया जाए।

(६) आकाशवाणी और जन-सम्पर्क विभाग द्वारा जात-पाँत के विरुद्ध प्रचार किया जाय।

(७) अदालती काग़जों और स्कूल तथा कालेजों के रजिस्ट्रों से जात का खाना निकाल दिया जाय। और किसी से उस की जात पूछना, उसकी आय पूछने के समान ही, अशिष्टता समझी जाय।

(८) कथित उच्च वर्णों की बहुत सी युवतियाँ और युवक ऐसे निकलें जो राष्ट्र-सेवा के भाव से परिगणित पिछड़ी जातियों के लड़के-लड़कियों के साथ विवाह करें।

(९) परिगणित और पिछड़ी जातियों को आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से ऊँचा उठाने के लिए सरकार उनको विशेष सहायता और सुविधा प्रदान करे जिससे उनके और कथित ऊँची जातियों के बीच की विषमता दूर होकर आपस में ब्याह-शादी का होना आसान हो जाए।

---

†"Modern industry will dissolve the hereditory divisions of labour, upon which rest the Indian castes, those decisive impediments to Indian progress and power."

—Karl Marx.

(१०) स्थान-स्थान पर ऐसे पारिवारिक सम्मेलन किये जाएँ, जिन में जात-पाँत तोड़क नर-नारी और जात-पाँत को तोड़कर विवाह करने के इच्छुक युवक और युवतियाँ इकट्ठे हुआ करें। इससे एक दूसरे को देख कर उन का जात-पाँत तोड़ने का उत्साह बढ़ेगा और लोगों पर जात-पाँत तोड़ने का जो भय बैठा हुआ है, वह दूर हो जाएगा।

जात-पाँत तोड़कर विवाह करना जात-पाँत को मिटाने का एक विधायक उपाय है। परन्तु यह उपाय चल तब ही सकता है जब अपनी जाति के भीतर—सवर्ण—विवाह निषिद्ध ठहरा दिया जाय। आज जो चार वर्णों के बजाय चार सहस्र से भी अधिक जातियाँ मिलती हैं, इन का कारण भी एक वर्ण के मनुष्य का दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह का होना है, क्योंकि मनु ऐसे असवर्ण विवाहों की सन्तान को मूल जाति से अलग कर उन की एक जुदा जाति बना देता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अपनी जाति या वर्ण के भीतर होने वाले सभी विवाह अवैध और दण्डनीय ठहरा दिये जाएँ।

शंका—मनुष्य अपने पूर्वजन्म के अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार ब्राह्मण या भंगी होता है। ऐसी दशा में जाति-भेद को मिटाना कैसे उचित हो सकता है।

समाधान—कर्मवाद और पूर्वजन्म का सिद्धान्त केवल इतना ही है कि जीव को उसके पाप-पुण्य के अनुसार अगले जन्म में अच्छी या बुरी परिस्थिति मिलती है। जिसने अच्छे कर्म किए हैं उसका जन्म ऐसे स्थान और ऐसे परिवार में होगा जहाँ उसे उन्नति के सभी सुभीते होंगे। और जिसने पाप कर्म किए हैं उसे ऐसे लोगों में जन्म मिलेगा जहाँ चारों ओर मूर्खता और दरिद्रता होगी। पर कर्मवाद यह नहीं कहता कि जिसका जन्म दरिद्र पिता के घर में हुआ है उसे धन कमाने से और जिसका जन्म अपढ़ पिता के यहाँ हुआ है उसे विद्वान् बनने से रोक दिया जाए। भङ्गी और ब्राह्मण का

विभाजन हिन्दुओं की अपनी कल्पना है। संसार में और भी अनेक लोग बसते हैं। वहाँ इस प्रकार का कोई जाति-भेद नहीं। क्या परमेश्वर ने भारत को ही समूचे संसार के जीवों का काला पानी बना रखा है? ईश्वर ने जिस को जैसा उत्पन्न कर दिया उसे वैसा ही रहना चाहिए, अपनी दशा को सुधारना नहीं चाहिए, ऐसा मानने वालों से पूछना पड़ेगा कि आप नंगे उत्पन्न होते हैं, तो फिर गरमी-सरदी से बचने के लिए कपड़े क्यों पहनते हैं? आप अपढ़ उत्पन्न होते हैं, तो फिर शिक्षा क्यों प्राप्त करते हैं? आप गुलाम उत्पन्न होते हैं, तो फिर स्वाधीनता लाभ करने के लिए यत्न क्यों करते हैं? आप रुग्ण होते हैं तो फिर नीरोग होने के लिए चिकित्सा क्यों कराते हैं? बात यह है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार जब एक बार उसे अच्छा या बुरा जन्म मिल गया तो फिर उसकी उन्नति को, जाति-भेद के बन्धन लगाकर, रोकने की कुचेष्टा करना ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन और पाप है। ईश्वर रूपी राजा के क़ानून को अपने हाथ में लेने का अधिकार किसी को नहीं।

शंका—हिन्दुओं में भाइओं के बच्चे आपस में विवाह नहीं करते। क्या इससे उनका आपस में प्रेम नहीं रहता? वैष्णवों में कई स्त्रियाँ इतनी कट्टर होती हैं कि वे परिवार के दूसरे लोगों के साथ नहीं खातीं और न सामान्य घड़े से पानी ही पीती हैं। तो क्या उन में आपस में प्रेम नहीं होता? विभिन्न जातियों में रोटी-बेटी-व्यवहार की आज्ञा न देने से ही जाति-भेद को बुरा नहीं कहा जा सकता।

समाधान—आप की बात से यह सिद्ध नहीं होता कि भ्रातृ-भाव स्थापित करने के लिए आपस में खान-पान और ब्याह-शादी आवश्यक नहीं। इस से केवल इतना सिद्ध होता है कि जहाँ भाईपन को बनाए

रखने के लिए दूसरे साधन--जैसे कि पारिवारिक संबंध का अनुभव वर्तमान हों, वहाँ आपस में खान-पान और व्याह-शादी आवश्यक नहीं। किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जहाँ—जैसे कि जात-पाँत की दशा में—लोगों को जोड़ने वाली शक्तियाँ मौजूद नहीं वहाँ आपस में खान-पान और ब्याह-शादी बहुत आवश्यक होता है। परिवार और जाति के बीच कोई सादृश्य नहीं। विभिन्न जातियों का आपस में खान-पान और ब्याह-शादी इसलिए आवश्यक है क्योंकि उनको जोड़ने वाला और कोई दूसरा तन्तु नहीं होता। परन्तु परिवार की दशा में ऐसी शक्तियाँ वर्तमान होती हैं जो परिवार के सब लोगों को मिलाए रखती हैं।

शंका—जाति-भेद संयम का दूसरा नाम है। जाति-भेद भोग-विलास का नियंत्रण करता है। जात-पाँत किसी व्यक्ति को मज़े लूटने के लिए जाति की सीमा से बाहर जाने की आज्ञा नहीं देती। विभिन्न जातयों के बीच रोटी-बेटी-व्यवहार के निषेध का यही उद्देश्य है।

समाधान—इस में सन्देह है कि जाति-भेद मनुष्य को दूसरी जाति की स्त्री के साथ काम-वासना की तृप्ति से रोकता है। हाँ, इस में सन्देह नहीं कि जाति-भेद दूसरी जाति के मनुष्य के घर में बने भोजन के लिए ललचाने का मनुष्य के लिए निषेध करता है। यदि प्रतिबंधों के अनुभव का ध्यान रखे बिना प्रतिबन्धों पर आचरण करने का नाम ही सदाचार है तो जाति-भेद को एक आचार-पद्धति माना जा सकता है। पर आप यह नहीं देखते कि जाति-भेद में जो दूसरे ढंग से खान-पान और काम-वासना की तृप्ति की खुली छुट्टी मिली हुई है उसकी तुलना में यह सरल प्रतिबंध कुछ चीज़ नहीं। जाति-भेद अपनी जाति की सैकड़ों रण्डियाँ रखने पर कोई रोक नहीं लगाता। न ही यह अपनी जाति वालों के यहाँ बहुत खाने से रोकता है।

शंका—जात-पाँत को मिटा कर यूरोपीय समाज-पद्धति को अपनाने का यह अर्थ है कि हिन्दू अवश्य ही पैतृक व्यवसाय के नियम को छोड़ दें। यह नियम ही जात-पाँत की आत्मा है। वंश-परम्परा का नियम एक सनातन नियम है। उसे बदलना दूसरे शब्दों में गड़बड़ उत्पन्न करना है। यदि मैं एक ब्राह्मण को आयु पर्यन्त ब्राह्मण नहीं कह सकता तो उस ब्राह्मण से मुझे कोई लाभ नहीं। यदि प्रति दिन ब्राह्मण बदल कर शूद्र और शूद्र बदल कर ब्राह्मण बनते रहेंगे तो बड़ी अव्यवस्था फैलेगी।

समाधान—हो सकता है कि पैतृक व्यवसाय अच्छा हो और यह भी हो सकता है कि वह अच्छा न हो। हो सकता है कि कुछ लोगों के यह अनुकूल हो और कुछ के प्रतिकूल। पर इसे महत्त्व देकर एक राज-नियम क्यों बनाया जाय? इसे अनिवार्य क्यों ठहराया जाय? यूरोप में यह न तो राज-नियम है और न अनिवार्य ही। वहाँ लोगों को उन की इच्छा पर छोड़ दिया जाता है। उन में बहुत से अपना पैतृक व्यवसाय करते हैं और कुछ नहीं भी करते। कौन कह सकता है कि पैतृक व्यवसाय करने के परिणाम अपनी पसंद का व्यवसाय करने से अच्छे होते हैं? यदि भारत के लोगों की आर्थिक दशा की तुलना यूरोप के लोगों की आर्थिक दशा से की जाए तो बहुत थोड़े बुद्धिवादी लोग ऐसे निकलेंगे जो पैतृक व्यवसाय करने पर बाध्य करने वाले जाति-भेद का समर्थन करेंगे। व्यवसाय के साथ नाम बदलते रहने की कठिनाई एक बनावटी चीज है। यह कठिनाई इसलिए है क्योंकि यह मान लिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति पर उसके व्यवसाय के अनुसार लेबिल लगाने की आवश्यकता है। जात-पाँत के लेबिल नितान्त अनावश्यक हैं। इन्हें बिना

किसी कष्ट के मिटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, आज भारत में क्या हो रहा है? मनुष्य का व्यवसाय और उसकी जाति का लेविल दोनों आपस में अनुरूपता नहीं रखते। ब्राह्मण जूते बेचता है। पर उसके चमार न कहलाने पर किसी को भी आपत्ति नहीं होती। सारा तर्क भ्रान्ति-मूलक है। समाज के लिये काम की बात यह नहीं कि किसी व्यक्ति पर जाति का कौन लेबिल है, वरन् यह बात कि वह व्यक्ति क्या सेवा करता है।

शंका—यदि जाति-भेद अछूतों और स्पृश्य शूद्रों के लिए इतना दुःखदायक है तो वे मुस्लिम राजत्वकाल में सब के सब मुसलमान क्यों नहीं हो गये?

समाधान—इस के दो कारण थे। एक तो यह कि जात-पाँत की भावना स्वयं स्पृश्य और अस्पृश्य शूद्रों में भी गहरी घुस गई थी। दूसरे मुस्लिम राज्य में हिन्दुओं का सामाजिक जीवन स्वाधीन था। यद्यपि ब्राह्मण इन सब जातियों को अस्पृश्य और नीच समझता था, पर अछूत जातियाँ अपने को एक दूसरे से ऊँचा-नीचा समझती थीं। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह बात कि आप किसी से ऊपर हैं आपके लिए इस बात की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है कि आपके ऊपर भी कुछ लोग हैं। अछूतों में जाति-भेद के प्रचार ने ब्राह्मणों को बड़ा बल दिया है। इसने अछूतों को सब के सब मुसलमान हो जाने से रोके रक्खा है। मुस्लिम राज्य में हिन्दू सामाजिक रूप से स्वतंत्र थे। मुस्लिम शासक केवल शान्ति एवं व्यवस्था रखने और कर-संग्रह में दिलचस्पी रखते थे। जाति-पंचायतें और ब्राह्मण पण्डित ही पूर्ववत् समाज के लिये नियम बनाते थे। इस कारण हिन्दुओं के साम्प्रदायिक जीवन में बहुत कम गड़बड़ होती थी। फिर

भी मुसलमान हो जाने वाले शूद्रों और अछूतों की संख्या कुछ थोड़ी नहीं है।

शंका—आप कैसे कहते हैं कि पाकिस्तान बनने का मूलकारण हिन्दुओं का जाति-भेद है? पाकिस्तान बनाने का भाव उत्पन्न हुए तो अभी दस वर्ष भी नहीं हुए। जाति-भेद सहस्रों वर्ष का पुराना है। यह तो मुसलमानों के शासन-काल में भी खूब फैल रहा था। तब पाकिस्तान की माँग क्यों नहीं थी? जाति-भेद मुसलमानों में भी है। हिन्दुओं से अलग होने के लिए वे इस का बहाना कैसे बना सकते हैं?

समाधान—जाति-भेद की छिन्न भिन्न करने वाली शक्तियाँ प्रत्येक युग में अपना कुप्रभाव डालती रही हैं। मुस्लिम काल के पूर्व जाति-भेद ने हिन्दुओं की विभिन्न जातियों और उपजातियों को खान-पान और ब्याह-शादी की दृष्टि से एक दूसरे से उतना ही अलग कर रखा था जितना कि चिड़िया-घर के पशु-पक्षी एक दूसरे से अलग होते हैं। चमार-बाड़ा, भंगी बाड़ा, ब्राह्मण-टोला, बनिया-बाड़ा आदि अलग अलग मुहल्ले तक बन गये थे। जब तक बाहर के किसी प्रबल राष्ट्र ने भारत पर आक्रमण नहीं किया, हिन्दुओं को अपने समाज के बोदे-पन का अनुभव नहीं हो सका।

मुसलमानी शासन-काल में मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग वासभूमि बनाने की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता था। कारण यह कि उस समय उनका राज्य था। कोई हिन्दू उनका सामाजिक तिरस्कार नहीं कर सकता था। वे हिन्दुओं की बेटियाँ तक ले लेते थे।

बाहर से भारत में आने वाले मुसलमानों की संख्या तो बहुत थोड़ी थी। अधिकतर लोग हिन्दुओं से ही मुसलमान बनाए गये थे। इन बलात् पतित किए गए हिन्दुओं ने बहुतेरा चाहा कि उन्हें दुबारा

हिन्दू-समाज में ले लिया जाय। पर जाति-भेद के मूल में काम करने वाली अतिरिक्त पावित्र्य-भावना के कारण न तो हिन्दू उन बिछुड़ गये भाइयों को रोटी-बेटी-व्यवहार द्वारा अपने में पचाने को सम्मत हुए और न उन्होंने उन बेचारों को नीच और अपवित्र मान कर उन का तिरस्कार करना ही छोड़ा। उन नव-मुस्लिमों की संख्या जब तक थोड़ी थी वे इस अपमान को सहन करते रहे। पर जब उन की संख्या पर्याप्त रूप से बढ़ गई, और राजनीतिक जागृति के साथ साथ उन में आत्म-सम्मान का भाव भी अनिवार्य रूप से जाग्रत हुआ, तो उन्होंने उस अपमान के विरुद्ध रोष प्रकट करना आरम्भ किया। जाति-भेद के कारण हिन्दू घटते और मुसलमान बढ़ते रहे। मुसलमानों की संख्या-वृद्धि के साथ साथ उनमें हिन्दुओं के प्रति विद्वेष-भाव भी स्वभावतः बढ़ता गया। पहले तो वे केवल पृथक् प्रतिनिधित्व ही माँगते थे, धीरे धीरे बढ़कर उनका विद्वेष अलग वासभूमि या पाकिस्तान की माँग में परिणत हो गया। आजाद काश्मीर आन्दोलन के मुखिया सरदार मुहम्मद इब्राहीम खाँ चिब जाति के राजपूत हैं। ये लोग कभी हिन्दू थे। कुछ ही वर्ष हुए कोई एक लाख चिब राजपूतों ने काश्मीर-नरेश से प्रार्थना की थी कि उन्हें दुबारा हिन्दू बना लिया जाए। सुना है कि महाराज तो मान गये थे, पर हिन्दू राजपूत इन चिबों के साथ बेटी-व्यवहार करने को सम्मत न हुए। हिन्दू राजपूतों के इस इनकार से चिबों के मन पर कितनी गहरी चोट लगी होगी, इसका अनुमान करना कोई कठिन नहीं। यदि जाति-भेद न होता, तो भारत में न तो मुसलमानों की संख्या इतनी बढ़ती और न धर्मान्तर के साथ समाजान्तर की ही आवश्यकता होती।

• •

जब कोई मनुष्य कहता है कि मैं इस्लाम या ईसाई धर्म का प्रचार करने निकला हूँ तो लोगों को उस की बात समझ में आती है। परन्तु

जब कोई मनुष्य कहता है कि मैं लोगों को हिन्दू बनाने जा रहा हूँ तो लोग उसे पागल समझ कर हँसते हैं। कारण यह कि हिन्दू नाम की कोई चीज़ नहीं। यहां तो कोई जाट है, कोई कायस्थ है और कोई ब्राह्मण है। धर्म तो बदला जा सकता है परन्तु जाति नहीं। इसलिए किसी अजाट को जाट अथवा किसी अब्राह्मण को ब्राह्मण नहीं बनाया जा सकता। दूसरे शब्दों में जात-पाँत के रखते हुए, किसी को हिन्दू बनाने की बात कहना हास्यजनक है।

यह ठीक है कि हिन्दुओं से जो लोग मुसलमान बने हैं वे जाति-भेद से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सके, पर यह एक सचाई है कि हिन्दू जहाँ जाति-भेद को अपने धर्म का अंग समझता है वहाँ मुसलमान उसे एक बुराई कहता है। मुसलमान यदि अपनी बिरादरी से बाहर विवाह करता है तो हिन्दुओं की भाँति उसे जाति से बाहर नहीं निकाल दिया जाता।

यह बात ठीक है कि यूनान, मिस्र और जापान आदि कुछ प्राचीन देशों में किसी न किसी प्रकार का जाति-भेद वर्तमान था। पर यह भी सचाई है कि वे देश तब तक संगठित एवं शक्तिशाली-राष्ट्र नहीं बन सके जब तक कि उन्होंने जाति-भेद का समूल नाश नहीं कर दिया।

देश के विभाजन के लिए श्री० जिन्ना और मुसलमानों को गाली देने से कुछ लाभ नहीं। लाभ हो सकता है तो जाति-भेद के रोग को मिटाने से ही हो सकता है।